प्रकाशक—
इन्द्रचन्द्र नारंग
हिन्दी-भवन
३१२ रानी मंडी
इलाहाबाद ३

पहला संस्करण
१९५६
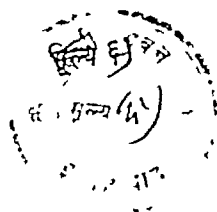
मुद्रक—
इन्द्रचन्द्र नारंग
कमल मुद्रणालय
३१२ रानी मंडी
इलाहाबाद

उपन्यासकार

विशेष अध्ययन

काव्यकार प्रसाद

(डा० इन्द्रनाथ मदान)

श्री जयशंकर 'प्रसाद' संक्रांति काल के कवि थे। संक्रांति काल के कवि को कार्य करने में विशेष कठिनाई होती है, क्योंकि उसे एक ओर तो प्राचीनता की प्रतिष्ठा से संयत विद्रोह करना पड़ता है और दूसरी ओर नवीनता का नियन्त्रित रूप अपनाना पड़ता है। ये दोनों कार्य बड़े कठिन हैं। इसीलिए संक्रांति काल के कवि को साधारण कवि से अधिक परिश्रम और साधना करनी पड़ती है। साधारण कवि तो केवल पिछली चली आती परंपरा का पालन मात्र करते रहते हैं, उन्हें न विरोध की चिन्ता होती है न अपने ऊपर अन्य किसी प्रकार के खतरे की आशंका होती है। परम्परा का राजमार्ग उनके लिए खुला रहता है और वे निर्द्वन्द्व उस राजमार्ग पर बढ़े चले जाते हैं। इसके विपरीत संक्रांति काल के कवि का मार्ग कंटकाकीर्ण होता है, ऊबड़-खाबड़ होता है और उसे पग-पग पर गिरने का भय बना रहता है। उसकी स्थिति बड़ी नाजुक होती है। ऐसी स्थिति में उसे बड़े कौशल से काम लेना पड़ता है। वह अपनी ही प्रतिभा के प्रकाश में मार्ग की बाधाओं की तमराशि को दूर करता है और उसे प्रशस्त करता चलता है। उसके लिए कोई प्राचीन आदर्श नहीं होता। वह युग निर्माता होता है, अतः उसे स्वयं ही सब कुछ करना पड़ता है। प्रसाद ऐसे ही कवि थे। उनके समय में हिंदी साहित्य में विचित्र उथल-पुथल थी। भारतेन्दु युग का अन्त हो चुका था और द्विवेदी-युग का आरम्भ होने वाला था। इस युग-परिवर्तन के काल में काव्य के उपकरणों को बदलने की चेष्टा अधिक हो रही थी। भाषा, भाव, छंद आदि की प्राचीन प्रणाली को छोड़ने और उसकी नवीन रूप में स्थापना करने की ओर लोगों का विशेष ध्यान था। सब से अधिक विवादास्पद प्रश्न काव्य-भाषा का था।

भारतेन्दु ने खड़ी बोली को तो अपना लिया था परन्तु ब्रजभाषा को भी न छोड़ा था। उन्होंने ब्रजभाषा को अपनाया ही नहीं उसको नवयुग के अनुकूल भावों और विचारों का 'टानिक' भी दिया और कहा कि गद्य के लिए खड़ी बोली भले ही अपना ली जाय, पद्य के लिए ब्रजभाषा ही उपयुक्त है। यही विचार भारतेन्दु-युग में प्रधान रहा और द्विवेदी युग के प्रारम्भ तक भी यही भावना रही। द्विवेदी-युग क्या, आज भी छायावाद और प्रगतिवाद युग तक ब्रजभाषा को ही काव्य के उपयुक्त भाषा मानने वालों की कमी नहीं है, और आज भी अनेक व्यक्ति ऐसे मिल सकते हैं, जो खड़ी बोली की कविता को कविता ही नहीं मानते। उस काल की तो बात ही और है। ब्रजभाषा के एकच्छत्र साम्राज्य की जड़ों को हिलाने के लिए द्विवेदी जी ने पद्य और गद्य की भाषा की एकता पर जोर दिया। अंग्रेजी में कवि वर्ड्सवर्थ ने भी ऐसा ही किया था। हिंदी में इस आन्दोलन का प्रभाव बढ़ा और खड़ी बोली को अपनाया जाने लगा। लेकिन ब्रजभाषा को छोड़ना अत्यन्त कठिन था इसलिए उसका प्रभाव बराबर बना रहा। ब्रजभाषा का प्रभुत्व कम होने का एक कारण यह भी था कि उसमें शृंगार रस की रचनाएँ होती थीं। ये रचनाएँ उसी कोटि की थीं, जैसा कि बिहारी, पद्माकर आदि की होती थीं। उनमें समस्या-पूर्तियों का मूल्य अधिक था। शृंगार रस और समस्या-पूर्ति की प्रथा से ब्रजभाषा ने अपने पतन का मार्ग स्वयं बनाया था। इतिहासकारों ने इस बात को भुला-सा दिया है कि यदि ब्रजभाषा में भारतेंदु द्वारा प्रचारित नव-युग की भावना के अनुकूल नवीन विषय और भावों को अपनाया जाता और समस्या-पूर्ति में शृंगार रस की प्यालियाँ न पिलाई जातीं तो निस्सदेह द्विवेदी जी को खड़ी बोली को जमाने में लोहे के चने चबाने पड़ते। द्विवेदी जी को खड़ी बोली को जमाने में सब से बड़ी सहायता इस बात से मिली कि उन्होंने शृंगार के विरोध में लोगों को खड़ा कर दिया। उस युग में राष्ट्रीयता और सामाजिकता के पुनर्जीवन का प्रश्न भी था।

भी आवाहन कर सका। प्रसाद ऐसे महान् कवि थे।

प्रसाद का जन्म काशी के एक प्रतिष्ठित वैश्य परिवार में सन् १८८६ में हुआ। उनके पितामह बाबू शिवरत्न साहू जी बड़े उदार और धर्मात्मा पुरुष थे। वे सुँघनी साहू के नाम से विख्यात थे। उन्होंने पान में खाने वाली सुर्ती गोली का आविष्कार किया था, जो काशी की अनोखी चीज है। वे कवि, भाट और विद्वानों के भक्त थे और उनका बड़ा सम्मान करते थे। लोग उनके बड़प्पन के कारण उनको महादेव कह कर पुकारा करते थे। पिता श्री देवीप्रसाद जी भी ऐसे ही दानी और विनम्र व्यक्ति थे। विद्वानों और गुणियों का जमघट उनके यहाँ भी बराबर लगा रहता था। प्रसाद को ऐसे परिवार में जन्म लेने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

ग्यारह वर्ष की अवस्था में उन्हें अपनी माता जी के साथ धारा क्षेत्र, ओंकारेश्वर, पुष्कर, उज्जैन, जयपुर, व्रज और अयोध्या आदि की यात्रा करने का अवसर मिला। अमरकंटक पर्वत माला के बीच नर्मदा में चाँदनी रात में उन्होंने नौका-विहार किया था। उस प्राकृतिक दृश्य का उनके हृदय पर बड़ा अद्भुत प्रभाव पड़ा और कविता में प्रकृति की सौंदर्य-राशि एक कौतूहल का सृजन करने के लिए सदैव के लिए उनकी आत्मा में समा गई। पीछे उन्होंने पुरी, महोदधि और भुवनेश्वर की भी यात्रा की थी। इस यात्रा में वे समुद्र की विशालता और गंभीरता के परिचय में आए और अमरकंटक की यात्रा में पार्वतीय दृढ़ता और उच्चता के संपर्क में। उनकी कविता में प्रकृति की इन विराट् शक्तियों से प्रेरित भावनाओं के फल-स्वरूप गंभीरता और विशालता दोनों मिलती हैं। 'कामायनी' में समुद्र का जो वर्णन है; वह पुरी के समुद्र-दर्शन के प्रभाव में ही लिखा गया है। प्रसाद ने जो कुछ लिखा घर ही बैठ कर लिखा है, वे भ्रमण बहुत कम कर सके। लेकिन वे कल्पना के धनी थे और उससे अपनी इस कमी को दूर करने में उन्हें कठिनाई नहीं हुई।

बारह वर्ष की अवस्था में पिता और पन्द्रह वर्ष की अवस्था में

माता का देहान्त हो जाने से प्रसाद की स्कूली शिक्षा कुछ भी नहीं हो पाई। केवल सातवें दर्जे तक क्वींस कालेज में पढ़े। लेकिन उन्होने घर पर संस्कृत और अंग्रेजी का अच्छा अध्ययन किया था। इसलिए उनकी वह कमी दूर हो गई। दीनबन्धु ब्रह्मचारी संस्कृत के धुरंधर विद्वान थे। उन से वेद और उपनिषद का ठोस ज्ञान प्राप्त करने के कारण प्रसाद का जीवन दर्शनमय हो गया था और यही उनके भारतीय संस्कृति के प्रेमी होने के कारण है।

प्रसाद को दंड बैठक करने का बड़ा शौक था और कहते हैं कि वे हजार दंड-बैठक लगाते थे। कुश्ती भी शायद कभी-कभी लड़ते थे। साथ ही घर पर समस्या-पूर्ति का बाजार गर्म रहता था। बड़े-बड़े कवि आते थे और आधी-आधी रात तक कवित्तों की झड़ी लगी रहती थी। प्रसाद ने भी छिप-छिप कर समस्या पूर्ति करना आरंभ किया था। इसे देख कर बड़े भाई ने पहले तो उन्हें रोकने की चेष्टा की परन्तु जब कवियों ने प्रशंसा की तो उन्हे लिखने की आज्ञा मिली। सत्रह वर्ष की अवस्था में बड़े भाई भी चल बसे और प्रसाद जी अकेले रह गए। इतनी बड़ी संपत्ति और अकेले लड़के। कुटुम्बियों ने उन्हे परेशान किया, परन्तु वे घबराये नहीं और बराबर संघर्ष करते आगे बढ़ते गए। इसी बीच स्वयं एक नहीं, दो नहीं, तीन-तीन शादियाँ उन्होंने कीं। कौटुम्बिक षड्यन्त्रों और विशेष रूप से ऋण के कारण प्रसाद सदैव चिंतित रहा करते थे पर मुख-मुद्रा कभी मलिन नहीं होती थी।

सामाजिक ही नहीं साहित्यिक जीवन में भी उन्हें कठिनाई थी। 'सरस्वती' द्वारा उन्हे बिलकुल प्रोत्साहन नहीं मिलता था। इसलिए उन्होंने अपने भानजे द्वारा 'इन्दु' मासिक पत्र निकलवाया था, जिसमें उनकी रचनाएँ बराबर निकला करती थीं। उस पत्र को वे आर्थिक सहायता भी देते थे। उनकी सबसे पहली कहानी 'ग्राम' इसी पत्र में छपी थी।

प्रसाद अपने व्यवसाय के भी पूर्ण ज्ञाता थे। पर उधर उनकी

रुचि न थी। वे तो प्रातःकाल से सायंकाल तक साहित्य चर्चा में व्यस्त रहते थे। वे बड़े गंभीर और शांत प्रकृति के थे। कभी किसी कवि-सम्मेलन या सभा-सोसायटी मे नहीं जाते थे। शायद ही उन्होंने किसी कवि-सम्मेलन में कविता पढ़ी हो। वे ऐसे स्वभाव के थे कि कटु से कटु आलोचक को भी कभी उत्तर नहीं देते थे। वे निरन्तर साहित्य-साधन में रत रहते थे और दल-बन्दी से दूर रहा करते थे। उनकी छोटी सी मित्र-मण्डली थी। उसी में वे हँसते और खुल कर बात करते थे। उन्हें पुष्प अधिक प्रिय थे, इसलिए उन्होंने अपने घर में बगीचा भी लगाया था और वे उसके गुलाब, जूही, बेला, रजनी-गंधा आदि के फूलों को देख कर मुग्ध हो जाया करते थे। पारिजात के वृक्ष के नीचे पत्थर की चौकी पर बैठ कर अपनी रचनाएँ सुनाते थे। शतरंज का उन्हें बहुत शौक था। कभी कभी सिनेमा भी देखते थे। वैसे वे सात्विक वृत्ति के पुरुष थे। शिवजी के उपासक थे। मांस-मदिरा से सदैव दूर रहते थे। स्वाभिमानी और विनम्र थे। अध्ययनशीलता उनकी गजब की थी। वे नियमित रूप से ५-६ घंटे पौराणिक और ऐतिहासिक पुस्तकें पढ़ा करते थे। युग की समस्याओं को वे बड़ी गहराई से सुलझाने की सोचते रहते थे। उनकी मृत्यु राज-यक्ष्मा से सन् १९३७ में ४८ वर्ष की अवस्था मे हुई।

प्रसाद के जीवन को देखने से यह जान पड़ता है कि वे मूक साधक थे और भारतीय संस्कृति के उद्धार के लिए सजग कलाकार की भाँति प्रयत्नशील थे। बाहरी प्रभाव से दूर रह कर भारतीयता की नवीनतम व्याख्या देने के लिए उन्होंने अपने नाटकों का आश्रय लिया। उन्होंने अपने नाटकों में भारतीय संस्कृति के उन दिनों का चित्रण किया, जब वह अपने पूर्ण विकास पर थी—अर्थात् गुप्त वंश और उनके कुछ आगे पीछे का काल लिया। साथ ही सामाजिक समस्याओं को सुलझाने के लिए उन्होंने उपन्यासों का सहारा लिया। वर्तमान जीवन की विकृति उनके उपन्यासों में भली भाँति चित्रित की गई है। आन्तरिक भावनाओं

ओर रुचि है वहाँ दूसरे में आधुनिकता के कारण देश-भक्ति की ओर रुचि है। तीसरे खंड में 'ब्रह्मर्षि' और 'पंचायत' शीर्षक पौराणिक कथाएँ और 'प्रकृति सौंदर्य', 'सरोज' तथा 'भक्ति' पर निबन्ध हैं। चौथा खंड 'पराग' नाम का है जिसमें प्रकृति को आलंबन मान कर कवि ने सुन्दर रचनाएँ की हैं और कहीं-कहीं उनमें मानवीय भावों का आरोप भी है। अंतिम खण्ड में 'मकरन्दबिन्दु' शीर्षक कविता और पदों का संग्रह है। यों पाँच खण्डों में यह पुस्तक समाप्त हुई है। महत्त्व इसका इतना ही है कि यह प्रसाद के प्रारम्भिक विकास को बड़ी स्पष्टता से सामने रखती है। रचनाएं अनिश्चित प्रणाली पर हैं और उस समय के लगभग सभी प्रकारों को अपनाती हैं। लेकिन ये किशोर जीवन की कविताएँ होते हुए भी जीवन की प्रत्येक दशा में कवि की तीव्र अनुभूति को व्यक्त करती हैं। भाषा इनकी ब्रज और खड़ी बोली मिली है और वैसी है जैसी श्रीधर पाठक ने अपने अनुवादित ग्रंथों में रखी थी।

'कानन कुसुम' में सन् १९१९ के पहले की रचनाएँ हैं। इसमें कवि ने 'रंगीन और सादे', 'सुगंधवाले और निर्गन्ध', 'मकरन्द से भरे हुए और पराग से लिपटे हुए' सभी प्रकार के 'कुसुम' संग्रह कर के रखे हैं। कविताएँ बाह्य विषय-परक होते हुए भी कवि की करुणा और आन्तरिक कोमलता से भरी हुई हैं। इसमें प्रेम और प्रकृति पर कवि के उद्‌गारों का प्रकाशन अत्यन्त सुन्दर ढंग से हुआ है। मस्ती के साथ कवि के जीवन में विषाद का हलका-सा आभास मिल जाता है। लेकिन वह अपने पथ के लिए दृढ़-निश्चय हो रहा है और प्रिय मिलन में दुनिया की चिंता नहीं करता। ये रचनाएँ विविध प्रकार के भाव कुसुमों का सुन्दर गुलदस्ता हैं।

'करुणालय' भावनाट्य है। इसे उन्होंने तुकान्तहीन मात्रिक छंद में लिखा है, जिसमें वाक्य पूरा होने पर विराम दे दिया जाता है। यह हिन्दी का पहला भाव-नाट्य है। इसमें गीतात्मकता के साथ नाटकीय प्रभाव को सुरक्षित रखा गया है। इसमें धर्म के नाम पर होने वाले

भावनाएँ नवीन होती हुई भी कभी कभी अभिव्यंजना प्रणाली में आलं-कारिकता आ जाती है। कल्पना के नवोन्मेष के होते हुए भी उसे अतीत की ओर झाँकना पड़ जाता है। लेकिन यह स्पष्ट है कि कवि की दृष्टि और उसका प्रयत्न एक नई सृष्टि की ओर है। यह 'झरना' में आ कर पूरा होता है। 'झरना' में सन् १६१६ से ले कर सन् १६१६ तक की रचनाएँ हैं। इसमें श्रेष्ठ और साधारण दोनों प्रकार की रचनाएँ हैं। इसका कारण यह है कि कवि ने इसे यौवन काल में लिखा है, जिस समय उसका मन स्थिर नहीं होता। यौवन में उठने वाली विभिन्न प्रकार की भावनाएँ व्यक्ति के मानस को मथ डालती हैं। उस समय संयम और असंयम का युद्ध होता है, वासनाएँ मन में आती हैं और कवि उनसे ऊपर उठना चाहता है, लेकिन उसका मन बराबर चंचल बना रहता है। इतना होते हुए भी कवि में आत्म-प्रकाशन की इच्छा बड़ी तीव्र है। इस आत्म प्रकाशन के लिए उसने अपनी भावना को उन्मुक्त हो कर उड़ने दिया है। वह प्रकृति के प्रांगण में विहार करती रही है और मानवीय भावनाओं को वाणी देती रही है। हिन्दी में छायावाद का आरंभ इसी कृति से माना जाता है। इसमें भाषा का आडम्बर नहीं है, केवल भाव-प्रकाशन पर अधिक बल दिया है और वह भी सूक्ष्म पर, स्थूल पर नहीं। किरण, बिखरा हुआ प्रेम, विषाद, बालू की वेला, आदि कविताएँ शुद्ध काव्य की दृष्टि से हिन्दी साहित्य की प्रथम श्रेणी की रचनाओं में स्थान पा सकती हैं। 'किरण' को कवि ने नववधू के रूप में चित्रित किया है और उसे अलंकारमयी भाषा में प्रकट किया है; लेकिन वह अपने में इतनी पूर्ण रचना है कि स्वयं उसका सौंदर्य उसके भीतर नहीं समा पाता। कवि को किरण किसी के अनुराग में रंगी दिखाई देती है। वह धरा पर झुकी प्रार्थना के सदृश और मधुर मुरली की भाँति मौन ही नहीं है, अज्ञात विश्व की विकल वेदना दूती के समान भी है और स्वर्ग के सूत्र के समान स्वर्ग लोक और भूलोक को मिलाती है। 'विषाद' कवि की प्रतीकवादी रचना है, जिसमें शून्यता, शुष्कता, आँसू,

बेचैनी को व्यक्त करते हुए विषाद का चित्र खींचा है। कवि को विषाद प्रकृति के करुण काव्य के समान वृक्ष-पत्र की मधु छाया में अमृतमयी नश्वर काया में लिपटा हुआ अचल पड़ा दिखाई देता है और कवि चाहता है कोई उसे छेड़े नहीं। कवि ने इस रचना मे अपने ही हृदय की झलक दी है। ['झरना' के संबंध में एक आलोचक ने लिखा है कि 'झरना' स्पष्टतः कवि के आरम्भिक यौवन काल की रचना है, जब निराशा में भी एक आशा और मन में भी पीड़ा का एक तीव्र मादक आनन्द है। यहाँ यौवन आँखों के पानी से आशा की क्यारियाँ सींचता है कि कभी प्रेम की मालती जीवन कुंज पर खिलेगी। यहाँ पीड़ा में यौवन का स्वर है। कवि के हृदय में एक ज्वाला है, पर वह उसे कहाँ ले जायगी, इसका ठीक निश्चय वह नहीं कर पाया। निस्सन्देह 'झरना' अभिव्यक्ति की निराली छटा और सूक्ष्म भावनाओं के विविध रूप तथा आशा-निराशा, हर्ष शोक, आसक्ति-विरक्ति का ऐसा स्वरूप है कि कहा नहीं जा सकता है कि कवि का भविष्य क्या होगा? हाँ इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अब वह अनुभूति की गहराई में उतर गया है और आगे की कृति अवश्य शुद्ध अनुभूतिमय होगी, जिसमें उसकी कला भी किसी विशेष दिशा की ओर मुड़ेगी।]

'आँसू' में आ कर अनुभूति की तीव्रता, जिसका संकेत मात्र 'झरना' में था, कवि के काव्य में नई उद्भावनाओं के साथ मिलती है। इस काव्य की सब से बड़ी विशेषता उसके आत्म-परक होने में है। शुद्ध विप्रलंभ का यह अकेला काव्य है, जिसमें आँसू के माध्यम से कवि ने अपनी वेदना को प्रकट किया है। इसमें 'प्रेम-पथिक' की आदर्शमयी प्रेम-व्याख्या नहीं है—यहाँ बड़ी गहरी भावना है। 'झरना' में कवि ने प्रेमी के जिस अपांग की धारा—कटाक्ष के प्रहार से अभिभूत हो कर दृगजल के बहाने की बात कह कर प्रणय-वन्या का प्रसार किया था और अपने को पूर्ण रूप से उसमें डुबो दिया था; वही स्मृति कवि को 'आँसू' लिखने के लिए प्रेरित कर गई है। 'आँसू' के संबंध में एक बात

ओर है। यह कवि ने विवश हो कर लिखा है। विवश होने का अर्थ है कि कवि चाहता नहीं था परन्तु फिर भी उसे लिखना पड़ा है। जो व्यथा प्रेमी की ओर से विरह के रूप में उसे मिली थी और जो दुःख गत वैभव के भग्नावशेष के लिए उसे था वही व्यथा—वही दुःख—'आँसू' में उमड़ पड़ा है। वह स्वतः उमड़ा है, कवि को उसके लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ा। प्रसाद जी की इस कृति ने हिंदी कविता में युगान्तर उपस्थित कर दिया। एक साहित्य-मर्मज्ञ ने इसके छन्द का नाम ही 'आँसू' छन्द रख दिया। इसका अनुकरण भी उस काल में बहुत हुआ लेकिन कोई प्रसाद की ऊँचाई को न छू सका। इसमें प्रसाद ने मानवीय जीवन की वेदना को आह और आँसुओं में बाँध दिया है। यहाँ एक बात का ध्यान रखने की आवश्यकता है और वह यह है कि यह आध्यात्मिक या रहस्यवादी कविता नहीं है। जो लोग ऐसा कहते हैं वे दूसरों को ही भ्रम में नहीं डालते स्वयं भी भ्रम में रहते हैं। कहीं कहीं प्रसाद ने अपने प्रेमी का विराट रूप में प्राकृतिक उपकरणों के साथ जो चित्रण किया है उसे ले कर कोई इसे रहस्यवादी काव्य कहे तो यह उसके भ्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह प्रसाद के लौकिक प्रेम-व्यापार का वियोगात्मक व्याख्यान है, जिसे कवि ने कला के आवरण में बड़ी कुशलता से सजा कर रख दिया है। प्रसाद ने स्पष्ट ही अपने जीवन के चढ़ते दिनों में हाड़-मास की मूर्ति से प्रेम किया था, जिसके वियोग की व्यथा से उनके हृदय का करुण क्रंदन 'आँसू' में साकार हो गया है। कवि ने निःसंकोच भाव से विलास-जीवन का वैभव दिखा कर उसके अभाव में आँसू बहाए हैं और अंत में जीवन की वास्तविकता से समझौता कर लिया है। यही 'आँसू' की मूल भावना है। कवि के जीवन में शिशु मुख पर घूँघट डाले और अंचल में दीप छिपाये कोई कौतूहल सा आया था। उसके सौंदर्य पर कवि मस्त हो गया था। उसने परिरंभ कुम्भ की मदिरा पान की थी, निश्वास मलय के झोंके खाये थे और मुख चन्द्र की चाँदनी के जल से मुख धो कर प्रातःकाल

नेत्रोन्मीलन किया था। वह कवि के जीवन में मादकता की भाँति आया था और संज्ञा (चेतना, होश) की भाँति चला गया। उसी के लिए कवि को इतनी पीड़ा है कि वह अपने को रोक नहीं पाता और उसके हृदय के आकाश में नक्षत्रों की भाँति स्मृतियों की बस्ती बस गई है। लेकिन कवि इन आँसुओं को व्यापकता प्रदान करता है और वह चाहता है कि उसके व्यक्तिगत आँसू विश्व को भी सरस कर दें और उसके हृदय की ज्वाला विश्व को प्रकाश दे दे।

इस प्रकार 'आँसू' एक ऐसा स्मृति-काव्य है, जिसमें विरह व्यक्ति के हृदय को छूने की ओर उन्मुख है। भौतिक सौंदर्य की ओर उसका खिंचाव है और उसके पश्चात् उसमें निराशा के कारण जो तीव्रता आ गई है वह तीव्रता पीछे चल कर कहीं-कहीं आध्यात्मिक संकेत भी पा गई है। परन्तु उसमें सांसारिकता ही प्रमुख है, जैसा कि हम देख चुके हैं। 'आँसू' में प्रकट होता है कि प्रसाद मूलतः प्रेम-रहस्य के कवि हैं और मानवीय भावनाओं को ही चित्रित करते हैं। प्रकृति भी उसके साथ चित्रित होती है तो केवल उन मानवीय भावनाओं की सफल अभिव्यक्ति के लिए ही होती है। प्रसाद की भौतिकता भी अलौकिकता से अधिक सुन्दर है क्योंकि उसमें संकीर्णता या अश्लीलता का समावेश नहीं है। श्री नंददुलारे वाजपेयी ने 'आँसू' के सम्बन्ध में जो लिखा है, वह वस्तुतः समर्थनीय और अभिनन्दनीय है। उन्होंने लिखा है—"'आँसू' में प्रसाद जी ने यह निश्चित रूप से प्रकट कर दिया है कि मानुषीय विरह-मिलन के इंगितों पर वे विराट् प्रकृति को भी साज सजा कर नाच नचा सकते हैं। यह शेष प्रकृति पर मनुष्यता के विजय का शंखनाद है। कवि जयशंकर प्रसाद का प्रकर्ष यहीं पर है। यहीं प्रसाद जी प्रसाद जी हैं। 'आँसू' में वे वे हैं।"

'लहर' में आ कर 'आँसू' की करुणा आशा के संदेश से मुखर है। कवि प्रेम का प्रतिदान न पा कर 'आँसू' में संयत हो कर चीखा है। उसका और भी भव्य रूप 'लहर' में है। इसमें उसकी निराशा और

वेदना निखर आई है और कवि अधिक कोमल तथा भावुक हो कर जीवन को स्पर्श करता है। इसमें 'प्रेमपथिक' या 'आँसू' की एकता नहीं है वरन् इसमें मुक्तक रचनाएँ हैं, अतएव अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी दोनों प्रकार की रचनाएँ इसमें संग्रहीत हैं। कवि आत्म चिंतक भी हो गया है और विद्रोही भी। 'अशोक की चिंता', 'शेरसिंह का शस्त्र-समर्पण', 'पेशोला की प्रतिध्वनि' और 'प्रलय की छाया' तथा 'अरी वरुणा की शांत कछार,' आदि कविताएँ उसके विद्रोही स्वभाव की सूचना देती हैं, जो मुक्त छंद में होने के कारण प्रवाह-पूर्ण तो हैं ही, साथ ही विषय की दृष्टि से अतीत इतिहास के उज्ज्वल वर्णों को भी समेटे हुए हैं। इतिहास के इन प्रस्तर खंडों से खेलने के साथ ही कवि का प्रेम भी स्वर्गीय हो उठा है। अपने गीतों में उसने आत्मा का संगीत भर कर प्रेम की नयी योजना प्रस्तुत की है। आज उसके प्रेम के आलंबन में भी विशदता आ गई है और वह अज्ञात के प्रति कुछ-कुछ उन्मुख हो गया है। उसने इसमें अतीत को आग्रह-पूर्वक चित्रित किया है। 'उस दिन जीवन के पथ में' जो प्रेमी मिला था और यौवन में उसके जीवन में जिस सुन्दर का आगमन हुआ था और जिसकी स्मृति में वह 'आँसू' की माला गूँथ चुका था उस की स्मृति आज भी गई नहीं है और वह उसकी आँखों के बचपन को अब भी नहीं भूलता। परन्तु इसमें उसे प्रकाश का भी पथ मिलता है और वह जीवन में नए प्रभात को जगाता है और विषाद और वेदना से आनन्द और सुख की ओर बढ़ता है। इसके लिए वह संघर्ष से दूर ऐसे लोक में जाना चाहता है, जहाँ शांति मिल सके। अपने नाविक से वह याचना करता है कि उसे भुलावा दे कर वह उस लोक में ले चले। यद्यपि वह धीरे से पुकार उठता है कि 'मुझको न मिला रे कभी प्यार' तथापि वह जीवनदायी प्रेम को नहीं छोड़ना चाहता; प्रत्युत वह तो चाहता है कि वह उसके जीवन और विश्व के कण में व्याप्त हो जाय।

इस प्रकार 'लहर' में प्रसाद के संगीत और कल्पना का सम्मि-

के गांभीर्य और अभिव्यंजना की सांकेतिकता से उसमें एक नया ही सौंदर्य आ गया है।

८— 'कामायनी' में मानव जाति का ऐतिहासिक विकास और आध्यात्मिक भावना का समन्वय है। इसको चित्तवृत्तियों का महाकाव्य कहा गया है। सर्गों का विभाजन जिन वृत्तियों के नाम पर हुआ है उनके रूप को खड़ा करने में कवि ने कमाल कर दिया है। मनोविज्ञान को काव्य का रूप देने का यह पहला प्रयत्न है। चिन्ता आशा, श्रद्धा, लज्जा, आदि के चित्र ज्यों के त्यों बन जाते हैं। पूरी 'कामायनी' में जीवन की आवश्यक वृत्तियो का क्रमिक विकास दिखाया गया है। इसमें कुल चार पात्र हैं—मनु, श्रद्धा, इड़ा और मानव। इन चारों पात्रों को ही ले कर प्रसाद ने मानव जीवन का आंतरिक पहलू अपने काव्य में अमर कर दिया है।

'कामायनी' में मनु का पहले श्रद्धा (हृदय) और बाद में इड़ा (बुद्धि) से सम्पर्क करा के कवि ने उसे अन्त में श्रद्धा द्वारा ही आनन्द की प्राप्ति कराई है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि श्रद्धा इड़ा की अपेक्षा अधिक महत्त्व की वस्तु है। इसे ले कर आचार्य शुक्ल ने आपत्ति की है और श्रद्धा के इड़ा के प्रति कहे गए 'सिर चढ़ी रही पाया न हृदय' के कथन को बदल कर श्रद्धा के प्रति 'रस पगी रही, पाई न बुद्धि' के कथन की संभावना प्रकट की है। लेकिन ऐसा अनुचित है। प्रसाद समरसता के प्रचारक थे। वे अति नहीं चाहते थे। अंध-पंगु-न्याय की भाँति बुद्धि और हृदय का समन्वय उनका लक्ष्य था। फिर श्रद्धा ने अपने पुत्र मानव को ही जब इड़ा को सौंप दिया तब शुक्ल का यह समझना कि प्रसाद इड़ा के प्रति घृणा और श्रद्धा के प्रति प्रेम प्रकट करते हैं, कहाँ तक ठीक है, इसे हम पाठकों के निर्णय पर छोड़ते हैं।

प्रसाद ने 'कामायनी' में 'संघर्ष' सर्ग द्वारा वैज्ञानिक आविष्कारों के दुरुपयोग का चित्रण किया है और श्रद्धा द्वारा तकली भी कतवाई है। यन्त्रों की भीषणता और तकली की कोमलता में मानो वर्तमान जीवन

की विभीषिका और गांधीवादी समाधान की भी झलक है। श्रद्धा पशुहत्या को बुरा समझती है और बलि पर रुष्ट होती है, यह भी मानो गांधीवाद की ही छाया है। यों प्रसाद ने दोनों को अपने काव्य में स्थान दिया है और युग की समस्याओं को अपने काव्य का विषय बना कर प्रगतिशीलता का परिचय दिया है।

'कामायनी' में एक और बड़ी विशेषता उसके प्रकृति-वर्णन की है। प्रलय काल के समुद्र और उसकी लहरों की भीषणता का जैसा वर्णन प्रसाद ने किया है वह आज तक किसी कवि ने नहीं किया। वैसे पहाड़, नदी, संध्या, प्रभात, रात्रि आदि प्रकृति के सुन्दर चित्रों की भी कमी नहीं है; परन्तु यह प्रकृति-वर्णन अत्यन्त सुन्दर है। इसके अतिरिक्त बाह्य दृश्य-चित्रण और मनु, श्रद्धा तथा इड़ा के रूप-चित्रण में कवि ने व्यक्तित्व के अनुकूल ही अपनी तूलिका चलाई है। 'कामायनी' अंतर्वृत्तिप्रधान काव्य होते हुए भी बाह्य रूप से विमुख नहीं है। वस्तुतः वह भोग-योग, आसक्ति-विरक्ति, संग्रह-त्याग का संतुलित चित्र है, जो मानव-जीवन के लिए आवश्यक है। प्रकृति सहचरी हो कर चित्र में सजीवता और प्रफुल्लता भरती रही है और कवि का दार्शनिक चिन्तन उसकी भावुकता में गंभीरता दे कर काव्य को युग-युग के लिए अमर कर सका है। यों तो महाकाव्यों में सदैव जीवन का ही चित्र रहता है परन्तु ऐसा पूर्ण चित्र हिंदी साहित्य में दूसरा नहीं। यह युग की नहीं युग युग की चीज है।

'कामायनी' की धारणा बड़ी ऊँची है और उसकी कथा का विधान भी पेचीदा है, इसलिए साधारण पाठक के लिए उसका समझना अत्यत कठिन हो जाता है। लेकिन यदि हम उसकी गहराई को छूने का प्रयत्न करें तो हम प्रसाद की आत्मा को अवश्य समझ लेंगे। 'कामायनी' में प्रसाद ने नारी की श्रद्धा के रूप में प्रतिष्ठा कर पुरुष को भटकाया और अंत में उसी को समर्पण करा कर उसकी श्रेष्ठता सिद्ध की है। इसी तत्त्व को ग्रहण करने और बुद्धि और हृदय के

सामंजस्य द्वारा मानव जीवन के रहस्य को समझने के बाद जीवन में आनन्द के लिए और किसी साधन की आवश्यकता नहीं रहती। यह मूल भावना 'कामायनी' की आध्यात्मिक प्रेरणा से भी ऊपर है और यही उसके कवि की विजय है, अन्यथा वह रससिद्ध कवि न हो कर शुष्क दार्शनिक हो जाता।

सारांश यह है कि आरम्भ से ले कर अन्त तक कवि मानव हृदय की अन्यतम भावना प्रेम का चित्रकार रहा है। 'चित्राधार' से ले कर 'प्रेम-पथिक', 'झरना' से ले कर 'आँसू' और 'लहर' से ले कर 'कामायनी' तक प्रसाद में प्रेम-तत्त्व की प्रधानता है। प्रकृति भी उसमें युग की काव्य-शैली के अनुरूप आई है और उसे कवि ने अधिकाधिक स्थान दिया है परन्तु वह मानव-सापेक्ष है, स्वतन्त्र रूप से उसका कोई महत्त्व नहीं है। यों 'कामायनी', 'लहर', 'झरना' आदि में स्वतंत्र प्रकृति के चित्र भी सुन्दर हैं और उनकी सख्या भी कम नहीं है; परन्तु सामूहिक रूप से प्रेम पहले आता है प्रकृति बाद में। रूप-विलास और यौवन के रंगीन चित्र देने में प्रसाद बेजोड़ हैं। साथ ही उनकी भावना की ऊँचाई भी द्रष्टव्य है। 'आँसू' जैसा आत्म-परक और 'कामायनी' जैसा विश्व-परक काव्य उनकी मानसिक पृष्ठ-भूमि की उच्चता को ही व्यक्त करते हैं। कहीं-कहीं यह ऊँचाई ही परोक्ष सत्ता के प्रति कवि के प्रेम और जिज्ञासा को प्रकट करती है, जिसे लोग रहस्यवाद कह उठते हैं। हम तो कवि को एक मात्र मानवीय जीवन का कवि मानते हैं और छायावाद में इसी कवि ने जीवन की ऐसी सर्वाङ्ग पूर्ण व्याख्या 'कामायनी' द्वारा की है, जो भारतीयता के साथ विश्व-जनीनता की भी द्योतक है। कवि प्रसाद हिन्दी के गौरव हैं और आधुनिक कवियो में उनका स्थान सर्वश्रेष्ठ है।

'आँसू' समीक्षा

(विनयमोहन शर्मा)

प्रसाद हिन्दी के भावुक कवि और कुशल कलाकार हैं। इसे कोई यदि उनकी एक ही रचना में देखना चाहे, तो उसे 'आँसू' की ओर ही इंगित किया जा सकता है। 'आँसू' की ओर सहसा आकर्षण के दौड़ने के दो ही कारण हैं—एक तो उसमें प्रेम की स्मृति इतनी सत्यता के साथ अभिव्यक्त हुई है कि हमारा कवि के साथ अविलम्ब साधारणीकरण हो जाता है। हम कवि की स्मृति के साथ अपनी सोई हुई वेदना को अपनी ही आँखों में छाई हुई पाते हैं, जो उनके आँसुओं के साथ ही बहने लगती है। दूसरा गुण है, उसकी अभिव्यंजना-प्रणाली। यद्यपि बिहारी के दोहों में गागर में सागर लहरा चुका था, पर प्रसाद ने सागर को इतना प्रच्छन्न रखा है कि वह हर पात्र में समा कर भी अपनी असीमता कायम रखता है। उसमें इतनी व्यापक अभिव्यक्ति है तभी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है—"अभिव्यंजना की प्रगल्भता और विचित्रता के भीतर प्रेम वेदना की दिव्य विभूति का, विश्व के मंगलमय प्रभाव का, सुख और दुःख दोनों को अपनाने की उसकी अपार शक्ति का और उसकी छाया में सौन्दर्य और मंगल के संगम का भी आभास पाया जाता है।"

श्री इलाचन्द्र जोशी के शब्दों में प्रसाद की आँसुओं की पंक्तियों ने हिन्दी जगत् को प्रथम बार उस वेदनावाद की मादकता से विभोर किया, भयंकर बाढ़ में सारे युग को परिप्लावित कर देने की जैसी क्षमता प्रसाद के इन आँसुओं में रही है, वह हमारे साहित्य के इतिहास में वास्तव में अतुलनीय है।

हम तो यहाँ तक कहेंगे कि यदि 'आँसू' का प्रकाशन न होता तो 'छायावाद' की भूमि ही निर्दिष्ट रह जाती, अन्तर्भावनाओं की—उन

भावनाओं की जो यौवन को झकझोरा करती हैं—अभिव्यक्ति स्पष्ट न हो पाती। यह छायावाद-युग की प्रतिनिधि-रचना है। 'कामायनी' में काव्य दार्शनिकता का स्पष्ट आवरण भी ओढ़े हुए है। 'आँसू' की दार्शनिकता प्रासंगिक है और वह वहीं ऊपर उठती है, जब हम 'आँसुओं' का अन्तिम ढरना देखते हैं—कवि उन्हें व्यापक बनाने के लिए अपनी ही व्यथा के आघात तक अपने को सीमित न रख कर विश्वपीड़ा के साथ समरस होना चाहता है। यों तो प्रारम्भ के आधे से अधिक छन्दों में हम केवल काव्य और कला का ही सौन्दर्य देखते हैं, और मुग्ध हो उठते हैं। हम उन्हीं की 'ध्वनि' को मानो अपने में ही सुनने लगते हैं—कवि, तुम अपने जरा-से पात्र मे रस कहाँ से भर लाये जो बरबस समा नहीं रहा है—हम चकित हैं, समझ नहीं पाते—ऐसा मधुवन तुम में कहाँ छिपा था?

आचार्यों ने कविता के तीन पक्ष माने हैं—वे हैं (१) भाव-पक्ष, (२) विभावपक्ष और (३) कला पक्ष। भाव-पक्ष से कवि का हृदय उद्वेलित होता है, विभाव-पक्ष हृदय के उद्वेलन का कारण है और कला-पक्ष भाव-पक्ष का व्यक्त रूप है।

आँसू का आलम्बन—सब से पहले हम 'आँसू' के विभाव-पक्ष पर दृष्टिपात करेंगे—यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि कवि के हृदय को कहाँ से ठेस पहुँच रही है, उसकी भावनाओं का आलम्बन क्या है? 'आँसू' की पूर्व रचना—'झरना' में कवि ने गाया था—

"कर गई प्लावित तन मन सारा,
एक दिन तव अपांग की धारा,
हृदय से झरना—
बह चला जैसे दृगजल ढरना,
प्रणय वन्या ने किया पसारा,
कर गई प्लावित तन मन सारा।"

इस तव में किसकी ओर संकेत है? किसके कटाक्ष रस से सारा तन-

मन प्लावित हो उठा ? यह 'आँसू' [illegible] हाड़ मांस का पुतला हो सकता है और [illegible] कल्पना से ही [illegible] है—जिस तक [illegible] होना नहीं चाहती, नहीं जानती।

प्रसाद के एक आलोचक [illegible] हैं—"यौवन के प्रेम विलासमय मधुर पक्ष की ओर [illegible] होने के कारण ये उसे 'विलास' के संयोग वियोगात्मक [illegible] से—जो स्वाभाविक [illegible] से अलग [illegible]—प्रायः कम पाये जाते हैं। प्रेम चर्चा के शारीरिक व्यापारों [illegible] (अश्रु, स्वेद, चुम्बन, परिरम्भण, लज्जा की [illegible] और [illegible], वेदना की [illegible] विशेष रमती थी। इसी [illegible] के अनुरूप उनकी प्रकृति [illegible] भी [illegible] के गान, कलियों की मन्द मुस्कान, सुमनों के मधु पात्रों पर मँडराते मिलिन्दों के गुंजार, सौरभ-भरे समीर की लपक झपक, पराग-मकरन्द की लूट, ऊषा के कपोलों पर लज्जा की लाली, आकाश और पृथ्वी के अनुरागमय परिरम्भ, रजनी के आँसू से भीगे अम्बर, चन्द्रमुख पर शरद्घन के सरकते अवगुण्ठन, मधुमास की मधुवर्षा और झूमती मादकता इत्यादि पर अधिक दृष्टि जाती थी।" दूसरे आलोचक भी इसी बात को इन शब्दों में कहते हैं—"प्रसाद का काव्य मूलतः मानवीय है।" इसके विपरीत ऐसे भी आलोचक हैं, जो प्रसाद की रचनाओं में रहस्यवाद ही पाते हैं, वे इसे विरह-काव्य तो मानते हैं पर विरह में अलौकिकता का आरोप कर आत्मा को परमात्मा के विरह में आँसू बहाता पाते हैं। हाल ही एक समाचार पत्र में 'आँसू' के कथानक की रोचक खोज पढ़ने को मिली। उसे हम यहाँ मनोविनोद के लिए दे रहे हैं। इसमें (आँसू) सृष्टि के मिलन और विरह का आख्यान है। सवाल उठता है, सृष्टि का यह मिलन और विरह किससे ? 'सुन्दर' से चिर सुन्दर से। (फिर सवाल उठता है, यह सुन्दर चिरसुन्दर कौन ? इसका उत्तर

आगे बन्द कर दिया गया है।)

'आँसू' की कथा लेखक यों देते हैं—

"सृष्टि की एक महामिलन की अवस्था थी। उसमें सर्वतः सुन्दर का विस्तार था। सृष्टि और सुन्दर एक दूसरे से परे पड़े थे। (मिलन की अवस्था थी और परे भी पड़े थे, यह विरोधाभास भी रहस्यमय ही है) आगे और भी सुनिये—वस्तुतः सृष्टि और सुन्दर दो चीजें नहीं थीं। एक ही वस्तु थी—सुन्दर केवल विस्तार पदार्थ का असीम समूह। महामिलन की यह अवस्था एक लम्बे युग तक चलती रही। फिर पदार्थ का पृथक्करण होना शुरू हुआ। पृथ्वी आकाश से अलग हो गई, (तो क्या आकाश और पृथ्वी भी एक थे?) नक्षत्र अलग हो गये। यह प्रतिक्रिया भी एक लम्बे समय तक चलती रही। भीषण आँधियाँ उठीं, बर्फ की चट्टान पिघल-पिघल कर सागर, सरिता, सरोवर आदि के रूपों में बहने लगी। भीषण आँधियाँ आईं, अँधेरा छाया, बिजलियाँ कड़कीं। संक्षेप में सृष्टि विभिन्न तत्वों में बँट गई। फिर सृष्टि में चेतना-तत्त्व का विकास हुआ और—सुन्दर—तिरोहित हो गया। तब से सृष्टि का सुन्दर से विरह हो गया। विरह का आविर्भाव क्यों हुआ? चेतना के कारण। चेतनाशून्य अवस्था में द्वन्द्व का अस्तित्व न था, सर्वत्र एक ही तत्त्व था—चिरसुन्दर। पर चेतना के उदय के साथ सुख-दुख का भेद प्रकट होने लगा। अब हजारों सालों से सृष्टि की यह विरहावस्था चली आ रही है। उस सुन्दर का, जो सृष्टि के महामिलन की अवस्था में सर्वत्र विद्यमान था, ज्ञान कवि की प्रतिभा को होता है। उसकी पूर्व स्मृति जाग उठती है। कवि सृष्टि के महामिलन की अवस्था का ध्यान कर के अब चतुर्दिक् विरह का प्रसार दे कर नौ-नौ (?) आँसू बहाता है। अन्त में उसे इस बात से आश्वासन प्राप्त होता है कि फिर प्रलय के बादल उठेंगे, भीषण वर्षाएँ होंगी, आँधियाँ आयेंगी, बिजलियाँ चमकेंगी, द्वित्व समाप्त हो जायगा, चेतना सुप्त हो जायगी। फिर महामिलन की अवस्था आयेगी, सर्वत्र सुन्दर का विस्तार प्रस्तावित होगा, आपने प्रथम 'सृष्टि' को प्रेमिका

और सुन्दर को प्रियतम का प्रतीक माना, फिर शीघ्र ही अपने विचार को बदल दिया, या यों कहिये सृष्टि प्रेमी है, सुन्दर प्रेम-पात्र। सृष्टि का प्रतिनिधि कवि स्वयं है। आपकी सम्मति में आँसू, सृष्टि, की उत्पत्ति और प्रलय का रूपक है। इसके समर्थन में आप 'आँसू' से निम्न पंक्तियाँ भी उद्धृत करते थे—

"बुलबुले सिन्धु के फूटे,
नक्षत्र - मालिका टूटी,
नभ - मुक्त - कुन्तला धरणी,
दिखलाई देती लूटी।
छिल-छिल कर छाले फोड़े,
मल-मल कर मृदुल चरण से,
धुल धुल कर वह रह जाते,
आँसू करुणा के कण से।"

और इनका इस प्रकार अर्थ करते हैं—

'महामिलन की अवस्था' में पदार्थ का प्रबल उष्ण पदार्थ का (शायद आप उस धारणा का उल्लेख करते हैं, जिसमें सृष्टि को आदिमावस्था में आग का गोला कहा गया है) एक असीम समूह था। उसका कुछ हिस्सा फफोलों की तरह फूट गया (यह छिल छिल कर छाले-फोड़े, का अर्थ लगाया गया है और सागर के रूप में वह चला। पदार्थ के उस असीम समूह से प्रकाश-पुञ्ज के पिण्ड-पिण्ड अलग हो गये। ये सब नक्षत्र बन गये। (यह सम्भवतः नक्षत्र मालिका टूटी का अर्थ है) बेचारी यह पृथ्वी नभमुक्त हो कर यानी पदार्थ के उस बृहत्तम समूह से अलग हो कर शोभा-विहीन बिखरे बाल हैं, जिसके ऐसी, एक विधवा की तरह लुटी हुई, दिखाई देने लगी। बर्फ की चट्टानों पर चट्टानें फिसलने लगीं और फिसल कर पृथ्वी के ऊपर सरिता, सागर और सरोवर के रूप में बन गई। मानों आनन्द की उस महा सम्पत्ति के लुट जाने पर ये सब आँसू बहा रहे थे।"

'आँसू' को ध्यान से पढ़ने पर लेखक द्वारा निर्दिष्ट 'रूपक' की संगति नहीं बैठती। न कहीं बर्फ की चट्टानों के पिघलने का उल्लेख है, न कहीं आँधी और बिजलियों के चलने-गिरने का। लेखक ने

"झंझा झकोर गर्जन, बिजली है, नीरद माला।
पा कर इस शून्य हृदय को, सबने आ डेरा डाला।"

से पहली पंक्ति के 'झंझा झकोर, बिजली और नीरद माला', शब्दों को ले कर वह कल्पना तो कर ली कि यह सृष्टि पर होने वाले प्रलय का वर्णन है, पर उसी की दूसरी पंक्ति 'पा कर इस शून्य हृदय को, सब ने आ डेरा डाला,' को सर्वथा विस्मृत कर दिया। यदि वे तनिक विचार करते तो उन्हें झंझा, बिजली और नीरदमाला, भावों की हलचल, वेदना और उदासी के प्रतीक जान पड़ते, जो वियोग की दशा में कवि के हृदय को अभिभूत किये हुए थे।

इसी प्रकार—'छिल-छिल कर छाले फूटे', को (सृष्टि ?) प्रबल उष्ण पदार्थ का कुछ हिस्सा फफोले की तरह फूट गया—अर्थ लेखक की दिमागी कसरत ही प्रतीत होती है। बुलबुले सिन्धु के फूटे, नक्षत्र मालिका टूटी का अर्थांश उस असीम समूह से प्रकाश-पुञ्ज के पिण्ड के पिण्ड अलग हो गये। ये सब नक्षत्र बन गये, यह भी असगत है। पंक्ति में नक्षत्रमालिका के बनने का भाव कहाँ है ? यहाँ तो उसके टूटने की चर्चा है। आगे नभ-मुक्त कुन्तला धरणी का अर्थ बेचारी यह पृथ्वी नभ-मुक्त हो कर यानी पदार्थ के उस बृहत्तम समूह से अलग हो कर किया गया है। इससे क्या यह समझा जाय कि नभ पृथ्वी के समान ठोस विस्तृत पदार्थ है, जिसका एक टुकड़ा यह पृथ्वी है ? यह बात विज्ञान से सिद्ध नहीं होती। फिर मुक्त-कुन्तला का विश्लेषण हो जाने पर उसका 'नभ' से क्या सम्बन्ध जोड़ा गया है, यह स्पष्ट नहीं है। इतनी खींचतान करने पर भी लेखक अन्त तक सृष्टि के सर्जन और विसर्जन (प्रलय) की वैज्ञानिक कहानी का पूर्ण निर्वाह नहीं कर पाये। अतः अन्त में उन्होंने यह लिख कर झंझट से छुट्टी पा ली कि, 'आँसू'

के कथानक में वैज्ञानिकता-अवैज्ञानिकता दोनों हैं। "यह सब गड़बड़-झाला इसलिये हो गया कि लेखक ने प्रसाद के प्रतीकों को ठीक रूप में पकड़ने की चेष्टा नहीं की और न उनकी संगति ही वे जमा पाये। कवि की अभिव्यक्ति व्यापक होती है। पाठक उसे अपनी बुद्धि के अनुसार अर्थ देने के लिए स्वतन्त्र हैं, पर अर्थ ऐसा हो जो संगति के चारों खूँटे घेर ले।" 'आँसू' में कला की सजगता इतनी अधिक है कि पाठक उसमें मनमाना अर्थ खोज सकता है पर वही अर्थ मान्य होना चाहिए जिसका अन्त तक निर्वाह हो सके। इसीलिए हमने उसे मानवीय काव्य माना है—रहस्यवादी नहीं। शुद्ध रहस्यवादी रचनाओं में 'अन्नमयकोष' के प्रति विरक्ति पाई जाती है, चैतन्य मनोमय, और 'आनन्दमय' कोषों में एकता का अनुभव करता है। अन्तिम कोटि की रचनाएँ चाहे जो कहलावे, काव्य के अन्तर्गत नहीं आतीं। उनसे बुद्धि का कुतूहल दूर हो सकता है, हृदय की प्यास नहीं बुझ सकती।

'आँसू' में व्यक्ति के प्रति ही आकांक्षा प्रकट की गई है। इसमें अन्नमय कोष का स्थूल सौन्दर्य का आकर्षण प्रबल है, जो निम्न उद्गारों से स्पष्ट है :—

"(१)—इस हृदय कमल का घिरना,
अलि-अलकों की उलझन में,
(२)—बाँधा था विधु को किसने,
इन काली जंजीरों से,
(३)—थी किस अनंग के धनु की,
वह शिथिल शिंजिनी दुहरी,
अलबेली बाहुलता या,
तनु छवि-सर की नव लहरी ?"

आदि शब्दों में—स्थूल शरीर का नखशिख वर्णन ही है। अतः 'आँसू' का आधार ससीम व्यक्ति है, जिसके मिलन सुख की स्मृति ने कवि के हृदय में वेदना-लोक की सृष्टि की है। यह अवश्य है कि कवि ने यत्र-

तत्र परोक्ष का संकेत कर उसे अलौकिकता की आभा से दीप्त करने का प्रयास किया है, जिससे ऐसा भासने लगता है कि कवि का उस विराट से साक्षात्कार हो चुका है। निम्न पंक्तियों में कुछ ऐसा ही संकेत है—

"(१)—कुछ शेष चिह्न हैं केवल,
मेरे उस महामिलन के
(२)—आती है शून्य क्षितिज से
क्यों लौट प्रतिध्वनि मेरी?"

परन्तु इन संकेतो के विद्यमान रहते हुए भी रचना का आधार एक दम पारलौकिक नहीं माना जा सकता। प्रेमी के लिए उसके प्रिय का क्षणिक मिलन—ऐसा मिलन, जिसे वह अन्तिम समझ चुका है, महा-मिलन, ही है, और 'आँसू', की 'स्मृतियो की बस्ती' में तो हमें प्रिय की पार्थिव अंग शोभा ही नहीं, प्रेमी और प्रिय के शरीर-व्यापारो की झाँकी भी मिलती है—

"परिरम्भ कुम्भ की मदिरा,
निश्वास मलय के झोंके,
मुख-चन्द्र चाँदनी जल से,
मैं उठता था मुँह धो के।"

इसके साथ ही जब हम यह पढ़ते हैं—

"निर्मम जगती को तेरा,
मंगलमय मिले उजाला,
इस जलते हुए हृदय की,
कल्याणी शीतल ज्वाला।"

तब जान पड़ता है, आँसू का आलम्बन, जन समूह भी है।

तो क्या हम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की भाँति यह मान लें कि 'आँसू' की वेदना की कोई निर्दिष्ट भूमि नहीं, और उसका कोई एक समन्वित प्रभाव निष्पन्न नहीं होता? पुस्तक को ऊपरी दृष्टि से—सरसरी तौर पर देखा जाय तो ये आक्षेप ठीक प्रतीत होंगे, किन्तु उसकी मनो-

क्रम में प्रविष्ट होने पर हमें उसमें जीवन की एक मनोवैज्ञानिक कहानी अन्तर्हित दिखलाई देती है। उसकी निर्दिष्ट भूमि भी मिलती है।

'आँसू' के नायक को दुर्दिन में अपने उस वैभव-विलासपूर्ण जीवन का स्मरण हो आता है, उसकी वेदना की घटनाएँ बूँद बन उसकी आँखों से बह जाती हैं। उसे याद आता है, मानो गालिब के शब्दों में माशूकों के जमाने में सम्राट् एक ही था। हसीनों में से हजारों थे, मगर उसके दिल को चुराने वाला एक ही था, स्मृति के जाग्रत होते ही वह उदास हो जाता है, अपने प्रिय के प्रथम आगमन—प्रथम परिचय की अवस्था को याद कर विकलने लगता है। कभी सोचता है, वह इस पृथ्वी की न थी, स्वर्गिक आत्मा थी, जो उससे मिलने को नीचे आई थी। उसका मधुराका को लजाने वाला मुख देखते ही वह उसकी ओर खिंच गया था। प्रथम दर्शन का प्रेम इसी को कहते हैं। उसमें वह अपना आत्मत्व ही भूल गया। उसने उस पर पूर्ण अधिकार जमा लिया। जब मनुष्य के मन में किसी की स्मृति तीव्रतम हो उठती है, तो वह स्मृति के आधार की आकृति, उसकी बातों, उसके व्यापारों—कार्य-कलाप का—बहुत विस्तार के साथ मनन करने लगता है। तभी हम 'आँसू' के नायक को अपने 'प्रिय' के शारीरिक सौन्दर्य-वर्णन में—नहीं, नहीं उसके साथ मिलन-क्रीड़ाओं का उल्लेख करने में भी—हर्ष विकम्पित पाते हैं। चाँदनी की चाँदी भरी रातें सुख के सपनों की अधिक समय तक उसके कुञ्ज में वर्षा नहीं करने पाईं। वह 'प्रिय' से बिछुड़ जाता है और वह उससे मुँह भी मोड़ लेती है। तब उनका हृदय स्वभावतः जलता है, तड़पता है। उसमें आशा-निराशा की आँख मिचौनी-सी होती रहती है, जब सशरीर अपने निकट उसे देखने की आशा का अन्त हो जाता है, तब वह प्रकृति के व्यापारों द्वारा उसके सान्निध्य-सुख का अनुभव करने लगता है—

"शीतल समीर आता है, कर पावन परस तुम्हारा;
मैं सिहर उठा करता हूँ, बरसाकर आँसू धारा।"

जैसे उद्‌गार इसी परिस्थिति के द्योतक हैं—

"निष्ठुर, यह क्या, छिप जाना ? मेरा भी कोई होगा,
प्रत्याशा विरह-निशा की हम होंगे औ' दुख होगा।"

दर्द का हद से गुजरना है दवा हो जाना—के अनुसार वह निराशा को त्याग देता है, दुखी मनुष्य का दुख दूसरों के दुख को देख कर घट जाता है। 'आँसू' के नायक ने जब देखा कि संसार में वही दुखी नहीं है, उसके चारों ओर मानव-जाति पीड़ा से कराह रही है। तब वह अपनी व्यथा को भूलने लगता है, दूसरो के दुःख दर्द में अपनी सहानुभूति प्रकट करने लगता है और प्रकृति से भी प्रार्थना करता है कि वह भी संसार के दुख को कम करने में सहायक बने। वह अपनी वेदना से भी कहता है—तुम अपनी ही उलझनों को सुलझाने मे व्यग्र न रहो, अपने ही अभावो में न जलो। तुम्हारे चारो ओर जो हाहाकार मचा हुआ है, उसे भी अनुभव करो। संसार के सभी सुखी-दुखी प्राणियों के दुख में अपने आँसू बहाओ।

'आँसू' मे मानव-जीवन का व्यक्ति का समष्टि की ओर विकास भी दिखलाई देता है। पहले हम भौतिक सौन्दर्य की ओर एकदम खिंच जाते हैं, उसी को परमात्मा मान लेते हैं—स्वर्ग और परलोक की सारी कल्पनाओं का उसी में आरोप कर देते हैं, उसको आराधना मे ही हम सब कुछ भूल जाते हैं। हमारी दुनियाँ—दो—ही में समा जाती है। परन्तु जब भौतिक सुख छिन जाता है, तो हम पहले तो उसकी याद मे तड़पते हैं, रोते हैं, आशा-निराशा मे उतराया करते हैं और फिर ज्यों-ज्यो उसके अप्राप्य बनते रहने की सम्भावना बढ़ती जाती है, हमारी मोह-निद्रा टूटती जाती है, हम वस्तु-स्थिति को पहचानते हैं, और अपनी सहृदयता को अपनी ही ओर केन्द्रित न रख कर संसार मे बिखेर देते हैं, लोक-कल्याण में हम अपने जीवन का अन्तिम ध्येय अनुभव करने लगते हैं। दूसरे शब्दो में 'आँसू' में पहले उठते यौवन की मादकता—बेचैनी—फिर प्रौढ़ता का चिन्तन और अन्त में ढलती आयु

का निर्वेद दिखलाई देता है।

'आँसू' की आत्मा को देखने पर उसमें तारतम्य जान पड़ता है। अतः वह 'प्रबन्धमय' है, पर 'आँसू' के प्रत्येक पद ऐसे हैं कि उन्हीं पर मन को केन्द्रित करने से वे प्रत्येक अपने में पूर्ण प्रतीत होते हैं। इस तरह, 'आँसू' उन मोतियों की लड़ी के समान है जिसका प्रत्येक मोती पृथक् रह कर भी चमकता है और लड़ी के तार में गुँथ कर भी 'आब' देता है. वस्तुतः उसमें मुक्तक और प्रबन्धत्व दोनों हैं।

भाव-पक्ष

हमारे हृदय में अनेक भावों की स्थिति है, परन्तु वे कुछ एक—नों—में परिगणित कर लिये गये हैं। और वे ही हमारे मूल भाव माने जाते हैं। जब तब अवसर पर तरंगित हो उठते हैं। साहित्य में वे ही भाव—वे ही भावनाएँ मान्य हैं, जो अपने 'आश्रय' के सुख-दुःख तक ही सीमित नहीं हैं, प्रत्युत जिनकी व्याप्ति विश्व में समाई हुई है, जो केवल कवि में उदित नहीं होते, समान परिस्थिति से अन्य व्यक्तियों में भी जाग उठते हैं। दूसरे शब्दों में जिन भावों में साधारणीकरण की अवस्था पैदा करने की सामर्थ्य नहीं, वे व्यक्ति विशेष के भाव हो सकते हैं, साहित्य के नहीं।

प्रसाद के 'आँसू' उनकी ही आशा-निराशाओं के 'स्फुलिंग' नहीं हैं। उनमें हमारी आशाएँ-निराशाएँ भी प्रतिबिम्बित जान पड़ती हैं। वे हममें पीड़ा भर कर भी अनिर्वचनीय आनन्द की सृष्टि करते हैं। परन्तु 'आँसू' के भावों की एक विशेषता है—वे सीधे निस्सृत हो कर सीधे ही प्रविष्ट नहीं होते। वे कला का सुन्दर अवगुण्ठन डाल कर आते हैं। जब तक हम कवि के श्रम-निर्मित अवगुण्ठन को पहचान नहीं पाते, वे हमारे मन में रस बूँद नहीं बरसा पाते, हमें आत्मविभोर नहीं बना पाते। यही कारण है, 'आँसू' में बहुतों को दुरूहता दिखाई देती है। सच बात तो यह है कि अप्रच्छन्न हो कर प्रसाद ने बहुत कम कहा है। कई बार वे शब्दों का चित्र खींच कर ओझल हो जाते हैं

और हमें अपनी भावनाओं का रंग भरने को स्वतन्त्र छोड देते हैं। कभी-कभी ऐसा भी प्रतीत होने लगता है कि कवि स्वयं अनुभव नहीं कर रहा है, उसकी बुद्धि अनुभव का अभिनय कर रही है। जहाँ कवि अपनी 'मीड़' को भूल जाता है, वहीं उसकी बुद्धि जाग उठती है और विवेक के गीत गाने लगती है। अंग्रेज़ी का प्रसिद्ध आलोचक रिचार्डस् आधुनिक श्रेष्ठ कवि टी० एस० इलियट की रचनाओ के सम्बन्ध में लिखता है कि उसके काव्य में विचारो का संगीत झरता है।

उसके साथ हमारा मन चिन्तनशील नहीं बनता, बहता है। 'आँसू' में जहाँ बुद्धितत्त्व है, वह इसी कोटि का है। कवि जहाँ अपनी वेदना को विश्व में बिखेरने के लिए अपने चारो ओर आँखें दौडाते हैं, वहाँ उनमें भावावेश का वह अंश सो जाता है जिसका संसार अपने तक ही रहता है। बुद्धि ही बहिर्मुखी बनाती है। कवि के बहिर्मुखी होने पर भी उनके अनुभूत गीतों में शुष्कता नहीं है। संसार की स्वार्थपरता और कृतघ्नता पर ये पंक्तियाँ क्या हमारे मर्म तन्तुओ को नहीं हिलातीं?

"कलियो को उन्मुख देखा,
सुनते वह कपट कहानी;
फिर देखा उड जाते भी,
मधुकर को कर मनमानी।"

इनमें कोई उपदेश नहीं है, आदेश नहीं है। फिर भी ये बुद्धि पर विचार का भार न लाद कर भी हमे उपदेश देती हैं और निर्देश भी। पर उपदेश और निर्देश हमारा अचेतन मन ही ग्रहण करता है।

हम पहले कहीं कह आये हैं कि प्रसाद समय की व्यापक चेतना के प्रति जागरूक रहे हैं अतः जहाँ 'आँसू' में उनकी करुण अनुभूति की सिसक और कसक है, वहाँ चिरवंचित भूखो की प्रलय दशा ने भी उनकी 'आँखो' को गीला बनाया है। यही जागरूकता ही मन के तोल को सँभालती है—बुद्धि के उदय का आभास देती है।

'आँसू' का मुख्य भाव विरह-शृंगार है। जो करुणा के सिंचन से

निखर गया है और लोक-कल्याण की शान्त कामना से पूत हो उठता है। 'आँसू' के पूर्व ही 'झरना' में कवि का अन्तर-स्वर सुन पड़ा था—

"दुख परितापित धरा को,
स्नेह जल से सींच।
स्नान कर करुणा सरोवर,
धुले तेरा कीच॥"

विरह में 'स्मृति' का ही प्राधान्य होता है, अतः आँसू में हम 'प्रेमी' और 'प्रिय' के मिलन-सुख का भी मांसल चित्र पाते हैं, जो काव्य में सम्भोग-शृङ्गार कहलाता है। 'परिरम्भ-कुम्भ की मदिरा' आदि पद्यों की तन्मयता भवभूति के राम-सीता मिलन का निःश्वास छोड़ रही है, कितनी दृढ़, कितनी मधुर! प्रिय के नख-शिख वर्णन में यद्यपि नूतनता नहीं है, फिर भी आँखों की अञ्जन रेखा के आकर्षण में काले पानी की सजा की सूझ प्रसाद के मस्तिष्क में ही उग सकती थी।

प्रिय के प्रथम दर्शन में मधुराका की मुस्कुराहट खेल रही थी—इतना सौन्दर्य शून्य हृदय को आत्म-विभोर बनाने के लिए बहुत था। तभी वह एकदम उसके साथ 'एक' हो गया और कहने लगा—

"परिचित से जाने कब के,
तुम लगे उसी क्षण हमको।"

आकर्षण की तीव्रता की यही अनुभूति हो सकती थी। यद्यपि अनुभूति की यही व्यंजना पहले-पहल प्रसाद ने नहीं की, पर इसमें सन्देह नहीं, अनुभूति उनकी उधार ली हुई नहीं है। विरह की अवस्था में प्रलाप, निद्रा-भंग, ग्लानि, चिन्ता, स्मृति, दीनता, व्रीडा, आदि भावों का संचार 'आँसू' में मिलता है। शास्त्रीय भाषा में ये विप्रलम्भ शृङ्गार के संचारी भाव कहे जाते हैं। यहाँ कतिपय संचारी भावों के उदाहरण दिये जाते हैं—

मोह— "इस विकल वेदना को ले,
किसने सुख को ललकारा॥

में रस की तरह संचारी भाव भी ध्वनित होते हैं। करुण भाव की यत्र-तत्र पर्याप्त झलक दिखलाई देती है, वह उसी में व्याप्त है। एक जगह प्रसाद ने शृङ्गार में बीभत्स को समाविष्ट कर दिया है—

"छिल-छिल कर छाले फोड़े,
मल-मल कर मृदुल चरण से।
धुल धुल कर वह रह जाते,
आँसू करुणा के कण से।"

इसमें फारसी काव्य का रंग स्पष्ट है।

वस्तु-वर्णन में कवि ने 'प्रिय' के नख-शिख का सुन्दर वर्णन किया है, जो 'आँसू' के पृष्ठ सं० २१ से प्रारम्भ होता है और २४ पृष्ठ तक चला जाता है। वर्णन परम्पराजन्य होते हुए भी कवि ने नई कल्पनाओं की भी उद्भावना की है। प्रिय की आँखों में काजल की रेख लगी हुई है, जिसे देख कर वहाँ से मन नहीं हटता। उस रेख को अडमान के काले पानी का किनारा कह कर कवि ने केवल 'दूर की कौड़ी' लाने की ही चेष्टा नहीं की, भावानुभूति में भी गहराई भर दी है, कानों का वर्णन भी नवीनता लिये हुए है।

'आँसू' में बाह्य-प्रकृति स्वतन्त्र रूप से प्रायः आँखें नहीं खोल सकी, वह अन्तःप्रकृति से मिल कर उसे खिलाने में सहायक मात्र हुई है।

'सिरस का फूल' कुसुमाकर, रजनी के पिछले पहरों में खिल और प्रातः धूल में मिल कर प्रेमी के मन की रात और प्रातकालीन अवस्था को ही प्रकट करता है। कवि की दृष्टि प्रकृति के व्यापारों पर जा कर शीघ्र ही अपने में लौट आती है, मानो उसे वहाँ कोई भूली चीज याद आ गई हो और उसे पाने को वह विह्वल हो अपने घर की ही छान-बीन कर रहा हो। रात का आंशिक वर्णन अवश्य भाव और कल्पनापूर्ण है, उसके स्पर्शहीन अनुभव का स्पन्दन अपूर्व है—

"तुम स्पर्श हीन अनुभव सी,
नन्दन तमाल के तल से;

जग छा दो श्याम-लता सी,
तन्द्रा पल्लव विह्वल से।
सपनों की सोनजुही सब,
बिखरे, ये बन कर तारा;
सित-सरसिज से भर जावे,
वह स्वर्गङ्गा की धारा।"

प्रसाद निशा के अमानव रूप पर अपने को अधिक समय तक नहीं ठहरा सके—उन्होंने उसे नीलिमा-शयन पर आसीन कर अपांग की चेष्टाओं में रत कर ही दिया—वह एक वैभवशालिनी नेत्रों में कटाक्ष-भरी सुन्दरी बन कर चित्रित हो जाती है। यही रोमांटिक कवि का कल्पना-वैभव है—

"नीलिमा शयन पर बैठी,
अपने नभ के आँगन में;
विस्मृति का नील नलिन रस,
बरसो अपांग के घन से।"

कला-पक्ष

इसमें भावों की अभिव्यक्ति का रूप सामने आता है। भावो की अभिव्यक्ति भाषा द्वारा होती है तथा भाषा शब्दों से बनती है, जिनके अर्थ की दृष्टि से तीन भेद हैं—(१) वाचक, (२) लक्षक और (३) व्यंजक। वाचक शब्दों से उनका कोषादि में वर्णित अर्थ प्रकट होता है। लक्षक शब्दों से वाचक अर्थ नहीं, उससे सम्बन्धित रूढ़ि या प्रयोजन से दूसरा अर्थ प्रकट होता है। जो अर्थ वाचक शब्द से प्रकट होता है, उसे शब्दों की अभिधा-शक्ति का परिणाम कहा जाता है, जो अर्थ लक्षक-शब्दों से जाना जाता है, उसे शब्दों की लक्षणा-शक्ति का फल कहा जाता है, जो अर्थ शब्दों की अभिधा या लक्षणाशक्ति से प्रकट न हो कर प्रसंग-सन्दर्भ आदि से प्रकट होता है, उसे व्यंजना-शक्ति का परिणाम कहा जाता है। 'आँसू' मे शब्दों की लक्षणा-शक्ति से विशेष काम लिया

गया है। उसमें हमारे परिचित सृष्टि के सादृश्य और साधर्म्य व्यापारों के साम्य दिये गये हैं। इसे यों भी कह सकते हैं कि कवि ने सार्वभौमिक प्रतीकों को अधिक अपनाया है—जैसे सुख-दुःख के लिए क्रमशः चन्द्रिका और अँधेरी: भावनाओं के लिए कलियों लहर आदि के प्रभाव-साम्य मिलते हैं, प्रथम पद्य ही प्रतीक और लक्षणा के साथ प्रवाहित होता है—

"इस करुणा कलित हृदय में,
अब विकल रागिनी बजती।"

में रागिनी लक्षक शब्द है। हृदय ऐसी चीज नहीं है, जिसमें तार लगे हों और किसी की अँगुलियों के चलने से राग निकलें। अतएव जब वाच्यार्थ से अभिलषित अर्थ असम्भव हो जाता है तब हमें लक्षणा-शक्ति का आश्रय लेना पड़ता है। रागिनी से हम दुःख का पैदा होना अर्थ लेगें रागिनी-स्वर उसास का प्रतीक है। इसी प्रकार, वेदना असीम गरजती—में वेदना, कोई शेर नहीं है जो गरजे। अतः लक्षणा से हमें वेदना की अत्यधिक तीव्रता का अर्थ ग्रहण करना पड़ता है।

'ये सब स्फुलिंग हैं मेरी, इस ज्वालामयी जलन के' में स्फुलिंग गर्म आँसू का प्रतीक है। स्मृति से हृदय में जलन बढ़ गई। परिणामतः गर्म-गर्म आँसू आँखों से निकलने लगे। अग्नि की चिनगारियाँ स्फुलिंग कहलाती हैं, अतः गर्म आँसू और स्फुलिंग का गुण-साम्य होने से स्फुलिंग गर्म आँसू का प्रतीक बना लिया गया है। इससे वेदना की गहनता भी व्यंजित होती है।

"निर्झर-सा झिर-झिर करता, माधवी कुञ्ज छाया में।"

'माधवी कुञ्ज' प्रिय का प्रतीक है और छाया 'सान्निध्य' का। माधवी कुञ्ज में कोमलता, सुन्दरता, मोहकता आदि गुणों का समावेश प्रिय के रूप, स्वभाव आदि का द्योतक है। इसमें उपमेय—प्रिय—का लोप हो कर उपमान ही कथित होने से साध्यवसाना लक्षणा है। माधवी कुञ्ज शब्द-प्रयोग प्रिय के सौन्दर्य की बड़ी सुन्दर प्रतिमा खड़ी कर देता है।

झिर-झिर करता में लक्षणा से मन के सरस रहने, आनन्दित रहने का भाव लक्षित होता है।

'बाँधा था विधु को किसने, इन काली जंजीरो से'—में विधु लक्षक शब्द है जिसमें साध्यवसाना अगूढ़ प्रयोजनवती लक्षणा है। विधु का उपमेय मुख पृथक् न कह कर उसका अध्यवसान रूप में कर दिया गया है। कवि का प्रयोजन मुख का अधिकाधिक सौन्दर्य प्रदर्शित करना स्पष्ट ही है। 'काली जंजीरों' से कवि का प्रयोजन केशों की श्यामता दिखलाना है। इसलिए यहाँ साध्यवसाना लक्षण-लक्षणा है। इसी प्रकार 'मणि वाले फणियों का मुख क्यो भरा हुआ हीरों से' में भी साध्यवसाना लक्षणा है। 'नीलम की नाव निराली' में उपमान मात्र का उल्लेख होने से साध्यवसाना लक्षणा है।

'विद्रुम सीपी सम्पुट में, मोती के दाने कैसे ?'—में मूँगे की सीपी के वाच्यार्थ से अभिलषित अर्थ स्पष्ट नहीं होता, अतः लक्षणा से मूँगे के समान लाल अधर-पुट प्रकट हुआ। चूँकि उपमेय अकथित है इस लिए उसका अध्यवसान उसके उपमान में होने से यहाँ साध्यवसाना लक्षणा हुई।

इसी प्रकार दाँत उपमेय का 'मोती' उपमान में अध्यवसान होने से 'मोती के दाने' में साध्यवसाना लक्षण-लक्षणा हुई। लक्षण-लक्षणा में लक्षक शब्द अपना अर्थ छोड़ कर दूसरा अर्थ देता है। 'मोती के दाने' का जब अर्थ 'दाँत' लिया गया तब स्पष्ट लक्षण-लक्षणा है।

'आँसू' के चरण-चरण में लक्षणा और प्रतीक का कलापूर्ण सौन्दर्य चमक कर सहृदय पाठक को चमत्कृत और बहुधा भाव-विभोर बनाता है।

कवि ने स्थूल के सूक्ष्म और सूक्ष्म के स्थूल उपमान भी यत्र-तत्र रखे हैं। साथ ही सूक्ष्म के सूक्ष्म और स्थूल के स्थूल उपमान भी पाये जाते हैं।

स्थूल का सूक्ष्म उपमान—

"मादकता से आये तुम, संज्ञा से चले गये थे।"

सूक्ष्म के स्थूल उपमान—

(१) मकरन्द मेघमाला-सी वह स्मृति मदमाती आती,

(२) क्यों व्यथित व्योम गंगा-सी, छिटका कर दोनों छोरें।
चेतना-तरंगिन मेरी, लेती है मृदुल हिलोरें।

(यहाँ चेतना सूक्ष्म उपमेय का व्योम गंगा स्थूल उपमान है)

सूक्ष्म के सूक्ष्म उपमान—

(१) प्रतिमा में सजीवता-सी, बस गई सुछवि आँखों में,
सुछवि उपमेय (सूक्ष्म) का उपमान सजीवता (सूक्ष्म) है।

(२) जो घनीभूत पीड़ा थी, मस्तक में स्मृति-सी छाई,
पीड़ा (सूक्ष्म) का उपमान स्मृति (सूक्ष्म) है।

स्थूल के उपमान—

(१) आकाश दीप सा तब वह तेरा प्रकाश झिलमिल हो।

(२) काली आँखों में कितनी यौवन के मद की लाली,
मानिक मदिरा से भर दी, किसने नीलम की प्याली ?

(३) काला पानी वेला-सी, है अञ्जन रेखा काली,

(४) मछली सी आँखें—

उपमा अलंकार के अतिरिक्त रूपक और रूपकातिशयोक्ति के उदाहरण भी अधिक पाये जाते हैं। सूर के समान प्रसाद ने लम्बे-लम्बे रूपक बाँधने की चेष्टा नहीं की। वे दो पंक्तियों में ही सुन्दर रूपक चित्र उपस्थित कर देते हैं—

(१) मुख कमल समीप सजे थे, दो किसलय से पुरइन के।
जलबिन्दु सदृश ठहरे कब, उन कानों में दुख किन के ?

मुख मे कमल का आरोप कर देने के पश्चात् कानों को उसके पत्ते कह कर रूपक की सार्थकता सिद्ध की गई है।

(२) कामना सिन्धु लहराता, छवि पूरनिमा थी छाई।

(३) इस हृदय कमल का घिरना, अलि अलकों की उलझन में,
आँसू-मरन्द का गिरना, मिलना निश्वास पवन में।

(४) वाड़व ज्वाला सोती थी, इस प्रणय-सिन्धु के तट में।

विरोधाभास—

(१) जीवन में मृत्यु बसी है, जैसे बिजली हो घन में।

(२) बस गई एक बस्ती-सी, स्मृतियों की इसी हृदय में,
नक्षत्र-लोक फैला है, जैसे इस नील निलय में।

'आँसू' में अलंकार-योजना प्रायः भावों का उत्कर्ष बढ़ाने मे सहायक हुई है, प्रायः इसलिए कि ऐसे भी स्थल हैं, जहाँ अलंकारों ने भाषा की ही श्री-वृद्धि की है।

कला-पक्ष का विवेचन करते समय हमें 'आँसू' के छन्द पर भी विचार करना होगा। अवध उपाध्याय के कथनानुसार, इसे 'आँसू' छन्द भी कहा जा सकता है। पर वास्तव में यह आनन्द छन्द है जो २८ मात्रों पर विराम होता है। प्रसाद को ही इसे अत्यधिक प्रचलित करने का श्रेय है। 'आँसू' के प्रकाशित होने के पश्चात् महादेवी आदि की रचनाओं में बहुत समय तक, आनन्द छन्द में भावों का कल-कल निनाद सुनाई दिया। बिहारी ने जिस प्रकार दोहा छन्द मे भावों का सागर लहराने का यत्न किया उसी प्रकार प्रसाद ने आनन्द छन्द में लक्षणा के सहारे भावों की संहृति प्रदर्शित की है। तभी हमने प्रारम्भ में कहा है कि स्वर्गीय प्रसाद हिन्दी के भावुक कवि और कुशल कलाकार हैं। इसे यदि कोई उनकी एक ही रचना में देखना चाहता है तो उसे 'आँसू' की ओर इंगित किया जा सकता है।

'आँसू' पर बँगला का प्रभाव

'आँसू' की मौलिकता की चर्चा करते हुए एक लेखक ने उस पर बँगला का प्रभाव प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है। पर उसके अधिकांश उदाहरण ऐसे हैं, जो किसी भी विरह-काव्य में खोजे जा सकते हैं—

"विष-प्याली जो पी ली थी
वह मदिरा बनी हृदय में।"

लेखक ने इसके जोड़ में चण्डीदास की यह पंक्ति प्रस्तुत की है—

"के जाने खाइले गरल हइबे पाइते एतेक दुखे।"

(मुझे क्या पता था कि गरल खाने पर इतना दुख झेलना पड़ेगा।)

प्रसाद में विष का मदिरा में परिणत होने का जो भाव है और उससे उसमें जो उत्कृष्टता, गहनता आ गई है वह चण्डीदास में कहाँ है। चण्डीदास को विष दुःख देता है। प्रसाद बार-बार विष पीने को ललचते हैं। जिस तरह मदिरा पी पी कर भी और-और की ललक बनी रहती है उसी प्रकार प्रसाद में विष पीने की चाह प्रति बार उल्लास भरती जाती है। बँगला से इन्दिरा देवी की यह पंक्ति उद्धृत है—

"आकाश भर उटत तारो, फुटत हास चाँदेर मुखेर,"

और उसी जोड़ में प्रसाद की यह पंक्ति दी गई है—

"मधुराका मुसकाती थी पहले देखा जब तुम को।"

हम यह मानने को तैयार नहीं हैं कि इन्दिरा देवी के 'चाँदेर मुख से हास फुटते' देख कर प्रसाद को 'मधुराका मुसकाने' की कल्पना हुई होगी। प्रसाद के काव्य में प्रकृति का मानवीकरण 'आँसू' से पहले भी मिलता है।

राका का मुसकाना कोई बँगला की ही अभिनव कल्पना नहीं है, कहीं-कहीं बँगला कवि और प्रसाद के भावों में टक्कर भी दिखाई देती है—

(१) "छाया नट छवि पर्दे में, सम्मोहन वेणु बजाता।"

—प्रसाद

"छन्द गीतेर आनन्दमय मधुर छाया नटे
जागिए दित जीवन-वीणामय राग रागिणी तार,
मर्म माझे मुखर पीडेर मूर्छना झंकार।"

(२) "चातक की चकित पुकारें, श्यामा-ध्वनि सरस रसीली,
मेरी करुणार्द्र कथा की, टुकड़ी आँसू से गीली।"

—प्रसाद

"मौमाछिदेर गुञ्जरणे जागल श्याम कुंजबने,
स्वप्नसम तार काहिनी आजके प्रिये द्विपहरे।"
—करुणानिधान बन्द्योपाध्याय

(३) तुम खिसक गये धीरे से, रोते अब प्राण विकल से,
—प्रसाद

ए हरि कहलुम तुया पाश लागि,
सो अब जीवइ रोवहुँ पुन भागी,
—घनश्यामदास

(तुम मुझे छोड़ कर भाग गये और मैं पड़ी रोती रह गई।)
प्रसाद की पंक्तियाँ हैं—

"थक जाती थी सुख-रजनी, मुखचन्द्र हृदय में होता,
श्रम-सीकर सदृश नखत से अम्बर-पट भीगा होता।"

इन्हें पढ़ कर लेखक को आंग्ल-कवि मौरिस की निम्न पंक्तियों का स्मरण हो आता है—

"तुम नहीं जानते कि रात होने पर मेरी प्रियतमा भी निकट आ जाती है। आपस में मधुर सम्भाषण और प्रदान होता है। आधी रात के अंधकार में उसके चुम्बन शरीर में स्फूर्ति उत्पन्न कर देते हैं।" प्रसाद की पंक्तियों का भाव-साम्य उधार की सामग्री ही है, यह नहीं कहा जा सकता। रवि बाबू की गीताञ्जलि में कबीर के भावों की छाया देख कर जब कुछ लोगों ने उन्हें कबीर का ऋण स्वीकार करने को कहा तो उन्होंने बहुत स्पष्टता से कहा कि मैंने गीताञ्जलि की रचना के बहुत बाद कबीर का अध्ययन किया था। प्रसाद टटपुँजिए कवि नहीं थे कि वे भानमती का कुनबा जोड़ते रहते थे। उनकी प्रेमानुभूति सहज, गहन थी। अतः अन्य अनुभूतिशील कवि के उद्‌गारों में यदि उन्हीं जैसे भावों का साम्य है तो क्या आश्चर्य है?

श्रीमती शचीरानी ने अपने 'साहित्य-दर्शन' में गेटे के वेर्टेर की तुलना प्रसाद के 'आँसू' से करते हुए लिखा है—

"ठीक जिस परिस्थिति में गेटे द्वारा वेर्टेर की रचना हुई उसी परिस्थिति में 'आँसू' भी लिखा गया। किन्तु वेर्टेर में धधकती अग्नि सुलग रही है, जिसकी आँच दूसरों को भी दग्ध करती है और 'आँसू' में शीतल ज्वाला है, जिसका धुआँ अन्दर ही अन्दर उठ कर रम जाता है। वेर्टेर मे प्रचण्डता और दाह है, 'आँसू' मे रोदन और करुणा। वेर्टेर मे मस्तिष्क की आँधी तूफान बन कर प्रकट हुई है, 'आँसू' मे प्रशांत भावधारा अश्रुकणों मे बिखर कर फूट पडी है। पर इस तुलना का यह आशय नहीं कि प्रसाद के 'आँसू' पर गेटे की किसी कृति का प्रभाव पडा है। प्रसाद का जीवन गेटे के समान विछलन भरा भी नहीं रहा। प्रसाद ने स्त्री मे अनन्त सौन्दर्य, अनन्त प्रेम और पवित्रता के दर्शन किये थे। तभी एक साधक के समान उन्होंने उसके गौरव के गीत गाये हैं।"

———

कामायनी का मनस्तत्त्व

(रामलाल सिंह)

प्रसाद ने कामायनी की कथा को ऐतिहासिक भूमि पर प्रतिष्ठित किया है किन्तु घटनाओं की प्राचीनता तथा अतिरञ्जना के कारण ऐतिहासिकता के साथ साथ उसमें रूपक का समावेश भी दिखाई देता है। प्रमुख पात्र ऐतिहासिक ही नहीं वरन् मानव वृत्तियों के प्रतीक रूप में भी दिखाये गये हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि प्रसाद ने इतिहास के मर्म में मानव-वृत्तियों के विकास को भी देखने की चेष्टा की है। इसी कारण कामायनी की कथा को ऐतिहासिक मानते हुए भी उन्होंने उसको उसी रूप मे ग्रहण किया तथा तत्सम्बन्धी उन्हीं चरित्रों को लिया, जिनसे रूपक के रूप में मनोवैज्ञानिक व्यञ्जना भी हो सके। यदि यह बात उन्हें अभिप्रेत न होती तो वे कामायनी का साङ्केतिक अर्थ लेने में आपत्ति करते परन्तु उन्होंने ग्रन्थ के आमुख में यह स्पष्ट उल्लेख कर दिया है कि मनु, श्रद्धा और इड़ा अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। प्रसाद ने अपने प्रतीकों को जायसी के समान स्पष्ट कर दिया है। वे मानते हैं कि श्रद्धा और मनु अर्थात् मनन के संयोग से मानवता का विकास रूपक है। "मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष हृदय और मस्तिक का सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी लग जाता है।" अब देखना यह है, कि प्रसाद के निर्देश को प्रमाणित करने में 'कामायनी' कहाँ तक समर्थ है।

कामायनी के सर्गों का नामकरण, स्थान, घटना या पात्र के नाम पर न हो कर मानसिक वृत्तियों के नाम पर हुआ है। इस परम्परा-परिवर्तन के मूल मे कवि का उद्देश्य है, मानसिक वृत्तियों का ऐसा क्रम रखना, जिस क्रम से वे मानव-हृदय में उत्पन्न होती हैं। इन वृत्तियों का

सम्बन्ध कामायनी में किसी एक ही पात्र से नहीं है। कुछ का सम्बन्ध पुरुष-पात्र से है और कुछ का स्त्री-पात्र से। इन दोनों के मेल से मानवता और मानवी-वृत्तियों के सामान्य विकास को दिखाने की चेष्टा की गई है।

संसार में प्रवेश करने पर व्यावहारिक जीवन का प्रथम चरण चिन्ता के रूप में आता है। विश्व में द्वैत की यह प्रथम अनुभूति है। प्रसाद ने इसे दुःखमूलक माना है। अपने चारों भी दर्शनों में यह वृत्ति दुःखमूलक ही कही गई है। चिन्ता संसार का प्रथम मनोमय व्यापार है। इसमें संसार की प्रतीति तो रहती है किन्तु कर्म सम्बन्धी कोई प्रवृत्ति नहीं। यह केवल संवेदन मात्र है। इसी कारण प्रसाद ने कामायनी का प्रथम सर्ग चिन्ता रक्खा है।

चिन्ता के पश्चात् विश्व में व्यावहारिक जीवन का द्वितीय चरण आशा का होता है। बिना आशा के सृष्टि-व्यापार आगे नहीं बढ़ सकता। इसी से कामायनी का द्वितीय सर्ग आशा नामक है। आशा चिन्ता की भाँति निष्क्रिय नहीं; यह मानव मन की विधायक वृत्ति है। यह मानव को क्रियाशील होने के लिए स्फूर्ति प्रदान करती है जैसा कि हम मनु के जीवन में देखते हैं। चिन्ता और आशा दोनों का सम्बन्ध सांसारिक बुद्धि से है।

कामायनी का तृतीय सर्ग श्रद्धा नामक है। श्रद्धा हृदय की वृत्ति है किन्तु श्रद्धा 'कामायनी' में केवल हृदय वृत्ति के प्रतीक रूप में ही नहीं है वरन् एक स्वतन्त्र सत्ता भी रखती है। जहाँ तक वह नारी के रूप में आती है वहाँ तक वह काम, वासना आदि वृत्तियों को लिए हुए है। जहाँ वह प्रतीक रूप में आती है वहाँ हृदय की सभी उदात्त वृत्तियों की प्रतिमा उपस्थित करती है। आशा के उदय होने के पश्चात् मानव हृदय में श्रद्धा का आविर्भाव होता है। यह अत्यन्त विशुद्ध आत्मवृत्ति है; किन्तु मानव इस उच्च वृत्ति को पूर्ण रूप में नहीं ग्रहण कर पाता। इसके साथ अपने मन और बुद्धि की मलिनता का आरोप

कर लेता है। फलतः काम और वासना की सृष्टि होती है।

अब यहाँ पुरुष और नारी को ले कर कामायनी का मनोवैज्ञानिक चित्रण दो भागो में बँट गया है। पुरुष में काम और वासना वृत्तियों का उद्भव होता है। नारी इसमें निष्क्रिय रहती है, किन्तु मानव के काम और वासना के सम्पर्क में आने पर उसमें लज्जा का आविर्भाव होता है। लज्जा नारी की वृत्ति है। काम का अर्थ होता है 'इष्टविपयाभिलाषः' अर्थात् इष्ट विषय को प्राप्त करने की इच्छा। वासना का तात्पर्य है विपय में अभिनिवेश—इच्छा के पश्चात् उस वस्तु में अभिनिवेश होता ही है। काम और वासना दोनो वृत्तियाँ इसी रूप में मनु के हृदय में उत्पन्न होती हैं। इसी कारण श्रद्धा के पश्चात् काम और वासना नामक सर्गों की योजना हुई है।

वासना के पश्चात् लज्जा नामक सर्ग आता है। लज्जा का अर्थ होता है 'स्वच्छन्द क्रियासंकोच'। श्रद्धा नारी रूप में अभी मुग्धावस्था में है, इसलिए पुरुप के निकट उसमें लज्जा का होना स्वाभाविक ही है। नारी के जीवन में लज्जा, धात्री का काम करती है। वह उसे गौरव-महिमा सिखलाती है। जो कठोर लगने वाली है, उसे धीरे से समझाती है। वह अनुरागरूपिणी है। उसका दूसरा कार्य है 'चञ्चल-किशोर-सुन्दरता' की रक्षा करना।

वासना के उपरान्त पुरुष की ओर से कर्म नामक प्रकरण का आरम्भ होता है। वासना का परिणाम होता है अधिकाधिक तृष्णा की वृद्धि और उसकी तृप्ति के लिए पुरुष कर्म में प्रवृत्त होता है। इस कर्म का स्वरूप हिंसात्मक है। जैसा, प्रसाद ने मनु के कर्मों का स्वरूप कर्म नामक सर्ग में रखा है। जब हिंसात्मक कर्मों के द्वारा मनुष्य स्व का विस्तार करता है तो उसमें बाधक वस्तुओं के साथ ईर्ष्या-द्वेप आदि का समावेश होना स्वाभाविक है। इसीलिए कामायनी में कर्म के पश्चात् ईर्ष्या का सर्ग आता है। मनु अपने अधिकारो पर किसी प्रकार की रोक नहीं चाहते। वे प्रकृति पर अपना असीम अधिकार स्थापित रखना

चाहते हैं। इस मनोभावना में बाधा डालनेवाले के प्रति मनु के हृदय में ईर्ष्या उत्पन्न होती है, वे श्रद्धा से कहते हैं—

"तुम दानशीलता से अपनी
बन सजल जलद वितरो न बिन्दु।
इस सुख-नभ में मैं विचरूँगा
बन सकल कलाधर शरद इन्दु॥"

मानव अपनी अहं भावना की तृप्ति के लिए बुद्धिक्षेत्र में प्रविष्ट होता है। मनु भी इसी बुद्धिक्षेत्र मे प्रवेश करते हैं। इडा को एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व भी प्रदान किया है। वह इस रूप में श्रद्धा की होड में उपस्थित हुई है। श्रद्धा को खो कर मनु बुद्धिवादी हो गये हैं, और बुद्धि की सहायता से वे साम्राज्य-स्थापन की चेष्टा करते हैं। यहीं तक नहीं, वे स्वय बुद्धि-अधिष्ठात्री इडा पर अधिकार करना चाहते हैं, जो वास्तव मे नियम का व्यभिचार है। व्यभिचार के कारण मनुष्य पर नाना प्रकार की विपत्तियाँ आती हैं, जैसा कि हम मनु के जीवन मे देखते हैं

मनु के जीवन मे विपत्ति आने पर श्रद्धा अदृष्ट में उन विपत्तियों का स्वप्न देखती है। श्रद्धा ऐसी सती नारी में वह शक्ति है, कि वह अदृष्ट को देख सकती है और अपने परित्राण का हाथ पुरुष की सहायता के लिए फैला सकती है। प्रतीक रूप मे उसकी यह व्यञ्जना है कि दुःख में श्रद्धा वृत्ति सदा जागरूक रहती है। कामायनी के स्वप्न-सर्ग में ये ही दो बातें दिखाई गई हैं।

बुद्धि का अतिवाद संघर्ष मे परिणत होता है इसी अतिवाद के कारण मनु के जीवन में भी संघर्ष उत्पन्न हुआ। प्रकृति के साथ इस संघर्ष मे मानव सफल नहीं हो सकता। बुद्धि के जाल में पड कर नाना प्रकार का कर्म करने पर भी मानव को जब आनन्द के स्थान पर बेचैनी, विकलता तथा अशान्ति ही मिलती है तब उसे निर्वेद उत्पन्न होता है। निर्वेद के पश्चात् वह द्वैत बुद्धि से पराङ्मुख हो जाता है और निवृत्ति प्राप्त करने पर उसकी भावना आत्ममुखी हो जाती है और तब उसे

'विचारप्रयोजकं ज्ञानं दर्शनं' प्राप्त होता है। आत्मदर्शन के पश्चात् उसे जीवन का रहस्य, जिसमें कर्म, ज्ञान तथा भावना की समरसता निहित है, ज्ञात होता है और जीवन का रहस्य खुलने पर उसे 'निरुपाधिकेष्टत्वं आनन्दम्' प्राप्त हो जाता है। इसी कारण कामायनी के अन्तिम तीन सर्ग क्रमशः दर्शन, रहस्य और आनन्द रखे गये हैं।

किसी सर्ग के अन्तर्गत उसके शीर्षक सम्बन्धी भाव का ही नहीं वरन् तत्सम्बन्धी सभी भावनाओं का समावेश किया गया है। जैसे चिन्ता सर्ग में चिन्ता के अतिरिक्त तज्जन्य अनुभावों—विस्मृति, वैवर्ण्य, जड़ता आदि—का भी उल्लेख है। आशा सर्ग में तत्सम्भूत अन्य भावनाएँ—विश्वास, कुतूहल, जीवन के प्रति अनुराग, सहानुभूति, समवेदनशीलता, माधुर्य, आकांक्षा आदि भी वर्णित हैं। श्रद्धा-सर्ग में श्रद्धा सम्बन्धी दया, माया, ममता, माधुर्य, उत्साह, सान्त्वना, आत्मसमर्पण, मानवता की मङ्गलकामना आदि वृत्तियों का उल्लेख है। इसी प्रकार अन्य सर्गों में भी यही क्रम चलता है।

प्रसाद ने कामायनी में केवल व्यक्तिगत मनस्तत्त्व के विकास की ही विवेचना नहीं की है वरन् सामाजिक मनोविज्ञान का भी समयानुकूल विश्लेषण किया है; जैसे सारस्वत-प्रदेश में जब समृद्धि उच्छ्वसित हो उठती है तब विप्लव और संघर्ष संघटित हो जाते हैं। जब किसी समाज का अग्रणी अपने बनाये नियमों का पालन नहीं करता तो उसके अनुयायियों की श्रद्धा ही उसके प्रति नहीं घटती बल्कि उनके द्वारा एक विप्लव भी खड़ा हो जाता है। जैसे सारस्वत प्रदेश की प्रजा ने उच्छृङ्खल-नियामक मनु के विरुद्ध किया। अब देखना यह चाहिये कि इस काव्यगत मनोवैज्ञानिक तत्त्व के मूल में प्रसाद का क्या उद्देश्य है। प्रसाद की दृष्टि में बहिर्जगत्, अन्तर्जगत् की लीला का विस्तार है। बाह्यजगत् में जो कुछ हो रहा है, वह हमारे भीतर का ही प्रतिबिम्ब है। ऐतिहासिक घटनाएँ हमारी मनोवैज्ञानिक भावनाओं की क्रिया मात्र हैं। वे ऐतिहासिक सत्य का अर्थ घटना नहीं करते; ऐतिहासिक तथ्य के अन्वेषण में

वे भावात्मक, घटनात्मक, ऐतिहासिक पात्रों के ब्योरेवार वर्णन से ही सन्तुष्ट नहीं होते वरन् वे घटनाओं तथा चरित्रों को मनोविज्ञान की कसौटी पर कसते हैं। उनके अन्तर्गत आत्मा की अनुभूति देखना चाहते हैं। मनोविज्ञान की कसौटी पर जो घटना या पात्र खरा नहीं उतरता वह उनकी दृष्टि में सत्य होते हुए भी स्थूल और क्षणिक हो कर मिथ्या में परिणत हो जाता है, किन्तु जो घटना मनोविज्ञान तथा जो पात्र आत्मा की अनुभूति से पूर्ण हैं, वे मानवता की चिरस्थायी वस्तु बन सकते हैं। इन्हीं की पुनरावृत्ति बारम्बार नयी घटनाओं तथा पुरुषों के रूप में हो सकती है।

प्रसाद ने मनु और श्रद्धा सम्बन्धी उन्हीं वृत्तों तथा पात्रों को अपना लिया जो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ठीक जान पड़े। इसीलिए मनु के बुद्धिवाद का पतन आज भी दिखाई पड़ रहा है। श्रद्धा जैसी सती स्त्रियाँ आज भी न जाने कितने घरों में आनन्द की सृष्टि करते हुए मनु जैसे स्वच्छन्द प्रवृत्ति वाले पतियों का निस्तार कर रही हैं। मनु जैसे उच्छृङ्खल नियामक के शासन में आज भी विप्लव तथा संघर्ष मचा हुआ है। प्रसाद ने कथा तथा चरित्र को मनोविज्ञान से अनुप्राणित करते हुए स्थान-स्थान पर जो मनोवैज्ञानिक सत्य कामायनी में रखे हैं; वे कथा तथा चरित्र से मेल खाते हुए स्वतन्त्र रूप से भी अत्यन्त सुन्दर हैं। मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त, कालिदास, तुलसी और शेक्सपियर जैसे महाकवियों में ही मिलते हैं। इसके लिए एक उदाहरण पर्याप्त होगा।

"बन जाता सिद्धान्त प्रथम फिर पुष्टि हुआ करती है।
बुद्धि उसी ऋण को सब से ले सदा भरा करती है।
मन जब निश्चित सा कर लेता कोई मत है अपना।
बुद्धि दैवबल से प्रमाण का सतत निरखता सपना।
पवन वही हिलकोर उठाता वही तरलता जल में।
वही प्रतिध्वनि अन्तरतम की छा जाती नभ-तल में।"

मन में जब कोई बात बैठ जाती है तो बुद्धि उसी के अनुसार प्रमाण

ढूँढा करती है* । जो जिस भाव में रमा करता है, उसी के अनुसार उसे सारा संसार दिखाई पड़ता है । अर्थात् इच्छा के अनुसार बुद्धि तथा भाव हो जाते हैं । इस प्रकार सत्य छिप जाता है । बुद्धि द्वारा लाख प्रमाण इकट्ठा करने पर भी वह सिद्धान्त स्थायी नहीं हो सकता । ऐसे मनोवैज्ञानिक सत्यो को अर्वाचीन तथा प्राचीन दृष्टिवाले सभी लोग मानते हैं । इस प्रकार के मनोवैज्ञानिक सत्य आधुनिक हिन्दी कवियों मे कम मिलेंगे ।

इसी प्रकार रहस्य नामक सर्ग में कर्म, इच्छा तथा बुद्धि का समन्वय मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बहुत ही सुन्दर हुआ है । मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उसका तात्पर्य यह है कि इच्छा को आँख नहीं होती, बुद्धि को पैर नहीं होता तथा कर्म अकेले अहं तथा दम्भ का उत्पादक है । यदि तीनो, हृदय तत्त्व द्वारा मिले रहे तो मानव जीवन सुचारु रूप से सञ्चालित हो अपने साध्य की प्राप्ति सहज ही में कर सकता है । कामायनी मे कवित्व-रहित कोरा मनोविज्ञान कही नही है । उदाहरणार्थ, लज्जा नामक सर्ग को लीजिए । उनमे मनोविज्ञान की बाहरी तथा भीतरी क्रियायें इतने कवित्वपूर्ण ढङ्ग से वर्णित हैं कि उनमें मनोविज्ञान की शुष्कता कहीं भी नहीं परिलक्षित होती ।

कामायनो की मनोवैज्ञानिक रूपकात्मकता भी अपने ढङ्ग की अपूर्व है । पाठक इसके मनोवैज्ञानिक प्रतीकों को आमुख में ही पा जाने के कारण किसी प्रकार की उलझन में नहीं पड़ते । कामायनी की रूपकात्मक व्यञ्जना मन की उलझनों को सुलझाती हुई अन्त में यह बतलाती है कि आनन्द की प्राप्ति किस प्रकार श्रद्धा द्वारा हो सकती है । कैवल्य केवल बुद्धि से नहीं प्राप्त हो सकता । उसके लिए श्रद्धा का संयोग परम

---

* 'Will is the stout blind man that holds
The lame reason on his shoulders who can but see".
Schopenhauer.

आवश्यक है। श्रद्धा और इडा वस्तुतः मन की दो शक्तियों या वृत्तियों के रूप में गृहीत हैं। एक का पथ आत्मोन्मुखी है; आनन्द धाम तक पहुँचाने वाला है। दूसरे का पथ अनात्मोन्मुखी है; विप्लव-संघर्ष में डालने वाला है। जब तक मन [मनु] बुद्धि [इडा] के व्यभिचार में फँसा रहता है तब तक वह श्रद्धा से अयुक्त रहता है और जब तक वह श्रद्धा से अयुक्त रहेगा तब तक उसमें धार्मिक भाव नहीं जग सकता। बिना आस्तिक भाव जगे शान्ति नहीं मिल सकती और शान्ति-रहित को आनन्द कहाँ? "अज्ञश्च अश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति" अर्थात् श्रद्धा-रहित पुरुष में कभी विश्वास या मतैक्य नहीं आ सकता। इस प्रकार सदा वह संशय-ग्रस्त हो कर नाश की ओर प्राप्त होता रहता है। जब तक मनु का मन श्रद्धायुक्त रहता है तब तक उनका कार्य सात्विक होता है। और जहाँ से वे श्रद्धा-रहित होते हैं, वहीं से वे अधोगति को प्राप्त होने लगते हैं।

रूपकात्मक व्यञ्जना के लिए कवि ने प्रधान पात्रों का द्विविध रूप रखा है; परन्तु दूसरा रूप [अप्रस्तुत या व्यङ्ग्य] उन पात्रों के चरित्र और स्वभाव के अनुकूल है; दूसरे कथा की शृङ्खला को कहीं नहीं तोड़ता। मनु जहाँ तक मन के प्रतीक हैं वे गीता† के अनुसार अत्यन्त दुर्निग्रही तथा चञ्चल प्रकृति के दिखाये गये हैं। मन की स्वाभाविक वृत्ति के अनुसार स्वार्थ-लिप्सा तथा आत्ममोद में उनकी प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है। अन्त में श्रद्धा द्वारा ही उनको शांति मिलती है। मनु का यह प्रतीकात्मक स्वरूप उनके स्वभाव तथा संस्कार के मेल में भी बैठ जाता है। इडा जहाँ तक बुद्धि की प्रतीक है वह मनु [मन] को प्रलोभन दे कर जाल में फँसाती है। मनु उसे वश में करना चाहते हैं पर वह होती नहीं। परिणाम रूप में विप्लव, सङ्घर्ष तथा अशान्ति उत्पन्न होती है। श्रद्धा को हृदय का प्रतीक बनाने के लिए उसमें सेवा, दया, माया, ममता,

---

† 'मनो हि दुर्निग्रहं चलं'। —गीता।

उदारता, सहानुभूति, आत्मसमर्पण, त्याग, क्षमा आदि हृदय की उदात्त वृत्तियों का सङ्कलन किया गया है।

कामायनी की रूपकात्मक महत्ता या विशेषता समझने के लिए पद्मावत की रूपकात्मकता से इसकी तुलना अपेक्षित है। पद्मावत में ऐतिहासिक पक्ष गौण तथा रूपकात्मक [आध्यात्मिक] पक्ष प्रधान हो गया है, अर्थात् आध्यात्मिक तत्त्व ऐतिहासिक तथ्य को दबा देता है। परन्तु कामायनी की मनोवैज्ञानिक रूपकात्मकता से उसका ऐतिहासिक तथ्य दबता हुआ नहीं दिखाई देता। साध्यापेक्षित तत्कालीन सभी ऐतिहासिक मार्मिक घटनाएँ तथा प्रमुख पात्र आ गये हैं। पद्मावत का रूपकात्मक पक्ष उसकी कथा तथा पात्रों को अलौकिक तथा अप्राकृतिक बना देता है। परन्तु कामायनी की रूपकात्मकता उसकी ऐतिहासिकता को पुष्ट, प्राकृतिक तथा विश्वसनीय बनाती है। जायसी के समान प्रसाद में कहीं प्रस्तुत और अप्रस्तुत में घपला नहीं है। कामायनी में प्रतीकों की एकरूपता का जैसा सुन्दर निर्वाह हुआ है वैसा पद्मावत में नहीं। उसमें रत्नसेन कहीं जीवात्मा के रूप में दिखाई पड़ता है तो कभी परमात्मा के रूप में। सूफी पद्धति पर, पद्मावती को ईश्वर रूप मान कर रत्नसेन उपासक के रूप में लिया गया है, पर उसका प्रभाव तथा ऐश्वर्य पद्मावती से बढ़ गया है जो प्रतीक की दृष्टि से अनुचित है, जैसे विवाह के उपरान्त रत्नसेन को सूर्य और पद्मावती को चन्द्र-रूप में रखना। लौकिक दृष्टि से तो यह ठीक है, पर प्रतीक का निर्वाह बिगड़ गया है। कामायनी में मनु, श्रद्धा तथा इड़ा सदा कवि के अभिप्रेत प्रतीक के ही अर्थ में दिखाई पड़ते हैं। कामायनी में अप्रस्तुत की व्यञ्जना, मूल घटनाओं तथा मुख्य पात्रों द्वारा होती है। जायसी के समान प्रसाद कहीं भी अप्रस्तुत को इतनी दूर तक नहीं बढ़ा ले जाते कि प्रस्तुत पक्ष बिल्कुल छूट जाय।

> "तुम्ह सो कोई न जीता, हारे बररुचि भोज।
> पहिले आपु जो खोवै करै तुम्हार सो खोज।"

कामायनी का दार्शनिक तथ्य

(रामलाल सिंह)

किसी भी ग्रन्थ का साध्य उसके उपक्रम, अभ्यास, अपूर्वता तथा उपसंहार के आधार पर निर्दिष्ट किया जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार सर्वप्रथम कामायनी के आरम्भ पर विचार करना चाहिए। बुद्धिवाद के विरोध का किञ्चित् आभास ग्रन्थ के आरम्भ मे ही मिलता है। मनु पिछली बातें सोचते-सोचते शिथिल या निराश हो जाते हैं। यह चिन्ता, बुद्धि या मति का ही परिणाम है। यहाँ मनु की वृत्ति आत्मोन्मुखी नहीं, विषयोन्मुखी है ? वे आत्मा की पूर्णता बहिर्जगत् में खोजते हैं। उन्हें यह ज्ञात नहीं कि बाहर भीतर आनन्दघन शिव के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं। सब विषयों में, सब स्थितियों में जहाँ तक मन की गति हो सकती है वहाँ आत्मानन्द प्रतिष्ठित है। प्रलय की स्थिति में उस निर्जन प्रदेश में अपने को एकाकी पा कर मनु अत्यन्त दुखी हैं। श्रद्धा आ कर समरसता के सिद्धान्त द्वारा मनु का दुःख कम करती है। समरसता या आनन्दवाद का हल्का पुट यहीं सर्वप्रथम मिलता है :—

दुःख की पिछली रजनी बीच,
विकसता सुख का नवल प्रभात।
एक परदा यह झीना नील,
छिपाये है जिसमें सुख गात॥
नित्य समरसता का अधिकार,
उमड़ता कारण जलधि समान।
व्यथा से नीली लहरों बीच,
उमड़ते सुख मणिगण द्युतिमान॥

प्रसाद ने यहाँ स्पष्ट बतलाया है कि सुख या आनन्द की सत्ता ही

आनन्दार्थ उसकी विरोधी वृत्तियों में समरसता की आवश्यकता है। यह सामरस्य ही का प्रभाव है कि श्रद्धा प्रत्येक स्थिति में आनन्दित रहती है। मनु उसके अभाव में इधर-उधर भटकते फिरते हैं। उनका व्यक्तिगत तथा समाजगत जीवन दुःखपूर्ण अशान्त तथा आकुल रहता है। मानव और प्रकृति की समरसता कवि ने अन्तिम तीन सर्गों में दिखलाई है। श्रद्धा द्वारा कर्म ज्ञान और इच्छा का सामरस्य दिखला कर कवि ने अपने सिद्धान्त को अत्यन्त व्यावहारिक तथा वैज्ञानिक बनाने का प्रत्यन किया है। इस प्रकार महाकाव्य के भीतर समरसता के सिद्धान्त का बार-बार अभ्यास देख कर यह प्रतीत होता है कि ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय समरसता या तत्प्रसूत आनन्दवाद ही है क्योंकि कवि जिस विषय का प्रतिपादन किसी काव्य में करना चाहता है उसी को बार-बार दुहराता है।

अब ग्रन्थ की अपूर्णता पर विचार करना चाहिए। शैवागमों के प्रत्यभिज्ञा दर्शन से प्रसाद ने समरसता का सिद्धान्त लिया है। वहाँ शिव-शक्ति के सामरस्य से उत्पन्न आनन्द तथा उल्लास का वर्णन है "शिवसूत्रविमर्शनी" में सामरस्य का सिद्धान्त अधिक आया है; उसका एक उदाहरण देना उचित है :—

"परैव सूक्ष्म्या अमाकलारूपा कुण्डलिनी शक्तिः शिवेन सह परस्पर सामरस्यरूप मध्यमध्यकभावात्मकम् सङ्घट्टमासाद्य उत्थिता सति इच्छाज्ञानक्रियाश्रित्य रौद्रित्वम् उन्मुद्रयन्ती वर्णशरीरं उद्भासयति।" अर्थात् शिव-शक्ति मध्यमध्यक भाव से परस्पर सङ्घटित हो कर इच्छा, कर्म, ज्ञान तीनों में सामरस्य ला कर उल्लास या आनन्द का नवनीत उत्पन्न करते हैं। यह आनन्द बिलकुल आध्यात्मिक है; परन्तु प्रसाद के सामरस्य में शिव और शक्ति का ही परस्पर सामरस्य नहीं प्रत्युत शक्ति की विरोधी वृत्तियों की भी समरसता है। इसलिए 'कामायनी' के आनन्दवाद में आध्यात्मिकता व्यावहारिक हो जाती है। यही उसके सिद्धान्त की अपूर्वता है। दर्शन सर्ग के अन्त में शिव का ताण्डव नृत्य

'कामायनी' के आनन्दवाद का प्रतीक है। साधारण पाठक को शिव का ताण्डव नृत्य अप्राकृतिक नग्न जान पड़ता है परन्तु यथार्थतः यह समरसता के सिद्धान्त की सम्पूर्णता के लिए रक्खा गया है। समरसता की प्रतीक श्रद्धा का पूर्ण प्रत्यभिज्ञान जब मनु को हो जाता है तभी उनमें समरसता की भावना जगती है और उन्हें शिव का आनन्दपूर्ण ताण्डव नृत्य चारों ओर दिखलाई पड़ने लगता है। सारा विश्व समरस अखण्ड आनन्द में परिपूर्ण हो जाता है। उस आनन्द को प्राप्त करने पर मनु को पूर्ण तृप्ति तथा शान्ति मिलती है। उन्हें फिर किसी और वस्तु की इच्छा नहीं रहती। वस्तुतः यही आनन्द का वास्तविक और पूर्ण रूप है। 'य लब्ध्वा नेतरम् मानति' जिसको प्राप्त कर किसी इतर वस्तु की आकांक्षा नहीं रह जाती। यथार्थतः ग्रन्थ का उपसंहार तो यहीं हो जाता है; परन्तु इसका पूर्ण निर्वाह या समन्वय स्पष्ट करने के लिए प्रसाद ने अन्तिम दो सर्गों की रचना की है। रहस्य सर्ग में तो कवि ने मानो मानव-जीवन के आनन्द का रहस्य खोल दिया है। मानव-जीवन की इच्छाएँ जब पूरी हो जाती हैं तभी आनन्द की प्राप्ति होती है; परन्तु जब तक कर्म, ज्ञान तथा इच्छा में श्रद्धा द्वारा सामरस्य नहीं उत्पन्न होता तब तक जीवन की इच्छाएँ पूरी नहीं हो सकतीं और फलतः जीवन आनन्दमय नहीं हो सकता। इसीलिए रहस्य सर्ग में श्रद्धा-द्वारा कर्म, ज्ञान तथा इच्छा का समन्वय दिखाया गया है। अन्तिम सर्ग तो आनन्द नाम से ही अभिहित है; जहाँ 'अहं' का 'इदम्' में पूर्णतया पर्यवसान है; पुरुष तथा प्रकृति का पूर्ण सामरस्य है। भेद का पूर्ण अभाव है। जड़ और चेतन सभी समरस हैं। काव्य के सभी पात्र उस आनन्द में लीन हैं—

"शापित न यहाँ है कोई, तापित पापी न यहाँ है।
जीवन वसुधा समतल है, समतल है जो कि जहाँ है।"

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हो गया है कि कामायनी का साध्य-विषय श्रद्धामूलक आनन्दवाद है। इसके दर्शनिक आधार तथा स्वरूप के

विवेचन के पूर्व यह जान लेना उचित होगा कि प्रसाद ने इसे अपनाया क्यों ? इसका उत्तर 'काम' सर्ग में कवि ने स्वयं दे दिया है। सच्चिदानन्द शिव के सत्, चित् स्वरूप का दर्शन अत्यन्त कठिन है। सत्स्वरूप लोभ से आवृत रहता है 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखं'। इस पिधान या परदे को हटाने में सब समर्थ नहीं होते—

"सौन्दर्यमयी चञ्चल कृतियाँ,
बन कर रहस्य हैं नाच रहीं।
मेरी आँखों को रोक वहीं,
आगे बढ़ने में जाँच रहीं॥"

सत्स्वरूप बाह्य सौन्दर्य के परदे में छिपा है। हिरण्मयी बाह्य-सुन्दरता का आकर्षण इतना तीव्र होता है कि वह दृष्टि को मोह में बाँध लेता है, आलोक मूर्च्छित हो जाता है, आँखें अन्तः-सौन्दर्य के दर्शन में बाह्य-सौन्दर्य भेदन का प्रयत्न करते करते थक कर रोने लगती हैं—आगे बढ़ने ही नहीं पातीं। इस पिधान को हटा कर अन्तर्निहित सत्-स्वरूप का दर्शन करना किसी रहस्यवादी ही का काम है। शिव का चित्-स्वरूप भिन्न-भिन्न मत-मतान्तरों के आवरण से आवृत है। सभी साधक या दर्शक अपने-अपने पथ या मत से उसका द्वार खोलना चाहते हैं परन्तु जितने दर्शन बनते हैं उतने आवरण चढ़ते जाते हैं। कोई कुछ कहता है कोई कुछ। इस प्रकार उसका रूप और भी गूढ़ होता जा रहा है—

"सब कहते हैं खोलो खोलो,
छवि देखूँगा जीवनधन की।
आवरण स्वयं बनते जाते,
है भीड़ लग रही दर्शन की।"

ये दर्शन किस प्रकार बनते हैं इसको भी प्रसाद ने 'कर्म' सर्ग में बताया है—

"मन जब निश्चित-सा कर लेता,
कोई मत है अपना।

बुद्धि देवबल में प्रमाण था,
सतत निरखता सपना॥
सदा समर्थन करती उसकी
तर्कशास्त्र की पीढ़ी।
ठीक यही है सत्य यही है
उन्नति सुख की सीढ़ी॥"

सभी मत मतान्तर तर्क के द्वारा उसका (चित् का) द्वार खोलना चाहते हैं, परन्तु वह तो तर्क या बुद्धि द्वारा कभी प्राप्त नहीं हो सकता—

"सब बातों में खोज तुम्हारी
रट सी लगी हुई है॥
किन्तु स्पर्श से तर्क करों के
बनता छुई-मुई है॥"

इन तर्क जनित भिन्न-भिन्न मत मतान्तरों का निराकरण करने में जो समर्थ हो वही चित्-स्वरूप का दर्शन कर सकता है। शिव के आनन्द तत्त्व पर अवगुंठन रहता है। इसलिए वह प्रकाशाप्रकाश रूप में रहता है। कुछ छिपा और कुछ खुला रहता है। इस अवगुंठन को दूर कर देना कवियों का काम है। कोई कवि कहता है 'घूँघट के पट खोल तोहि राम मिलेंगे भाई'। अस्तु, प्रसाद ने कवि के प्रकृत धर्म के अनुसार ही आनन्द तत्त्व को ग्रहण किया है। वे उस आनन्द स्वरूप के ऊपर पड़े हुए अवगुंठन को खोलना चाहते हैं—

"चाँदनी-सदृश खुल जाय कहीं
अवगुंठन आज सँवरता सा।
जिसमें अनन्त कल्लोल भरा
लहरों में मस्त विचरता सा॥"

इस श्रद्धामूलक आनन्दवाद को अपनाने में कवि पर वर्तमान युग का भी कुछ प्रभाव पड़ा है। बुद्धिवाद की मरीचिका में आनन्द-सरोवर की कल्पना करने वाले बुद्धिवादियों को मृग-सदृश प्रताड़ित होते देख उनको

उचित पथ बताने के लिए कवि की आत्मा तड़प उठी है। आनन्द की ओर अग्रसर करनेवाला तत्त्व श्रद्धा है, बुद्धि नहीं। आनन्द की खोज में बुद्धि द्वारा मानव ने नाना प्रकार के सुखप्रद वैज्ञानिक यन्त्रों का आविष्कार किया; उनसे उसकी शक्तियाँ भी बढ़ीं, वह नाना कर्मजालों में फँसा। परन्तु इससे उसे मिला क्या? वैषम्य, सङ्घर्ष, विश्वयुद्ध तथा घोर अशान्ति। अस्तु, कामायनी के आनन्दवाद में आधुनिक युग के आर्त स्वर का प्रत्युत्तर भी व्यंग्य रूप में छिपा है।

कवि-कर्म तथा युग-धर्म की अनुकूलता आनन्दवाद में देखने के पश्चात् अब यह देखना चाहिए कि जीवन से इसका क्या सम्बन्ध है? यह कवि के जीवन की सच्ची अनुभूति है या कल्पना का प्रसाद मात्र। जीवन मे प्रायः दो प्रकार के आनन्दवादी देखे जाते हैं। पहले प्रकार के आनन्दवादी, विपरीत परिस्थितियों के बीच नाना प्रकार के विघ्नों से पुनः पुनः प्रताड़ित होने पर भी अपने कार्य तथा उत्तरदायित्व का पूर्ण सम्पादन करते हुए, विश्व से तटस्थ हो, प्राणि-मात्र के साथ मैत्री-भाव रखते हुए आनन्दित रहते हैं। दूसरे प्रकार के आनन्दवादी वे हैं जो दायित्वहीन तथा कर्त्तव्यपराङ्मुख हो कर आनन्द में निमग्न रहते हैं। प्रसाद पहले प्रकार के आनन्दवादी थे। दुःखवादियों की तरह उन्होंने संसार की कुत्सा कभी नहीं की। इसी आनन्द का प्रभाव कवि के जीवन पर पड़ा और यही उनके साहित्य में भी साध्य रूप में प्रकट हुआ।

प्रसाद ने अपने 'रहस्यवाद' नामक निबन्ध में यह बतलाया है कि जीवन में यथार्थ वस्तु आनन्द है। ज्ञान से या अज्ञान से मनुष्य उसी की खोज में लगा है। लेखक ने वहीं पर आनन्दवाद की उत्पत्ति वैदिक काल में आत्मवाद से दिखला कर आनन्द-भावना का सम्बन्ध हमारे संस्कारों से जोड़ा है। प्राचीन आर्य लोग सदैव से अपने क्रिया-कलापों में आनन्द, उल्लास और आमोद के उपासक रहे और आज के भी अन्यदेशीय तरुण आर्य सङ्घ आनन्द के मूल संस्कार से संस्कृत और दीक्षित हैं। आनन्द-भावना, प्रमोद, प्रियकल्पना, उल्लास आदि

अविरुद्ध कुछ तर्कमूलक उद्भावनायें भी की गईं। आनन्द-प्राप्ति के लिए समरसता का सिद्धान्त साधन माना गया—

जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम्।
मित्रयोरिव दम्पत्योर्जीवात्मपरमात्मयोः॥

अद्वैत की भूमिका पर भक्ति की मधुर कल्पना की गई। यह भक्ति; भेद-भाव, द्वैतभावना तथा जीवात्मा-परमात्मा की भिन्नता को नष्ट करने वाली थी।

समाधिवज्रेणाप्यन्यैरभेद्योभेदभूधरः।
परामृष्टश्च नष्टश्च त्वद्भक्तिबलशालिभिः॥

अद्वैतवाद के इस नवीन विकास में प्रेमा-भक्ति की योजना तैत्तिरीयोपनिषद् के आधार पर हुई। आगे चल कर उसमें सौन्दर्य-भावना की भी प्रतिष्ठा हुई है।

भुत्वापि शुद्ध चैतन्मात्मा नयति सुन्दरम्।

(अष्टावक्रगीता)

इन आगमानुयायियों ने पाशुपत योग की प्राचीन साधना-पद्धति के साथ-साथ आनन्द की योजना करने के लिए काम-उपासना-प्रणाली भी दृष्टांत रूप में स्वीकृत की। उसके लिए श्रुतियों का आधार लिया।

'आत्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराट् भवति'।

इन शैवागमों ने विश्व को आत्मा का अभिन्न अङ्ग मान लिया। संसार को मिथ्या मान कर असम्भव कल्पना के पीछे भटकने की यहाँ आवश्यकता नहीं थी। दुःखवाद से उत्पन्न संसार से विराग लेने की आवश्यकता नहीं समझी गई। इन साधकों में जगत् और आत्मा की व्यावहारिक अद्वयता से आनन्द की सहज भावना विकसित हुई। वे कहते हैं—

त्वमेव स्वात्मानं परिणमयितुं विश्ववपुषा।
चिदानन्दाकारं शिव युवति भावेन विभृषे॥

(सौन्दर्यलहरी ३५)

आगमानुयायी स्पन्दशास्त्र के अनुसार प्रत्येक भावना में, प्रत्येक परिस्थिति

में आत्मानन्द प्रतिष्ठित है। उनकी अद्वैतसाधना के अनुसार सब विषयों में तथा इन्द्रियों के सभी कर्मों में शिव है। कहीं भी अशिव नहीं। इसलिए इनके यहाँ 'मनो दुर्निग्रहम् चलम्' समझ कर निराश होने की आवश्यकता नहीं। आगे चल कर पौराणिक युग में कृष्ण में बुद्धिवाद और आनन्दवाद का समन्वय मिलता है। पौराणिक युग के पश्चात् शैवागमों का विश्वात्मवाद बौद्धों की महायान शाखा में दिखलाई पड़ा; जब वे बौद्धमत की शून्यता से ऊब कर आनन्द की खोज में लगे। किन्तु फिर भी उनके यहाँ आनन्दवाद अपने संकुचित रूप में ही रहा। इसके बाद अद्वैतमूलक आनन्दवाद की धारा सिद्धों के रहस्य-सम्प्रदाय में हुकनागरि, रमानागरि आदि कवियों की लेखनी में बहती रही। इन सिद्धों की छाप हिन्दी के निर्गुणवादी कवि दादू कबीर आदि पर भी पड़ी, परन्तु उनके राम में विवेकवाद की ही प्रधानता रही। आनन्दवाद का क्रमिक इतिहास दिखाने का तात्पर्य यही है कि आनन्दवाद की धारा भारतवर्ष में प्राचीनकाल से ही कभी तीव्र कभी मन्द गति से बहती चली आ रही है। प्रसाद का आनन्दवाद कोई नई या विदेशी वस्तु नहीं है। बुद्धिवाद का यह विरोध भी अनातोल फ्रांस का नहीं है वरन् वैदिक काल से ही चला आ रहा है। हिन्दू संस्कृति में श्रद्धातत्त्व सदा प्रधान तथा बुद्धितत्त्व सदा गौण रहा है। इसका समर्थन निगम, आगम, पुराण, गीता आदि सभी धार्मिक ग्रन्थ करते हैं। वस्तुतः आनन्दवाद की प्रेरणा प्रसाद को इन्द्र* के आत्मवाद से मिली परन्तु इसका मुख्य आधार शैवागमों का प्रत्यभिज्ञा दर्शन है। 'कामायनी' में श्रद्धा का भावात्मक स्वरूप, समरसता का सिद्धांत, त्रिपुर (इच्छा, ज्ञान और क्रिया) का समावेश, श्रद्धा द्वारा तीनों का सम्मिलन आदि शैवागमों से लिया गया है। शृङ्खला मिलाने के लिए यत्र तत्र उपनिषदों को भी आधार रूप में ग्रहण किया है। बौद्ध धर्म की आनन्दवादी महायान शाखा का भी प्रभाव कामायनी के दो-

---

* कोषोत्सव स्मारक संग्रह—'आर्यों का प्रथम सम्राट् इन्द्र'।

एक स्थलो पर दिखाई पड़ता है। मूल स्रोतो या आधार की चर्चा का तात्पर्य यह नहीं कि वे गतानुगतिक थे। 'प्रस्थानभेदात् दर्शनभेदः' के अनुसार गन्तव्य या साध्य एक होते हुए भी प्रस्थान-भिन्नता से दर्शन में नवीनता आ सकती है। प्रत्येक विचारक या विज्ञ का प्रस्थान अलग-अलग होता है। स्वतंत्र बुद्धि रखने वालों की ही दर्शन मे गति हो सकती है। 'मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः' के लिए दार्शनिक क्षेत्र में स्थान नहीं। प्रायः सभी दर्शनो का सत्य एक ही होता है। द्रष्टा की दृष्टि में भेद होने के कारण दर्शनों मे भेद हो जाता है। अस्तु इन दर्शनो पर विचार करते समय हमें यह देखना चाहिए कि गन्तव्य या साध्य स्थान पर पहुँचने के लिए कौन पथ सरल है, कौन वक्र। आरम्भ में ही यह बताया जा चुका है कि प्रसाद का पथ आनन्दवाद किस प्रकार अन्य मार्गों से सरल है।

अब 'कामायनी' के आनन्दवाद के स्वरूप पर विचार करना चाहिए तथा साथ ही उसकी नवीनता, मौलिकता एवं विशेपता का उद्घाटन भी। प्रसाद तैत्तिरीय उपनिषद् के 'अयमात्मा परानन्दः' के अनुसार आत्मा को आनन्द-स्वरूप मानते हैं। आनन्दमय जीवन कैसे हो; यही मनु तथा श्रद्धा के चरित्र द्वारा बताया गया है। मनु आनन्द की खोज में श्रद्धा से अलग हो कर इधर-उधर भटकते है; बुद्धि (इडा) के मोह-पाश में पड कर आनन्द-प्राप्ति की आशा करते हैं, किन्तु परिणाम उल्टा होता है; आनन्द के स्थान पर संघर्ष, कलह तथा अशान्ति मिलती है। अन्ततोगत्वा बुद्धि को छोड कर भागते हैं और जब तक श्रद्धा के पास नहीं आते तब तक उन्हें शान्ति या आनन्द नहीं मिलता। 'श्रद्धया सत्यमाप्नुते' के अनुसार मनु को श्रद्धा द्वारा ही आत्मा के सत्य स्वरूप आनन्द की प्राप्ति होती है। मुण्डक उपनिषद् के अनुसार भी आत्मानन्द की प्राप्ति का साधन श्रद्धा ही है। आत्मा श्रद्धावान् को ही सदा वरण करती है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि प्रसाद का विरोध कर रहे हैं। क्योंकि ज्ञान-प्राप्ति का भी साधन श्रद्धा ही है अतः यदि श्रद्धा तत्त्व

किसी के जीवन में आ गया तो बुद्धि या ज्ञान तत्त्व तज्जन्य होने के कारण स्वयं आ जायगा। 'स्वच्छन्दतन्त्र' के अनुसार भी श्रद्धा से ही सब विद्यायें आती हैं। 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानं' (गीता) के अनुसार भी श्रद्धावान् ज्ञान प्राप्त कर ही लेता है। मनोविज्ञान के अनुसार भी श्रद्धा में विवेक तत्त्व रहता ही है। अकेले रहने पर ज्ञान* बन्धन का कारण हो जाता है। बुद्धि स्वयं आ कर भेद नहीं डालती। जब मन स्वयं श्रद्धा-रहित हो बुद्धि की ओर आकृष्ट होता है तब भेदत्व बनता है। श्रद्धा के पास रहने पर मनु को बुद्धि का आकर्षण नहीं होता। मनु शरीर से श्रद्धा के पास रहते हुए भी जब तक उससे हृदय से दूर हैं तब तब उनके हृदय में भेद-बुद्धि रहती है। बुद्धि से क्षमता प्राप्त हो सकती है, परन्तु उसका उपयोग तभी होगा जब श्रद्धाभाव से प्रेरणा मिलेगी। श्रद्धा के अभाव में बुद्धि की सारी क्षमता, सारे नियम, सम्पूर्ण व्यवस्था—सभी बेकार हैं। बुद्धि (इड़ा) नियम बनाती है, परन्तु मन श्रद्धा के अभाव में उसका पालन नहीं कर सकता। अगर बुद्धि (इड़ा) ही सब कुछ होती तो वह जो कुछ कहती वह मन मान लेता, पर उसमें कुछ कमी है जिससे उसकी बातों को मन [मनु] नहीं मानता। जिस बात को कोई हृदय (श्रद्धा) से माने बैठा है उसे बुद्धि द्वारा सैकड़ों तर्क उपस्थित किये जाने पर भी वह उसे नहीं छोड़ सकता। ऐसा होते हुए भी जो बुद्धि से विशेष सुख की इच्छा करता है वह मनु के समान दुःख पाता है। सारांश यह कि आनन्द की प्राप्ति श्रद्धा-रहित बुद्धि द्वारा कभी नहीं हो सकती जैसा कि हम इस युग में देख रहे हैं। इस प्रकार प्रसाद के आनन्दवाद में बुद्धिवाद का घोर विरोध है पर बुद्धि का नहीं, क्योंकि आनन्दप्राप्ति के मूल उपादान श्रद्धा में उतनी बुद्धि आ ही जाती है जिससे विशृङ्खलता न उत्पन्न हो।

अब देखना यह चाहिए कि आनन्दवाद के मूल उपादान श्रद्धा

---

*'ज्ञानं' बन्धः—शिवसूत्रविमर्शिनी ?

का कैसा स्वरूप कामायनी मे रखा गया है। व्युत्पत्तितः श्रद्धा हृदय के सभी भावों की प्रतीक है। श्रत्+धा (हृत्+धा) जिसमें हृदय स्थापित किया जा सके। गीता तथा प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में श्रद्धा हृदय के सभी भावों के प्रतीक रूप मे मानी गई है। तभी तो वहाँ श्रद्धा की तीन कोटियाँ हैं—सात्त्विक, राजस तथा तामस। परन्तु प्रसाद ने कामायनी मे केवल श्रद्धा का सात्त्विक रूप रखा है। कामायनी की श्रद्धा हृदय के उदात्त भावों—दया, माया, ममता, त्याग, सेवा, सहानुभूति, विश्वास आदि की प्रतीक है। यहाँ श्रद्धा आत्मोन्मुखी वृत्ति के रूप मे आती है। स्थान-स्थान पर कवि ने पात्रो द्वारा श्रद्धा को 'अमृतधाम' 'कल्याण-भूमि' 'संसृति की व्यापक रहस्य', 'सर्वमंगले' 'विश्वमित्र' आदि नामों से अभिहित किया है, जिससे अवगत होता है कि कवि ने मानव-जीवन मे श्रद्धा को सबसे ऊँचा स्थान दिया है। जब वह सृष्टि के मूल कारण काम की पुत्री है तो वह सृष्टि के विकास का उपादान क्यों न बने। श्रद्धा का यह सात्त्विक तथा विराट रूप कवि ने तन्त्रों के आधार पर निर्माण किया है, जहाँ वह जगत् की धात्री मानी गई है।

श्रद्धा हि जगताम् धात्री श्रद्धा हि सर्वस्य जीवनं

* * * *

तस्मात् श्रद्धाम् समाश्रित्य लोकः सर्वं प्रवर्तितः।

'त्रिपुरारहस्य'

ज्ञानखण्ड छठा अध्याय

महाकाव्य का सम्पूर्ण भवन श्रद्धा के सात्त्विक स्वरूप पर खड़ा है। इसका विराट स्वरूप, ताण्डव नृत्य के उत्पन्न करने मे तथा स्मिति मात्र से त्रिपुरो के मिलाने मे दिखलाई पड़ता है। श्रद्धा-द्वारा त्रिपुरो को मिलाने की प्रेरणा कवि को तन्त्रों से ही मिली।

त्रिपुरानन्तशक्त्यैक्यरूपिणी सर्वसाक्षिणी

अर्थात् सर्वसाक्षिणी श्रद्धा अपनी अनन्त शक्ति द्वारा त्रिपुरो को एक रूप करने मे समर्थ है।

श्रद्धा के अभाव में मानव या संसार की क्या दशा होती है इसका भी वहाँ विशद वर्णन है :—

स भवेत् सर्वतो हीनो यः श्रद्धारहितो नरः।
श्रद्धा चेन्न्यूर्ययोगेन विनश्येज्जगतामृ स्थितिः॥
त्रिपुरारहस्य ज्ञानखण्ड ६

श्रद्धा के अभाव में सारस्वत नगर की क्या दुर्दशा हुई वह महाकाव्य में प्रकट ही है। त्रिपुरारहस्य में श्रद्धा अमृतलोक तथा सुख देने वाली मानी गई है।

तस्माच्छ्रद्धामृते लोकोऽवसीदेद्श्वमन्।
तस्माच्छ्रद्धा दृढां प्राप्य सुखमात्यंतिके व्रज॥

प्रसाद ने भी श्रद्धा को अमृतधाम के रूप में उपस्थित किया है।

श्रद्धा किस पर करनी चाहिए किस पर नहीं, इस बात का भी वहाँ उल्लेख है—

"तस्मात् सत्स्वेव कर्तव्या श्रद्धा नासत्सु कुत्रचित्"।

इस दृष्टि से प्रसाद ने कामायनी में 'श्रद्धा' को ही श्रद्धेय बताया है। गीता ने भी 'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः' 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः' के द्वारा श्रद्धा को पुरुषार्थ का मूल कारण माना है। जिसमें जितनी अधिक श्रद्धा की प्रचुरता होगी वह उतना ही अधिक पुरुषार्थी होगा, और जो जैसी श्रद्धा करेगा वह वैसा ही होगा। प्रलय के उपरान्त निश्चेष्ट मनु श्रद्धा के ही संयोग से पुरुषार्थ में प्रवृत्त होते हैं।

यत् श्रद्धया करोति तत् वीर्यवत्तरं भवति।

जो जितना ही अधिक श्रद्धामय होगा वह उतना ही अधिक वीर्यवान् होगा। चरित्र का मूलाधार भी श्रद्धा ही है क्योंकि चरित्र-निर्माण प्रेरणा से होता है और प्रेरक वस्तु श्रद्धा या हृदय ही है, बुद्धि नहीं। लाख नियम बनाने पर भी जब तक श्रद्धा नहीं होती तब तक किसी काम का सम्पादन कोई नहीं कर सकता। श्रद्धा के स्वरूप की पूर्ण स्पष्टता के लिए श्रद्धा के आत्म-संगीत की संक्षिप्त व्याख्या यहाँ आवश्यक जान

पड़ती है। श्रद्धा का भाव इतना प्रबल होता है कि अस्त्र-शस्त्र या शारीरिक शक्ति-द्वारा कोई किसी के शरीर पर अधिकार कर ले किन्तु उसकी श्रद्धा पर अधिकार नहीं कर सकता। चेतना जब मूर्छित होने लगती है तो श्रद्धा उसे क्रोड में ले कर सहलाती है। चेतना को कार्य में व्यापृत करनेवाली भी श्रद्धा ही है। जब किसी के जीवन में व्यथाओं का तिमिर छा जाता है, तब श्रद्धा उषा के समान प्रकाश करती है। भव-आतप की ज्वाला से झुलसते हुए लोगों के लिए श्रद्धा वसन्त की राका-रजनी के समान सुखद तथा शान्तिप्रद है। श्रद्धा के विषय में प्रसाद की भावना इनके अन्य ग्रन्थों में भी ऐसी है। स्कन्दगुप्त से एक उदाहरण लीजिए—

"घने प्रेम तरुतले
बैठ छाँह लो भव आतप से तापित और जले।
छाया है विश्वास की श्रद्धा सरिता कूल।"

विश्वास रूपी छाया प्रदान करने वाले प्रेम तरु को अभिषिक्त करने के लिए श्रद्धा सरिता के समान है अर्थात् श्रद्धा ही से प्रेम और विश्वास दोनों उत्पन्न होते हैं। श्रद्धा के दर्शन से मनु को शिव का ताण्डव नृत्य दिखा कर तथा त्रिपुरों को मिला कर प्रसाद ने उसे परात्पर शक्ति के रूप में प्रकट किया है, जिसके बारे में शैवागमों ने एक स्वर से कहा है, कि—

"शक्तया विना परे शिवे नाम धाम न विद्यते।"

भक्त-शिरोमणि तुलसीदास भी अन्तस्थ ईश्वर का दर्शन श्रद्धा बिना असम्भव मानते हैं।

"भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्याम् विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तस्थमीश्वरम्।"

ईसाई मतवाले श्रद्धा के एकांशिक रूप 'विश्वास' पर ही धर्म को निर्भर मानते हैं अर्थात् श्रद्धा बिना धर्म तथा पारलौकिक उन्नति सम्भव नहीं। इन्हीं आधारों के बल पर प्रसाद श्रद्धा को लौकिक तथा

अलौकिक दोनों आनन्दों की जननी मानते हैं।

कामायनी का आनन्दवाद आत्मवाद की भित्ति पर खड़ा है, जिसका इतिहास पहले दिखाया जा चुका है। अतएव यहाँ आत्मवाद के प्रधान सिद्धान्तों पर विचार करना चाहिए कि वे किस प्रकार आनन्दोत्पत्ति में सहायक हैं। आत्मवाद का प्रधान सिद्धान्त है 'सोऽहम्' मैं वही हूँ। प्रसाद "ईश्वर अंश जीव" वाला सिद्धान्त नहीं मानते। 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' के अनुसार वे अपने को सर्वत्र देखते हैं। इस प्रकार आत्मवाद अभेद दृष्टि लाता है—

"अस्मद्रूप-समाविष्टः स्वात्मनात्मनिवारणे।
शिवः करोतु निजया नमः शक्त्या ततात्मने।"

(शिवदृष्टि)

यहाँ उपास्य और उपासक में भेद नहीं। उपासक (जीव) बाह्य संसार के प्रभाव में आ कर अपने वास्तविक रूप को भूल जाता है। अपनी संवेदनात्मक अनुभूति के द्वारा उस शिव तत्त्व (आनन्द तत्त्व) का प्रत्यभिज्ञान करना ही जीवन का चरम लक्ष्य है। व्यक्ति की आत्मा में माहेश्वरी शक्ति है, किन्तु वह उपाधि-युक्त होने के कारण संकुचित या सुप्त हो जाती है। जब वह अपनी चेतना के विस्फार द्वारा विश्वात्मा के सभी गुणों—'मैं संसार का हूँ, संसार मेरा है, मेरा यथार्थ रूप सच्चिदानन्द है, लोक-मङ्गल ही मेरा धर्म है, आदि का अनुभव अपने में करने लगता है तब उसमें माहेश्वरी शक्ति जगती है और वह सोऽहं के पद को प्राप्त हो जाता है, पूर्ण आनन्दमय हो जाता है तथा कामना-रहित हो जाता है। प्रसाद शिवतत्त्व के अतिरिक्त शक्ति तत्त्व (प्रकृति तत्त्व) को मानते हैं किन्तु यह शक्ति तत्त्व अव्यक्त शिव तत्त्व से पृथक् नहीं वरन् उसका व्यक्त स्वरूप है। शिवरूप का स्फुरण प्रकृति द्वारा सृष्टि के रूप में होता है। स्पन्दनशास्त्रों में परम शिव की दो अवस्थाएँ—लयावस्था तथा भोगावस्था के नाम से अभिहित हैं। जिस समय परम शिव अपने सम्पूर्ण व्यापारों को समाप्त कर निज स्वरूप में अवस्थान

करता है उसे लयावस्था कहते हैं, और जिस समय वह सृष्टि-रूप में अपनी शक्ति का उन्मेष करता है उसे भोगावस्था कहते हैं। ये दोनों अवस्थाएँ प्रलय तथा सृष्टि रूप में कामायनी में दिखाई गई हैं। यह परम शिव या परम तत्त्व, शिव और शक्ति का सामरस्य है। इस परम शिव के दो भाव हैं विश्वात्मक तथा विश्वोत्तीर्ण। विश्वात्मक रूप से परम शिव प्रत्येक वस्तु में व्याप्त है—

"सब में घुलमिल कर रसमय
रहता वह भाव परम है।"
दर्शन सर्ग २६६

वह विश्वोत्तीर्ण रूप में विश्व के सभी पदार्थों को अतिक्रमण करता है। परम शिव का विश्वोत्तीर्ण रूप ताण्डव नृत्य के समय दिखाया गया है। परम शिव इस जगत् का उन्मीलन स्वयं अपनी इच्छा से करता है*। न उसे किसी उपादान की आवश्यकता है न किसी आधार की। जगत् पहले भी विद्यमान था। केवल उसका प्रकटीकरण सृष्टिकाल में शिव-शक्ति से सम्पन्न होता है। सिसृक्षा होते ही परम शिव के दो रूप हो जाते हैं। शिव रूप तथा शक्ति रूप। शिव प्रकाश रूप है और शक्ति विमर्शरूपिणी। अहमंश शिव है इदमंश शक्ति। बिना शक्ति के शिव के प्रकाश रूप का ज्ञान नहीं हो सकता। शिव के बिना शक्ति का कोई अस्तित्व ही नहीं, क्योंकि शिव ही बहिर्मुख होने पर शक्ति है और शक्ति ही अन्तर्मुख होने पर शिव। एक की सत्ता दूसरे पर अवलम्बित है।

'न शिवेन विना देवी न देव्या च विना शिवः।
नानयोरन्तरं किञ्चित् चन्द्रचन्द्रिकयोरिव॥

---

†श्रीमत्परमशिवस्य पुनः विश्वोत्तीर्ण-विश्वात्मक-परमानन्दमय-प्रकाशैकघनस्य अखिलभेदनैव स्फुरति। प्रत्यभिज्ञा हृदय सूत्र २

*स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति। प्रत्यभिज्ञा हृदय सूत्र २

शिव तत्त्व में शक्ति भाव गौण और शिव भाव प्रधान रहता है उसी प्रकार शक्तितत्त्व में शिव भाव गौण तथा शक्ति भाव प्रधान रहता है। तत्त्वातीत दशा में न शिव की प्रधानता है न शक्ति की, प्रत्युत दोनों की साम्यावस्था है। यही शिवशक्ति सामरस्य है। इस सामरस्य रूप को शैव लोग परम शिव तथा शाक्त लोग पराशक्ति मानते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि कामायनी में श्रद्धा पराशक्ति के अवतार रूप में दिखाई गई है। इससे यह प्रतीत होता है कि प्रसाद शक्ति-अद्वैतवाद के सन्देशवाहक हैं और इसी कारण वे 'इदम्' को 'अहम्' पर्यवसित करने का समर्थन नहीं करते प्रत्युत 'अहम्' को 'इदम्' में लीन करने की साधना स्वीकार करते हैं।

प्रसाद शांकर मत के समान जगत् को मिथ्या या सांख्य और बौद्धों की तरह दुःख-मय नहीं मानते। उसे आनन्दमूर्ति शिव का विग्रह मान कर सत्य तथा आनन्दमय मानते हैं। शांकर मत आत्मवाद की दुःख-मिश्रित धारा है, परन्तु प्रसाद का आत्मवाद आनन्द की धारा से परिप्लावित है। शांकर अद्वैत में ज्ञान की प्रधानता है; प्रसाद के अद्वैत में श्रद्धा की। प्रसाद के अद्वैत का अर्थ है दो का नित्य सामरस्य (ब्रह्म और जगत् की समरसता) परन्तु शांकर अद्वैत दो में से एक ही सत्ता को सत्य मान कर (ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या) चलता है। कामायनी में अद्वैत का सिद्धान्त, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' वाले सिद्धान्त के अनुसार जगत को सत्य मान कर, ब्रह्म और जगत में सामरस्य लाता है। इसमें जगत, आत्म-शक्ति के क्रीडागार रूप में देखा गया है। पुरुष से प्रकृति, किंवा प्रकृति से पुरुष एकान्ततः पृथक् नहीं, क्योंकि शक्ति रूप किरणराशि, शिव रूप सूर्य का स्फुरण मात्र है। अतः सृष्टि-पदार्थों का बहिर्रूप, अन्तःस्थित-प्रकाश का व्यक्त स्वरूप है। शक्ति ही अन्तर्मुख होने पर शिव है और शिव बहिर्रूप होने पर शक्ति। तब भला शक्ति रूप सृष्टि को मिथ्या कैसे माना जाय। शांकर मत में माया आवरण बन कर आती है परन्तु प्रसाद उसे माहेश्वर की कर्तृत्व शक्ति मानते हैं, जिसके

द्वारा पुरुष व्यक्त होता है। जिस प्रकार नाटक में हरिश्चन्द्र का अभिनय करनेवाला पात्र हरिश्चन्द्र को व्यक्त करता है तद्वत् पुरुष, माया को अपने आगे रख कर अपने रूप को व्यक्त करता है। ब्रह्म स्वयं अपनी शक्ति, माया के द्वारा अपने को इस प्रकार ढक लेता है, जिस प्रकार सूर्य से उत्पन्न हुआ मेघ सूर्य को। जैसे मेघ सूर्य की शक्ति का द्योतक है। इसी के आश्रय से आत्मा प्रकाश पाता है इसलिए सत्य-शक्ति से उत्पन्न होने के कारण माया भी सत्य है। इसी कारण प्रसाद निवृत्तिवादियों के समान माया अथवा तत्प्रसूत जगत् को त्यागने का आदेश नहीं देते प्रत्युत उसके संग्रह में ही जीवन की सार्थकता मानते हैं। नियति तत्त्व तथा सामरस्य सिद्धान्त के समान माया तत्त्व* को भी प्रसाद ने तंत्रों से ही ग्रहण किया है। तंत्रों में माया वस्तु रूपा है। मा का अर्थ है प्रलय में जगत् का अधिष्ठान, या का अर्थ है सृष्टि मे व्यक्त होने वाला पदार्थ।

प्रसाद की ईश्वर-विषयक भावना अद्वैतवादियों या दुःखवादी दार्शनिकों से अत्यन्त व्यापक है। बाहर-भीतर, दुःख-सुख मंगल-अमंगल किम्बहुना विषयों तक में भी वे ईश्वर की कल्पना मानते हैं।

विषयेषु च सर्वेषु इन्द्रियार्थेषु च स्थितम्।
यत्र तत्र निरूप्येत नाशिवं विद्यते क्वचित्॥

कहना नहीं होगा कि प्रसाद की दार्शनिक दृष्टि यहाँ पर इतनी ऊँची है, कि वह जन साधारण के लिए प्रयोगार्ह नहीं। वे यहाँ वाममार्गियों से मिलते-जुलते हैं। पर वे वाममार्ग के नहीं प्रत्युत दक्षिण मार्ग के अनुयायी थे जिसमें शिव की अखण्ड और सर्वव्याप्त सत्ता के रूप में संसार का ग्रहण होता है।

प्रसाद के दार्शनिक विचारों में नियति का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है।

---

* माया च वस्तुरूपा मूलं विश्वस्य नित्या सा

तत्त्वप्रकाशिका कारिका

नियति पर पर्याप्त प्रकाश प्रसाद ने अपने नाटक 'जनमेजय का नागयज्ञ' में डाला है—"कर्मफल तो स्वयं समीप आते हैं। पहले से ही उनसे भाग कर कोई बच नहीं सकता" × × अतः पुनर्जन्म के कर्म, प्रस्तुत जीवन की दिशा को निश्चित कर देते हैं इसी लिए मनुष्य को प्रसाद ने नियति का दास कहा है। "मनुष्य प्रकृति का अनुचर तथा प्रकृति का दास है।" नियतिवादी होने का तात्पर्य कर्म का त्याग नहीं प्रत्युत ग्रहण है। प्रसाद नियति को पूर्वजन्म के कर्मों का फल अर्थात् प्रारब्ध मानते हैं। कर्मफल के नियत होने से ही मनुष्य नियति का दास है। नियति पर विश्वास रखने से जीवन में अहङ्कार का प्रवेश नहीं हो सकता। नियति तत्त्व भी प्रसाद ने तंत्रों से ही लिया है। वहाँ नियति का अर्थ है "नियमन हेतु" अर्थात् जीव की स्वातन्त्र्य-शक्ति को तिरस्कृत कर उसे एक निश्चित नियम-पथ पर चलाने वाला तत्त्व नियति तत्त्व कहलाता है जिसके कारण वह निश्चित कार्यों के करने में प्रवृत्त होता है। शैवागमों में नियति का नाम कंचुकों के अन्तर्गत लिया गया है। वहाँ नियति माया की सतति कही गई है और माया शिव की कर्तृत्व शक्ति। अतः परम्परया नियति की उत्पत्ति शिव से ही है। वह कर्मफल देनेवाली शिव-शक्ति है। नियतिवाद जीवन का असंतोष घटाता है, क्योंकि पहले से ही जो बात निश्चित है वह हो कर ही रहेगी तो फिर असंतोष और आकुलता की क्या आवश्यकता? नियति पर विश्वास करने से असंभावित कार्य फल होने पर भी मनुष्य असन्तुष्ट नहीं होता। वह यह नहीं सोचता कि यदि ऐसा किया होता तो ऐसा होता, क्योंकि वह जानता है कि जो पहले से निश्चित था वही हुआ। इस प्रकार से नियतिवादी न तो सफलता पर अभिमान करता है और न असफलता पर दुःख। वह नियति को कर्मफलदायक समझ कर सदा आनन्दित रहता है।

अब 'कामायनी' की समरसता का सिद्धान्त लीजिए। दो विपक्षी या विरोधी वस्तुओं के द्वन्द्व का अभाव ही समरसता है जिससे दोनों वस्तुएं

समरस या समभाव जान पड़ती हैं। उनमें एकरसता आ जाती है। द्वन्द्व के अभाव से उनमें समन्वय स्थापित हो जाता है। गीता मे इसी को समत्व भावना कहते हैं, जहाँ विरोधी वृत्तियों का समीकरण होता है। योगियों के यहाँ इसे निर्विशेष स्थिति कहते हैं, जिसमें जीव और ब्रह्म में एकरसता आ जाती है। शैवागमो में इसी को चिदानन्द प्राप्ति कहते हैं जहाँ शिव और शक्ति का सामरस्य होता है। अन्य दर्शनो ने इसी स्थिति को सर्व-भाव या परम भाव के नाम से अभिहित किया है। कहना नहीं होगा कि प्रसाद को समरसता की प्रेरणा शैवागमों से ही मिली परन्तु वह आध्यात्मिक सिद्धान्त यहाँ व्यावहारिक रूप में गृहीत हुआ है। हमारे जीवन मे दुःख, दैन्य, संघर्ष, विषमता, क्षुब्धता तथा अशान्ति क्यों है? समरसता न होने के कारण। सामरस्य के अभाव में हम दुःख-सुख से अभिभूत हो आत्मा के आनन्द स्वरूप को भूल जाते हैं। सुख, दुःख वस्तुतः मन का धर्म हैं। मन के सुख-दुःखात्मक द्वन्द्व की छाया जब आत्मा पर पडती है तब वह मलिन हो कर निरानन्द हो जाता है। हम भ्रम से स्थूल का आरोप आत्मा पर कर के उसके वास्तविक स्वरूप आनन्द को भूल जाते हैं। सुख हमारे जीवन का चरम लक्ष्य या चरम पुरुषार्थ नहीं; प्रत्युत इसके परे रहने वाला, आनन्द है। सुख स्थूल शरीर का धर्म है इसलिए वह हमारा साध्य नहीं, हमारा साध्य आनन्द होना चाहिए, क्योंकि इसकी प्राप्ति करना आत्मा का वास्तविक स्वरूप जानना है। अस्तु आनन्द प्राप्ति के लिए मानसिक क्रियाओं में सामरस्य स्थापित करना चाहिए। सामरस्य स्थापित हो कैसे? जब द्वन्द्व मिट जाय। द्वन्द्व मिटे कैसे? जब हमारे अन्दर अभेद-दृष्टि उत्पन्न हो जाय; जब हम प्रत्येक स्थिति में आनन्दमय शिव का दर्शन करने लगें, हमारी अन्तर्मुखी तथा बहिर्मुखी वृत्तियों में समन्वय स्थापित हो जाय, प्रत्येक वस्तु अपने उपयुक्त स्थान पर रहने लगे, प्रत्येक वस्तु से अतिवाद की मात्रा दूर हो जाय तथा प्रत्येक व्यक्ति तथा समाज के उद्देश्य एक दूसरे के पूरक हो जायँ।

कामायनी मे समरसता के तीन रूप मिलते हैं। व्यक्ति की समरसता, समाज की समरसता, प्रकृति तथा पुरुष की समरसता। व्यक्ति की समरसता, श्रद्धा के जीवन द्वारा व्यक्त हुई है। समाज की समरसता के अभाव मे सारस्वत प्रदेश में विप्लव तथा संघर्ष उत्पन्न होता है। प्रकृति तथा पुरुष की समरसता आनन्द सर्ग में दिखाई गई है। प्रसाद ने रहस्य नामक सर्ग मे कर्म, ज्ञान तथा इच्छा की समरसता द्वारा जीवन को आनन्दमय बनाने का मूल मन्त्र बतलाया है। जीवन के दुःखमय होने का प्रधान कारण इन तीनो मे समरसता का अभाव होना है। इनका परस्पर न मिलना ही जीवन की विडम्बना है। ज्ञान अलग पड़ा है, कर्म अलग, तब इच्छा पूर्ण कैसे हो; क्योंकि इच्छा ज्ञान बिना अन्धी है, कर्म बिना लँगड़ी; तब भला वह अपने लक्ष्य को कैसे प्राप्त कर सकती है; और जब तक वह इन तीनों की समरसता को प्राप्त नहीं कर सकेगी तब तक जीवन आनन्दमय नहीं हो सकता। कर्म तथा ज्ञान में समरसता आने से ही मानव की इच्छाएँ पूर्ण होती हैं और तभी वह पूर्ण मानवता को प्राप्त होता है। प्रसाद ने श्रद्धा द्वारा कर्म, इच्छा तथा ज्ञान का समन्वय कराया है। गीता मे भी समत्व की बहुत प्रशंसा की गई है। गीता की समत्व भावना मे विरोधी वृत्तियो का समीकरण (सामरस्य) विवेक द्वारा हुआ है; परन्तु प्रसाद की समरसता विवेकवादी या बुद्धिवादी नहीं है। गीता का समत्व निवृत्ति पर निर्भर है; प्रसाद का सामरस्य श्रद्धा पर। कामायनी के मूल में आनन्द की साधना का प्रधान तत्त्व श्रद्धा है और सामरस्य उसका साधन। यदि सामरस्य प्रयत्न है तो आनन्द साध्य। सामरस्य की साधना से आनन्द की सिद्धि होती है। प्रसाद की दृष्टि में आनन्द एक ऐसी वस्तु है जिसकी प्राप्ति के पश्चात् मनुष्य कामना रहित हो जाता है। उसमें अन्य किसी वस्तु की इच्छा नहीं रहती। प्रसाद के लिए आनन्द प्राप्ति की अवस्था प्रपञ्चातीत या विषयातीत अवस्था है। उनके लिए आनन्द ही योग है। आनन्द ही मोक्ष तथा आनन्द ही ब्रह्म है। वे विवेकवादी नहीं

श्रद्धावादी हैं। उनके दर्शन में आध्यात्मिकता ही नहीं, व्यावहारिकता भी है। दर्शन में तर्क की प्रधानता रहती है, वह ईश्वर का अस्तित्व या अनस्तित्व तर्क द्वारा सिद्ध करता है; कवि अनुभूति द्वारा उसका प्रत्यभिज्ञान करता है। अतएव कवि, दर्शन की श्रेय बातों को मानवभूमि पर ला कर प्रेय बना देता है। प्रसाद ने दर्शन को अनुभूति की कसौटी पर परख कर कविता से उसे आबद्ध कर श्रेय को प्रेय बना दिया है। साहित्य तथा दर्शन का सुन्दर सामञ्जस्य करने का श्रेय संस्कृत में जिस प्रकार अभिनवगुप्ताचार्य को है तद्वत् हिन्दी में प्रसाद को। कामायनी में जहाँ कहीं दार्शनिक विवेचन है वहाँ मानव-जीवन तथा इतिहास की पीठिका वर्तमान है, जिससे उसका दर्शन बहुत ही व्यावहारिक तथा मनोवैज्ञानिक हुआ है। सचमुच प्रसाद ने दर्शन से जीवन को देखा है और जीवन से दर्शन को। इसीलिए वे कामायनी की दार्शनिक पीठिका पर मानव जीवन का आनन्द-पूर्ण भवन निर्माण करने में सफल हुए हैं।

कामायनी में चरित्र-चित्रण

(विजयेन्द्र स्नातक)

महाकाव्य का विशाल कलेवर पात्रों के चरित्र-चित्रण; घटनाओं के वर्णन तथा प्राकृतिक दृश्यों के अंकन से निर्मित होता है। युद्ध-संघर्ष, विप्लव-क्रान्ति, प्रेम-विवाह, आखेट-अभियान आदि स्थूल घटनाओं का विधान तथा प्रकृति के नाना रूपों का वर्णन कथावस्तु को विकसित और चमत्कृत करने के लिए किया जाता है; किन्तु यथार्थ में, कथानक का मेरुदण्ड तो काव्य के प्रमुख पात्र ही हैं। उन्हीं के चरित्र की गतिविधि से महाकाव्य की मूल कथा पल्लवित हो कर चरमोत्कर्ष—फलागम—तक पहुँचती है। कदाचित् इसी कारण आधुनिक महाकाव्य की सफलता का मापदण्ड चरित्र-चित्रण का सौष्ठव माना जाता है। काव्य में पात्र ही जीवित—प्राणवान्—शक्ति हैं, उन्हीं के क्रिया-कलाप को चित्रित कर के प्रतिभाशाली कवि अपने काव्य को सजीव बनाता है। घटना और दृश्य तो जड़ हैं, उनके वर्णनमात्र से काव्य में प्राण-संचार सम्भव नहीं।

पात्रों की अवतारणा और उनका चरित्र-विकास कवि की अपनी सृष्टि होने पर भी उसमें कुछ प्रतिबन्ध लगे हुए हैं। इतिहास की पृष्ठ-भूमि पर आधारित काव्य को छोड़ कर जब कवि किसी कल्पित कथानक का निर्माण करता है तब निश्चय ही उसे मनोनुकूल पात्रों की सृष्टि करने की छूट रहती है। स्व-निर्मित पात्रों के चरित्र का विकास भी तब उसकी इच्छा पर निर्भर करता है। किन्तु इस स्वयम्भू-सृष्टि में भी जगत् के नैसर्गिक नियमों का उल्लंघन नहीं होना चाहिए। सहृदय पाठक सदैव उसी चरित्र की सराहना करेंगे जो अपने स्वभाव से विशिष्ट होने पर भी सामान्य (मानव) की कोटि में आ कर पाठक की भावनाओं के साथ तादात्म्य स्थापित कर सके। यदि कोई पात्र अपने

भीतर असम्भावित और अकल्पित शक्ति ले कर धरा-धाम पर आता है, तो उसे हम अतिमानव ही कहेंगे और उसके चरित्र को हम समाज का अंग नहीं मानेंगे। इतिहास की पृष्ठभूमि पर लिखे गये महाकाव्यों में कवि का अधिकार अपेक्षाकृत और अधिक सीमित हो जाता है। इतिहास-विदित क्रूर और नृशंस पात्र को स्निग्ध और सदय चित्रित करने वाले कवि की प्रतिभा पर न तो हम मुग्ध होते हैं और न हम उसे तथ्याङ्कन की त्रुटि के लिए क्षमा ही कर सकते हैं।

कामायनी इतिहास की पृष्ठभूमि पर रूपक शैली में लिखा हुआ एक ऐसा महाकाव्य है जिसमें न तो पात्रों की भीड़-भाड़ है और न घटनाओं का घटाटोप तथा विस्तार ही। कवि को इतिवृत्त की प्राचीनता का मोह है, अतः उसकी भी वह रक्षा करना चाहता है साथ ही रूपक के द्वारा अपने सिद्धान्तों और मन्तव्यों की स्थापना करना भी उसे अभीष्ट है। ऐसी परिस्थिति में स्थूल घटनाओं का परिहार करता हुआ वह चरित्रों के मूल में सन्निविष्ट उनकी भावनाओं को ही पकड़ने का मुख्य रूप से प्रयत्न करता है। सूक्ष्म मानसिक अन्तर्द्वन्द्व, संघर्ष और उससे उत्पन्न हुई विचित्र मनोदशा के चित्रण में कवि ने बड़ी सतर्कता से काम लिया है और उसी को मुख्यतः चरित्र-चित्रण का आधार बनाया है। पात्रों के माध्यम से मनस्तत्त्व का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है जो वैयक्तिक चरित्र की विशेषता के उद्घाटन के साथ वर्गगत सामान्य मानव मनोवृत्ति का भी परिचायक है।

कामायनी को हम महाकाव्य मानते हैं, अतः उसके पात्रों में महाकाव्य के अनुरूप चारित्रिक विशेषता का होना अनिवार्य है। महाकाव्य में सामान्यतः दो कोटि के पात्र होते हैं। एक तो महान् और उदात्त चरित्र वाले पात्र, जो नायक और उसके सहयोगी की कोटि में आते हैं। दूसरी कोटि के पात्र वे हैं जो अपनी हीन मनोवृत्ति का परिचय देते हुए नायक के सत्पथ का अवरोध करने में लीन रहते हैं। प्रतिपक्षी होने के कारण काव्य में इनकी संज्ञा 'खल' होती है। खल पात्रों की अवतारणा

में कवि का उद्देश्य यथार्थ-चित्रण तथा नायक के चरित्र का उत्कर्ष दिखाना होता है।

भारतीय प्राचीन नाट्यशास्त्र के अनुसार महान् चरित्र की एक निश्चित धारणा या परिभाषा थी—उस परिभाषा को घेर कर ही पात्र महत्त्व या उत्कर्ष को प्राप्त कर सकता था। नायक का सम्बन्ध उच्च वंश से होना आवश्यक समझा जाता था और युद्ध, संग्राम, आखेट आदि में अपने अतुल पराक्रम का परिचय देना भी उसके अनिवार्य गुणों में था।

कामायनी के पात्रों का चरित्र-चित्रण करते समय 'महत्त्व' की व्यापक परिधि ही प्रसाद के सामने रही है। यद्यपि प्राचीनों की मर्यादा में मनु और श्रद्धा का चरित्र आ जाता है, किन्तु कवि ने आधुनिक विचारधारा के आधार पर ही इन दोनों के महत्त्व का प्रतिपादन किया है। कामायनी के पात्रों का चरित्र उनके नाटकीय पात्रों से कुछ भिन्न शैली का है। कामायनी के तीनों प्रमुख पात्र—मनु, श्रद्धा और इड़ा—बहिर्मुख की अपेक्षा अन्तर्मुख अधिक हैं और अपनी इस अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के कारण ही वे स्थूल घटनाओं में अपेक्षाकृत कम उलझते हैं। उनके जीवन में बाह्य संघर्ष के साथ अन्तःसंघर्ष का भी उतना ही महत्त्व है। अन्तःसंघर्ष के द्वारा वे अपना ही पथ निश्चित नहीं करते वरन् समस्त मानव-जाति के लिए कर्म पथ का इंगित करते हैं। कामायनी के पात्र कार्यव्यापार का निर्वाह करते हुए अपनी भावुकता, सहृदयता और कल्पना का त्याग नहीं करते। वे चिन्तन और मनन के द्वारा अतीत और अनागत का पर्यालोचन करते हैं। प्रसाद का यह अपना एक विशिष्ट गुण है कि वे अपनी पात्र-सृष्टि को चिन्तन, मनन, कल्पना और भावुकता से सर्वथा परिपूर्ण रखते हैं। शुष्क, नीरस और जड़ पात्रों की सृष्टि वे नहीं कर सकते। उनका अभिप्रेत आनन्द-प्राप्ति रहता है। अतः अन्त में उनको आनन्दाभिमुख करने के लिए यह स्थिति अपरिहार्य हो जाती है। इसके अतिरिक्त कामायनी के पात्रों में महाकाव्य तथा गीतिकाव्य के तत्त्वों का अद्भुत सम्मिश्रण देखने में आता है। महा-

काव्य की दृष्टि से जो पात्र संघर्ष-लीन और कठोर विपदाओं से जूझ रहा है, वही पात्र अपनी सहज संवेदना और ममता से द्रवीभूत हो कर गीतिकाव्य की शैली से अपनी कोमल और सुकुमार भावनाओं को भी अभिव्यक्त कर रहा है। कदाचित् इसी कारण कामायनी में अप्रासंगिक रूप में भी अनेक गीत आ गये हैं। प्रसाद ने अपने नाटकों मे भी इस शैली को स्वीकार किया है।

आदर्श और यथार्थ की आधुनिक कसौटी पर यदि हम कामायनी के चरित्रों की परख करें, तो हमें मनु और इडा में यथार्थवादी दृष्टिकोण तथा श्रद्धा के चित्रण में आदर्शवादी भावना का सन्तुलित पुट मिलेगा। प्रसाद ने अपने नाटकों मे नारी-पात्रो का चित्रण भारतीय आदर्श के आधार पर किया है। श्रद्धा के चित्रण में प्रसाद अपने नारी-चरित्र की सर्वश्रेष्ठ भावना तक पहुँचे हैं। इड़ा का चित्रण आधुनिक युग की अनेकानेक विडम्बनाओ का आभास देता हुआ एक ऐसी नारी को पाठक के सामने लाता है, जो यथार्थ पर विकसित हो कर नारी के दर्प, अहंकार, बौद्धिक वैभव आदि का घातक रूप व्यक्त करने में सफल है। नाटकों में जहाँ पात्रो का अन्तर्द्वन्द्व या मानस-संघर्ष चित्रित हुआ है वह निर्वैयक्तिक नहीं कहा जा सकता। व्यक्तित्व के साथ उसका अभिन्न सम्बन्ध है। कामायनी में व्यक्तित्व तक ही वह सीमित नहीं—उसे मानव सामान्य (नर-नारी) का मानस-संघर्ष कहा जाना चाहिये। नाटको में नायक के चरित्र का विकास प्रतिपक्षी खलनायक के क्रूर कार्यों की तुलना मे उदात्त दिखा कर किया गया है, कामायनी में खलनायक के अभाव मे उसके लिए अवकाश ही नहीं। मनु की अपनी भावनाएँ ही उसके चरित्र के उत्थान-पतन के लिए उत्तरदायी हैं। नाटकों की भाँति कामायनी के पात्रों में भी दार्शनिकता और भावुकता का मणिकांचन संयोग देखा जा सकता है।

जैसा कि पहले लिख चुके हैं कि कामायनी में पात्रों की भीड नहीं है। पात्र-विरल महाकाव्य की दृष्टि से ही हमें इसके चरित्र-चित्रण पर

विचार करना चाहिए। कामायनी के प्रमुख पात्र हैं—मनु, श्रद्धा और इड़ा। इनके अतिरिक्त तीन पात्र और हैं जो अपना अस्तित्व रखते हुए भी नगण्य हैं। वे हैं—मनु-श्रद्धा का पुत्र कुमार तथा असुर-पुरोहित आकुलि और किलात। काम और लज्जा को अशरीरी पात्र के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। इनका सांकेतिक महत्त्व होने पर भी कथानक की स्थूल घटनाओं को ये प्रभावित नहीं करते। अतः चरित्र-चित्रण के प्रसंग में हम केवल प्रमुख पात्रों पर ही प्रकाश डालेंगे।

मनु

कामायनी महाकाव्य में मनु का व्यक्तित्व दो रूप रखता है; एक, ऐतिहासिक और दूसरा, सांकेतिक। वैदिक वाङ्मय में विख्यात वैवस्वत मनु ही यहाँ ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में गृहीत हुआ है। प्रसाद ने कामायनी के आमुख में स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है कि "मन्वन्तर के अर्थात् मानवता के युग के प्रवर्त्तक के रूप में मनु की कथा आर्यों की अनुश्रुति में दृढ़ता से मानी गई है। इसलिए वैवस्वत मनु को ऐतिहासिक पुरुष ही मानना उचित है।" मनु को ऐतिहासिक पुरुष के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए शतपथ ब्राह्मण का संकेत भी दिया है। शतपथ ब्राह्मण में मनु को श्रद्धादेव कहा गया है और बताया गया है कि श्रद्धा और मनु से ही मानवीय सृष्टि का सूत्रपात हुआ।

प्रातःकाल मुख प्रक्षालनादि के निमित्त जल लेते हुए मनु के हाथ में मछली आ गई। उस मछली को मनु ने पकड़ लिया और उसके सहारे अपनी नौका की रक्षा की। इसी प्रकरण में आगे इड़ा का दुहिता के रूप में अवतरित होना वर्णित है। इतना प्रसंग मनु का अस्तित्व तो स्थापित कर ही देता है, किन्तु मनु की किसी विशिष्ट चारित्रिक प्रवृत्ति का बोध नहीं कराता। मनु का चरित्र-विकास तो प्रसाद को स्वयं अपनी कल्पना के आधार पर ही करना पड़ा है। शतपथ ब्राह्मण के अतिरिक्त महाभारत तथा पुराणों में भी मनु का अनेक स्थलों पर उल्लेख है। महाभारत के शान्तिपर्व में मनु का जो रूप उपलब्ध होता है वह न्याय-

परायण, सशक्त राजा या शासक का है। कामायनी में इस रूप का कुछ आभास मिलता है। मनुस्मृति के रचयिता के रूप में मनु हमारी पुरातन परम्परा के स्मृतिकार हैं। इनका चरित्र भी नीति-परायण, विद्वान् मुनि का ही है।

यदि मनु को वैदिक कर्मकाण्डी ऋषि के रूप में देखा जाय, तो तपस्वी मनु का वर्णन हमे चिन्ता सर्ग के प्रारम्भ में ही मिलता है। चिन्तन, मनन और साधना के साथ अग्निहोत्र, यज्ञ आदि का विधान भी प्रसाद ने तपस्वी मनु के चरित्र में किया है। दूसरा, हिंसक-यजमान मनु का रूप यज्ञ मे पशु-बलि करने वाला मिलता है। स्वच्छन्द रूप से वासना-तृप्ति में लीन यह रूप भी कामायनी के वासना और कर्म शीर्षक सर्गों में देखा जा सकता है। वैदिक वाङ्मय मे किरात और आकुलि के पौरोहित्य में मनु का आखेट, पशु-बलि तथा हिंसा-प्रेमी होना कहा गया है। मनु का प्रजापति रूप तो ब्राह्मण, उपनिषद् और पुराण सभी मे है। प्रजापति शब्द का अर्थ है प्रजा का पालन करने वाला या बनाने वाला। प्रजापति शब्द का प्रयोग इसी लिए पिता, जनक, ब्रह्मा तथा राजा आदि अर्थों में पाया जाता है। कामायनी मे मनु को प्रजापति कह कर अनेक स्थलो पर सम्बोधित किया गया है। प्रसाद ने प्रजापति शब्द के साथ मनु का सम्बन्ध भलीभाँति स्थापित रखा है। किन्तु इतना स्मरण रहे कि महाभारत आदि में वर्णित मनु से कामायनी का मनु स्वतंत्र व्यक्तित्व भी रखता है। कामायनी का मनु वासना का शिकारी, अनाचारी, अत्याचारी तथा दर्प और दया का पुतला बन कर भी आता है। यह परिवर्तन कदाचित् युगीन समस्याओ को प्रतिबिम्बित करने के उद्देश्य से कवि ने किया है।

वैदिक वाङ्मय में मनु के जो विविध रूप आते हैं उनका किसी-न-किसी रूप में वर्णन प्रसाद ने कामायनी में भी किया है, किन्तु अपनी कथा-वस्तु को मौलिक रखने के कारण उन रूपो का प्रतिपादन अक्षरशः कवि ने नहीं किया; केवल आभासमात्र ही दिया है जिसे खोज निकालने

के लिए पाठक को प्रयत्न करना होगा। ऐतिहासिक मनु का कोई एक रूप नहीं, उसका चरित्र व्यापक और विशद है। प्रसाद ने उसमें से अपने अनुरूप ही चयन किया है, मनु की युग-युगव्यापी जीवन-गाथा को उन्होंने सर्वथा छोड़ दिया है।

मनु के चरित्र में अहंकार, व्यक्तिवाद या आत्मवाद का विकास कवि ने इस कोटि तक किया है कि वह अपने अहं के विस्फोट में अपनी सीमाओं को भी भूल जाता है। आत्मसुख को ही सब-कुछ समझ बैठने वाला मनु इन्द्रियासक्ति को ही जीवन का चरम सुख मानने लगता है और श्रद्धा को भी इसी संकीर्णता में बाँधना चाहता है—

"तुच्छ नहीं है अपना सुख भी,
श्रद्धे ! वह भी क्या-कुछ है ?
दो दिन के इस जीवन का तो,
वही चरम बस सब-कुछ है।"

× × ×

"कुचल उठा आनन्द, यही है
बाधा, दूर हटाओ ;
अपने ही अनुकूल सुखों को,
मिलने दो मिल जाओ।"

इसके बाद ईर्ष्या सर्ग में मनु की आभ्यन्तर भोगवृत्तियों का और अधिक स्पष्टीकरण हुआ है। मनु, श्रद्धा को अपनी मुट्ठी में बन्द कर के अपनी क्रीत-दासी के समान रखना चाहता है। उसे इस बात में विश्वास नहीं कि वह विश्व-रचना के उद्देश्य से भी अपनी ममता को कहीं और वितरित करे—

"यह जलन नहीं मैं सह सकता,
चाहिए मुझे मेरा ममत्व;
इस पंचभूत की रचना में
मैं रमण करूँ बन एक तत्त्व।

यह द्वैत, अरे यह द्विविधा तो
है प्रेम बाँटने का प्रकार,
भिक्षुक मैं ? ना, यह कभी नहीं,
मैं लौटा लूँगा निज विचार।"

मनु का व्यक्तिवाद ऊपर की पंक्तियों मे इतना प्रबल हो उठा है कि उसे अपने अधिकारो की सीमा मे किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप स्वीकार्य नहीं। यह मानना होगा कि अधिकार की यह कल्पना कितनी भी मादक क्यो न हो, है तो काल्पनिक ही। जिसे हम अपना स्वत्वाधिकार समझते हैं क्या वह नैतिक दृष्टि से हमारा अधिकार कहा जा सकता है ? आत्मवादी व्यक्ति के जीवन का अभिशाप यही है कि वह अपने अहं को इस सीमा तक प्रबुद्ध कर लेता है कि उसे सांसारिक भोग-विलास की चरम परिणति में ही शरण मिलती है। ठीक यही बात मनु के चरित्र में भी घटित होती दीखती है। किलात-आकुलि के आने पर पशु-बलि करना, मदिरा-सेवन में लीन होना, श्रद्धा जैसी स्नेहमयी सती स्त्री के प्रति वासना की स्थूल काम-चेष्टाएँ प्रदर्शित करना और उसके साथ अतिचार की सीमा तक आचरण कर बैठना आदि इस तथ्य के निदर्शन हैं। वासना के अतिरेक तथा मदान्ध भोग-विलास के स्थूल चित्रण स्वप्न शीर्षक सर्ग मे बिखरे पडे हैं। मनु इड़ा के साथ सारस्वत प्रदेश के निर्माण में संलग्न रहते हुए भी समस्त साधनो को स्ववश करने की बात ही निरन्तर सोचते रहते हैं—स्ववश करने में वे इडा को भी भूलते नहीं—

"क्या सब साधन स्ववश हो चुके ? नहीं अभी मैं रिक्त रहा।
देश बसाया पर उजड़ा है सूना मानस देश यहाँ।"

प्रबल उन्माद की तरलता में मनु इड़ा को अपने भुजपाश में बाँध लेने का आग्रह करते हैं—अपनी उन्मत्त मनःस्थिति को वे प्रच्छन्न न रख कर स्पष्ट कह उठते हैं—

"ये सुख-साधन और रुपहली रातों की शीतल छाया,
स्वर-संचरित दिशाएँ, मन है, उन्मद और शिथिल काया।

तब तुम प्रजा बनो मत रानी, नर-पशु कर हुंकार उठा ;
उधर फैलती मदिर घटा-सी, अंधकार की घन माया।
आलिंगन फिर भय का क्रन्दन ! वसुधा जैसे काँप उठी ;
वह अतिचारी, दुर्बल नारी परित्राण पथ नाप उठी।"

भोग-वृत्ति के अतिशय उच्छृङ्खल होने के कारण ही मनु को अपनी सीमा-मर्यादाओं का बोध नहीं रहा और वे अपने अहंकार तथा व्यक्ति-वाद में ऐसे डूब गये कि देवत्व या मनुजत्व किसी भी रूप की रक्षा करना उनके लिए सम्भव न रहा। केवल पशुत्व ही उनके चारों ओर दृष्टिगत होने लगा।

मनु के चरित्र में प्रारम्भ से ही चिन्ता, निराशा और पराजय-भावना को कवि ने चित्रित किया है। क्या मनु इतने निष्प्रभ, निर्वीर्य और निस्तेज व्यक्ति थे कि उन्हें चिन्ता, नैराश्य और दैन्य ही घेरे रहता था ? जिस व्यक्ति के तन में पौरुष ओत-प्रोत हो रहा हो, जिसकी देह में अपार वीर्य ऊर्जस्वित हो कर दमक रहा हो, जिसकी जीवन-साधना कष्ट और तितिक्षा पर विकसित हुई हो, उसे चिन्ता और पराजय-भावना से विजड़ित होना पड़े; इसका कारण क्या है ? मनु की इस मनःस्थिति के तीन कारण प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगत होते हैं। पहला कारण तो देव-सृष्टि का ध्वंस है, जो मनु के अन्तर्मन पर प्रतिफलित हो कर उसे विक्षुब्ध और चिन्तित बनाता है। देव-सृष्टि का जो रूप मनु ने देखा था, वह प्रारम्भ में शक्ति-दर्प से भरा हुआ था, बाद में वह दर्प चकना-चूर हो गया और देवतागण अपने समस्त भोग-विलास के साथ विध्वंस को प्राप्त हुए। इस ध्वंस से मनु का चिन्ता-विजड़ित और नैराश्य-अभिभूत होना स्वाभाविक था। पराजय-भावना और दैन्य का दूसरा कारण है मनु का अति भोगवादी हो कर अपने अहं में लीन रहना। अतिशय भोगवाद (व्यक्तिवाद) का परिणाम पराजय-भावना का उत्पादक होता है। तीसरा कारण मनु के इस रूप में चित्रित होने का यह है कि प्रसाद अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के कवि हैं। उनकी अपनी अन्तर्मुखी प्रवृत्ति

की छाया ही इस चित्रण में अधिक पड़ी है। भोगवाद के प्रति प्रसाद के मन मे एक प्रकार से सन्देह-शंका-पूर्ण जो विद्रोह था, वही मनु के इस असफल और अशान्त चरित्र में ध्वनित हो रहा है। विषाद की ध्वनि इस प्रकार के चित्रण में रहती है, जो कवि की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति का एक व्यक्त रूप है।

मनु के चरित्र को भलीभाँति हृदयंगम करने के लिए उसकी पारिवारिक एवं सामाजिक स्थिति पर भी विचार करना अनिवार्य है। मनु का सबसे पहले श्रद्धा से परिचय होता है। देव-सृष्टि के ध्वंस के बाद श्रद्धा ही पहला मानव (नारी) है जो मनु का अवसाद, नैराश्य और चिन्ता की स्थिति से उद्धार करती है। आशा और इच्छा का संचार करने के कारण श्रद्धा के प्रति मनु का पहले आकृष्ट और बाद में आसक्त होना स्वाभाविक है। आसक्त होना मानव स्वभाव है, इसे हम मानव की दुर्बलता नहीं कहेंगे। किन्तु यह आसक्ति तनिक से अनभिलषित व्यवहार से विरक्ति मे परिणत हो जाय तो मानव की दुर्बलता के सिवा यह और कुछ नही कहा जायगा। मनु के चरित्र की सबसे बड़ी दुर्बलता ही यह है कि वह अपने प्रेम को स्थायित्व नहीं दे पाता। क्षणभर में रुष्ट और क्षणभर में तुष्ट होने वाला व्यक्ति न तो कभी हार्दिकता का परिचय दे पाता है और न कभी वह अविचल रूप से प्रेममार्ग में चल ही पाता है। श्रद्धा के प्रति विराग होते ही वह इड़ा के प्रति आकृष्ट होता है, आसक्त होता है, और वहाँ भी अपनी भावनाओं को तुष्ट होता न देख कर अन्त में विरक्त हो जाता है। अनुरक्ति और विरक्ति के इस क्रिया-व्यापार में मनु को सामाजिक मर्यादाओ तक का ध्यान नहीं रहता। अपने वैयक्तिक आनन्दवादी दृष्टिकोण को ही प्रमुखता दे कर वह कार्य-रत रहता है। यह वैयक्तिक दृष्टि जीवन के सर्वाङ्गीण विकास में बाधक होती है और इसी कारण अपनी अतुलित शक्तियों के बावजूद वह कृतकार्य नहीं हो पाता। आनन्दवादी दृष्टिकोण में मन की जो स्थिति रहती है वही मनु की है। मन का प्रतीक होने के कारण

के लिए उसे भौतिकवाद का आश्रय छोड़ना ही होगा। सारस्वत प्रदेश के संघर्ष और उपद्रव के बाद मनु का मन आत्मग्लानि से भर जाता है। वह स्वयं कह उठता है—

"शापित-सा मैं जीवन का यह ले कंकाल भटकता हूँ;
उसी खोखलेपन में जैसे कुछ खोजता-भटकता हूँ।
अन्त तमस है, किन्तु प्रकृति का आकर्षण है खींच रहा;
सब पर हाँ, अपने पर भी, मैं झुँझलाता हूँ खीझ रहा॥"
—निर्वेद सर्ग।

इतना ही नहीं मनु की ग्लानि उसे पराजित मनोवृत्ति का शिकार बना देती है और वह जीवन के तथाकथित सुखों के प्रति एक उपेक्षा-दृष्टि कर लेता है। उसे लगता है कि यह एक इन्द्रजाल है जिसमें मैं स्वयं ही फँस गया था। मैंने भोगवाद को अपना कर अच्छा नहीं किया। श्रद्धा से विरक्त हो कर चला आना भी मेरी भूल थी—मेरी दुर्बलता थी। अब कैसे मैं अपना मुँह श्रद्धा को दिखा सकूँगा। वह पुकार उठता है—

"सोच रहे थे—जीवन-सुख है? ना, यह विकट पहेली है;
भाग अरे मनु! इन्द्रजाल ने कितनी व्यथा न झेली है?
यह प्रभात की स्वर्ण किरण-सी, झिलमिल चंचल सी छाया;
श्रद्धा को दिखलाऊँ कैसे, यह मुख या कलुषित काया।"

मनु को अपने चरित्र की दुर्बलता का पता अन्त में स्वयं लग जाता है। कवि का अभिप्राय भी इस चित्रण से यही विदित होता है कि भौतिकवादी दृष्टिकोण रख कर चलने पर जीवन में परम सुख की प्राप्ति सम्भव नहीं। सुख की प्राप्ति के लिए संघर्ष करने के उपरान्त आत्म-ग्लानि, कुण्ठा और पराजित मनोवृत्ति का शिकार होना पड़ता है और परिणाम में पश्चात्ताप के सिवा कुछ हाथ नहीं लगता।

कामायनी के अन्तिम तीन सर्गों में मनु का चरित्र एक साथ परिवर्तित होता है। एक ऐसा टर्निङ्ग प्वाइंट उसके जीवन में आता है

जहाँ से वह पीछे का दम्भ, दर्प, अहंकार सब कुछ तिरोहित होता हुआ देखता है और उसे नूतन प्रकाश-किरण का आभास मिलता है। मनु का जीवन-दर्शन ही जैसे बदल जाता है। वह समाधि-सुख के लिए व्यग्र हो उठता है और अपने भीतर ही उसे एक ऐसा परिवर्तन लगने लगता है कि पीछे की सवर्षमयी भौतिकवादी स्थिति उसे स्वयं घोर विनाशकारी प्रतीत होती है।

'दर्शन' सर्ग मे श्रद्धा मनु को शाश्वत सुख का रहस्य उद्घाटित कर के समझाती है। जगत् यथार्थ में परिवर्तनशील है। यह जगत् का स्वरूप है जो नित्य नये-नये रूप धारण करता रहता है। इस जग को ठीक-ठीक समझने के लिए जागरूक रह कर जीवन-यापन करना चाहिए। मनु इस तथ्य को जानते हुए भी कुछ समय के लिए पूर्ण रूप मे विस्मृत कर बैठे थे—

"चेतनता का भौतिक विभाग—
कर, जग को बाँट दिया विराग;
चिति का स्वरूप यह नित्य जगत्,
वह रूप बदलता है शत शत,
कण विरह मिलन मे नृत्य निरत,
उल्लासपूर्ण आनन्द सतत,
तल्लीनपूर्ण है एक राग,
झंकृत है केवल 'जाग-जाग'!"

इसके आगे 'रहस्य' सर्ग मे इच्छा, ज्ञान और कर्म-लोक का परिचय भी वही कराती है। वही मनु से कहती है कि ज्ञान लोक में पहुँच कर मनुष्य को भौतिक सुखों की तृप्ति पर आश्रित नहीं रहना पड़ता।

"यहाँ प्राप्य मिलता है केवल
तृप्ति नहीं कर भेद बाँटती।
बुद्धि, विभूति सकल सिकता-सी
प्यास लगी है ओस चाटती!"

श्रद्धा के इस रहस्योद्‌घाटन से मनु का अन्तर्लोक सहसा प्रकाशित हो उठा। मनु श्रद्धा के साथ आनन्द में लीन हो गये। 'दिव्य अनाहत पर निनाद में, श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।' मनु को इस आनन्द की अनुभूति न तो अपनी अहंकारमयी प्रवृत्ति से होती है और न इड़ा के बौद्धिक व्यापार से ही मनु किसी प्रकार के स्थायी सुख का अनुभव करते हैं। सुख और आनन्द का मार्ग अन्त में श्रद्धा द्वारा ही प्रशस्त होता है। मनु के चरित्र की दुर्बलता ही यह है कि अपने असीम बल के साथ भी वह इतना कमजोर है कि स्थूल जगत् से परे वह देख ही नहीं सकता और इसी संसार के (भौतिक ज्ञान-विज्ञान के) ऊपर टिका हुआ शाश्वत सुखानुभूति में लीन रहने की मिथ्या विडम्बना करता रहता है।

कामायनी में चित्रित मनु चरित्र को हम पूर्ण विकसित, महाकाव्य के अनुरूप, चरित्र नहीं कह सकते। प्रसाद ने मनु को जिस रूप में प्रस्तुत किया है, वह समर्थ एवं सफल नायक की परिभाषा में पूरी तरह नहीं आता। चरम-आनन्द की प्राप्ति ही इस काव्य का फलागम है जिसके लिए महाकाव्य के पात्रों को प्रयत्नशील रहना चाहिए। किन्तु मनु इस महत्कार्य के योग्य, शक्तिशाली और क्रियाशील नहीं चित्रित हुए। जैसा बड़ा कार्य है वैसा ही बड़ा प्रयत्न, सामर्थ्य और सम्भार होना चाहिए। कामायनी का अन्तिम ध्येय यही है कि प्रकृति पर विजय प्राप्त करके मनु मानव-सभ्यता की स्थापना करें। देवगण का निर्बाध विलास सभ्यता का ही नहीं अपितु समस्त मानवता का संहारक सिद्ध हो चुका था। मनु ने स्वयं उस विनाश को देखा था। अतः अब स्थिति यह थी कि मनु जैसे भी हो, मानव-सभ्यता की स्थापना के लिए अपनी आन्तरिक उदात्त-भावना का परिचय दें; अपने जीवन के वाह्य क्रिया-व्यापार में वे इतनी विशालता रखें कि नूतन सभ्यता की स्थापना में उनका योग-दान व्यक्त हो सके। इसके लिए आवश्यक था कि मनु के चरित्र में अत्यधिक उदात्तता और सदाशयता की स्थापना होती।

किन्तु उसका अभाव ही बना हुआ है जो खटकता है। मनु अपने आप मे भले ही शक्तिशाली, पौरुषमय, और कर्मठ हो, किन्तु महाकाव्य के क्रिया व्यापार की दृष्टि से उनका चरित्र दुर्बल है। मनु का प्रेम, त्याग, समर्पण सभी कुछ मानवीय शक्ति का शुद्ध स्वरूप ले कर नहीं होता; कामुकता और विलासिता के आकर्षण से ही वह प्रेम और उत्सर्ग की बात करता है। स्त्री के प्रति उसका दृष्टिकोण प्रारम्भ से अनुदार है, वह स्त्री को पुरुष की छायामात्र मान कर चलता है। अपनी वासना-तृप्ति के लिए वह श्रद्धा और इडा दोनों को ही जीवन की क्षणिकता की बात कह कर मदिरा-सेवन की प्रेरणा देता है। इसमे सन्देह नही कि मनु के चरित्र मे मानव-प्रवृत्तियों का व्यापक आभास देने की ओर प्रसाद का ध्यान रहा है किन्तु उसे महान्-चरित्र बनाने की ओर उतना ध्यान वे नहीं दे पाये।

श्रद्धा

कामायनी में श्रद्धा प्रमुख पात्र है। महाकाव्य की प्रमुख घटनाएँ तथा अन्य कार्य-कलाप श्रद्धा के व्यक्तित्व से प्रभावित हो कर परिचालित होते हैं। फल-निष्पत्ति की दृष्टि से भी यदि कामायनी के उद्देश्य पर विचार किया जाय, तो वह सामरस्य के मार्ग से शाश्वत आनन्दोपलब्धि है, जो श्रद्धा के पथ-निर्देश और प्रयत्न से ही साध्य है। भारतीय नारी के सम्बन्ध में प्रसाद की एक विशेष प्रकार की उदात्त कल्पना थी। अपने हृदय के समस्त स्नेह, आर्जव, ममत्व, कारुण्य, विश्वास, लावण्य आदि को एकत्र करके कवि ने श्रद्धा के चित्रण में उसका उपयोग किया है। यही कारण है कि श्रद्धा का चरित्र नारी-जीवन का आदर्श उपस्थित करने मे पूर्णरूप से सफल हुआ है। नारी के प्रति कवि के मन मे जो सहज श्रद्धा और आदरभाव है उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम इस काव्य में श्रद्धा ही है। श्रद्धा का रूप-चित्रण, स्वभाव-वर्णन, भावाङ्कन कवि ने ऐसे उच्च धरातल पर किया है कि वह लौकिक होते हुए भी दिव्य नारी का आभास देने की पूर्ण क्षमता रखता है। श्रद्धा एक ऐसी

नारी है जो बाह्य-संसार के असत् और क्षणिक कार्यकलाप में लीन न हो कर अन्तर्जगत् की सात्विक भावनाओं को अधिक महत्त्व देती है। छल, प्रतारणा और मिथ्याचरण से दूर रह कर विश्वास, प्रेम और सत् के प्रति वह अधिक सजग है; जीवन की अन्तःस्थिति के प्रति विशेष आस्थावान् है। एक आदर्श नारी की जो मोहक कल्पना प्रसाद के अन्तर्मन मे व्याप्त थी, मानो श्रद्धा के चित्रण में वही मूर्तिमती हुई हो।

मनु की भाँति श्रद्धा का भी ऐतिहासिक अस्तित्व है। उसके ऐतिहासिक महत्त्व की स्थापना के लिए प्रसाद ने कामायनी के आमुख में वैदिक वाड्मय से कुछ संकेत उपस्थित किये हैं। ऋग्वेद, शतपथ ब्राह्मण, छान्दोग्य उपनिषद् तथा भागवत-पुराण आदि में श्रद्धा का पर्याप्त वर्णन उपलब्ध होता है। श्रद्धा को ऋग्वेद मे ऋषि और देवता कहा गया है। श्रद्धा के होने पर ही यज्ञादि मे हविष्य का विधान बताया गया है। प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायंकाल को हम श्रद्धानिष्ठ हो कर ही उपासना कर सकते हैं। श्रद्धा को कार्य-साधिका तथा फलदात्री बताया गया है।

ऋग्वेद में श्रद्धा सूक्त है, जिसमे श्रद्धा का परिचय है। भाष्यकार सायण ने श्रद्धा को कामगोत्र की बालिका कहा है। इसीलिए उसे कामायनी भी कहते हैं। उसी नाम के आधार पर काव्य का नाम भी कामायनी रखा गया है। श्रद्धा और मनु का पारस्परिक क्या सम्बन्ध था और वैदिक साहित्य में दोनो की स्थिति क्या थी, इसका निर्णय करना कठिन है। प्रसाद ने भी इसका अन्तिम निर्णय करने का प्रयत्न नहीं किया। अपने काव्य के कथानक को गति देने के लिए उन्होंने यथाभिलषित सम्बन्ध की स्थापना कर ली है और उसी का निर्वाह किया है। यों तो तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार वह काम की माता है—और उसके पिता का नाम सूर्य है—शतपथ में 'श्रद्धादेवो वै मनुः' कहा गया है। भागवत-पुराण में भी मनु की पत्नी के रूप में श्रद्धा का आख्यान आता है—

कामायनी में प्रसाद ने मनु और श्रद्धा के बीच दाम्पत्य-सम्बन्ध की स्थापना इन्हीं प्रमाणों के आधार पर की हुई प्रतीत होती है। उपर्युक्त सङ्केतो के आधार पर श्रद्धा के ऐतिहासिक अस्तित्व से इनकार करना तो कठिन ही नहीं, असम्भव है, किन्तु देखना यह है कि काव्य में श्रद्धा का चरित्र क्या केवल इतिवृत्त की स्थूल पृष्ठभूमि पर ही कवि ने अङ्कित किया है या उसे अपनी कल्पना से रंजित करके संवेदनमय और सप्राण बनाया है।

कामायनी में श्रद्धा का चित्रण कवि ने अधिकांश में अपनी कल्पना के आधार पर किया है। मनु और श्रद्धा के पारस्परिक सम्बन्ध और उनका काव्य में स्थान प्रदर्शित करते हुए बड़ी काव्यमयी शैली में वासना सर्ग के प्रारम्भ में लिखा है—

"एक गृहपति, दूसरा था अतिथि विगत विकार ;
प्रश्न था यदि एक, तो उत्तर द्वितीय उदार।"

इसके साथ ही श्रद्धा की शारीरिक सम्पत्ति का चित्र प्रस्तुत करते हुए कवि ने आलङ्कारिक भाषा में जो लिखा है वह श्रद्धा के बाह्य एवं आभ्यन्तर रूप की बड़ी ही आकर्षक झाँकी उपस्थित करता है।

कवि ने श्रद्धा से आत्म-परिचय में जो कथन कराया है वह इतना स्पष्ट और संवेद्य है कि श्रद्धा की सांस्कृतिक अभिरुचि और कला-पूर्ण जीवन के अभिव्यक्त करने के लिए उससे अच्छी उक्ति सम्भव नहीं। श्रद्धा कहती है—

"भरा था मन में नव उत्साह,
सीख लूँ ललित-कला का ज्ञान ;
इधर रह गन्धर्वों के देश,
पिता की हूँ प्यारी सन्तान।"

इसके बाद श्रद्धा ही मनु को जीवन और जगत् का रहस्य बताती हुई कर्म में प्रवृत्त होने की प्रेरणा देती है। नैराश्य, कुंठा और चिन्ता से विजड़ित मनु को 'काम' की अनिवार्यता समझाने वाली मानवी श्रद्धा

ही है। श्रद्धा ही महाचिति के लीलामय आनन्द का मर्म बताती है और वही संसृति के निर्माण में काम की उपादेयता सिद्ध करती है।

मनु के एकाकीपन को दूर करने और उसे कर्म में प्रवृत्त करने के लिए श्रद्धा कोरा उपदेश ही नहीं देती वरन् अपने जीवन का उत्सर्ग करके उसकी साधना में सहायक बनती है। मनु को अपने बोझ से हल्का बनाती हुई वह उसकी सहचरी बनने का प्रस्ताव कर देती है। यह प्रस्ताव अपने साथ जो भाव-सामग्री ले कर आता है वह इतनी प्रचुर और पर्याप्त है कि मनु को उसके आगे नतशिर होना पड़ता है। मनु श्रद्धा को अपने समीप ला कर उसकी मानसिक तृप्ति के अनुरूप भाव-सामग्री नहीं देते; किन्तु श्रद्धा अपनी ओर से अपना सब-कुछ समर्पित करने में कुछ भी उठा नहीं रखती। यह जानते हुए भी कि नारी अपने समर्पण के बाद एक ऐसे चिर-बन्धन में आबद्ध हो जाती है जिससे त्राण पाना उसके लिए सहज नहीं, फिर भी वह उन्मुक्त भाव से अपना जीवन उत्सर्ग करने में तत्पर रहती है।

श्रद्धा के चरित्र-चित्रण में प्रसाद ने नारी के अबलात्व का भी अच्छा आभास दिया है। रूप-सौन्दर्य का सामर्थ्य भी 'अबला' नारी को इतना बल नहीं देता कि वह पुरुष से स्पर्द्धा करके विजय प्राप्त कर सके।

"यह आज समझ तो पाई हूँ,
मैं दुर्बलता में नारी हूँ,
अवयव की सुन्दर कोमलता
ले कर मैं सबसे हारी हूँ।"

पुरुष अपनी स्वार्थ सीमाओं में रह कर आत्मतुष्टि को ही प्रधानता देने लगता है। सुख को सीमित करके वह अपने को ही आनन्दित देखना चाहता है। मनु की इस प्रकार की मनोदशा 'वासना' और 'कर्म' सर्ग मे चित्रित हुई है। व्यक्तिनिष्ठ सुख को समष्टि सुख मे पर्यवसित करने की प्रेरणा श्रद्धा के द्वारा ही मनु को प्राप्त होती है। यद्यपि वह अपने दम्भ और अहकार के कारण उसको चरितार्थ नहीं

करता, किन्तु श्रद्धा साहस और विवेकपूर्वक उसे सत्पथ की ओर ले जाने का सक्रिय प्रयत्न करती है।

कवि ने श्रद्धा का चित्रण सर्वाङ्गपूर्ण नारी के रूप में किया है अतः सहज नारीरूप के साथ उसके सौन्दर्य और आकर्षण को चित्रित करना भी स्वाभाविक था। दाम्पत्य जीवन में नारी का पत्नीत्व या गृहिणीत्व उसके स्वभावज गुणों के विकास से परिपूर्णता को प्राप्त होता है। इस कसौटी पर यदि श्रद्धा के चरित्र की परख करें तो उसे हम भारतीय नारी के आदर्श और उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित देखते हैं। पति-प्रेम और पुत्र वात्सल्य को पग पग पर प्रकट करने वाली श्रद्धा के प्रति पाठक के मन में श्रद्धा-भाव का होना स्वाभाविक है। मनु के ईर्ष्यालु होने और श्रद्धा के प्रति विरक्ति आने पर भी वह अपने गृहस्थ को सब तरह से पूर्ण बनाने में लीन है।

"चुप थे, पर श्रद्धा ही बोली,
'देखो यह तो बन गया नीड़;
पर इसमें कलरव करने को
आकुल न हो रही अभी भीड़।'

नारी-चरित्र की तीसरी विशेषता है उसका विश्व-कल्याणी होना। नारी अपने मातृत्व के साथ एक ऐसी विलक्षण क्षमता ले कर आती कि अपने परिवार के सीमित दायरे से बाहर भी वह अखिल विश्व का कल्याण करने में प्रवृत्त होती है। कामायनी में श्रद्धा के चरित्र द्वारा नारी की अद्भुत क्षमता को चित्रित किया गया है। विश्व-कल्याण की कामना रखने के कारण ही श्रद्धा पशुबलि और मृगया-परायण मनु को फटकारती है।

यथार्थ में श्रद्धा निश्छल प्रेम, स्वार्थ त्याग, ध्रुव विश्वास, सहज कारुण्य और अपरिसीम तितिक्षा की प्रतिमा है। वही मनु जैसे पथभ्रष्ट पति को अपने धैर्य और दृढ़ता से आनन्द मार्ग पर ले जाती है और वही मनु का सच्चा जीवन-सम्बल बन कर केवल अर्द्धांगिनी नहीं वरन्

'गृहिणी, सचिवः, सखी' आदि सभी का प्रतिनिधित्व करती है। इड़ा के साथ भी श्रद्धा का व्यवहार आदर्श है। वह सौतिया डाह से जल कर न तो अपना आपा खोती है और न इड़ा को ही अपने मन में किसी प्रकार के गलत भाव-विचार को प्रश्रय देने का अवकाश देती है। हृदय-सत्ता के सुन्दर सत्य को खोजने वाली श्रद्धा सभी क्षेत्रों और सभी रूपों मे आदर्श बनी रहती है। पारलौकिक दृष्टि से भी श्रद्धा का दृष्टिकोण बहुत ही दार्शनिक, बौद्धिक और तर्कसम्मत है। वह जगत् का रहस्य और इसके निर्माण में स्रष्टा का प्रयोजन शुद्ध दार्शनिक के रूप में देखती है और इड़ा तथा मनु को इस रहस्य का बोध कराती है—

> "चिति का स्वरूप यह नित्य जगत,
> वह रूप बदलता है शत-शत;
> कण विरह मिलन में नृत्य निरत,
> उल्लासपूर्ण आनन्द सतत।"

संक्षेप में, श्रद्धा का चरित्र नारी-जीवन की सर्वाङ्गपूर्ण झाँकी देने वाला एक आदर्श चरित्र है। कामायनी के अप्रस्तुत पक्ष में हृदय का सच्चा प्रतिनिधित्व करने की उसमें पूर्ण क्षमता है। विश्वासमयी रागात्मिका वृत्ति रूप श्रद्धा का जैसा विकास कामायनी में हुआ है प्रसाद के किसी अन्य नारी-चरित्र में नहीं हुआ। 'श्रद्धा हृदय्य याकूत्या, श्रद्धया विन्दते वसु,' का तात्त्विक दृष्टि से जो अर्थ होता है वही श्रद्धा चरित्र है और काव्य में इसी कारण उसका सर्वाधिक प्रभाव है। घटनाओं का घात-प्रतिघात क्षीण होने पर भी श्रद्धा के चरित्र द्वारा हम आदिम नारी का रूप हृदयंगम कर सकते हैं।

इड़ा

मनु और श्रद्धा के समान इड़ा का व्यक्तित्व भी दुहरा है। रूपक शैली से सांकेतिक अर्थ का द्योतन करती हुई वह बुद्धि तत्त्व की प्रतीक है। कामायनी के आमुख में प्रसाद ने उसके ऐतिहासिक अस्तित्व का परिचय देने के लिए शतपथ ब्राह्मण, ऋग्वेद तथा अमरकोश के

जो संकेत दिये हैं उनका उपयोग इडा के चरित्र-विकास में उन्होंने नहीं किया। वे संकेत केवल इडा के अस्तित्व का इतिहास से सम्बन्धमात्र जोड़ते हैं; इसके सिवा उनकी और कोई उपयोगिता नहीं। शतपथ ब्राह्मण मे इडा को मनु के यज्ञान्न से पली दुहिता कहा गया है किन्तु कामायनी मे ऐसा कोई उल्लेख नहीं। सांकेतिक अर्थ मे जहाँ इडा को बुद्धिवाद का प्रतीक बताया गया है उसका वैदिक आधार यह हो सकता है कि ऋग्वेद मे इडा को सरस्वती आदि के समान ही बुद्धि को साधने वाली अथवा चेतना देने वाली कहा गया है। पुरुरवा और उर्वशी की कथा के साथ प्रथम आयु विश्पति तथा मनुष्य की शासयित्री इडा को जोड़ा मान कर भी कुछ विद्वानों ने कथा की चूल वैदिक साहित्य की परम्परा में बिठाई है। ऋग्वेद मे इडा सूक्त का उल्लेख कर के भी इसके ऐतिहासिक स्वरूप का विवेचन होता है किन्तु प्रसाद ने इन समस्त रूपो को अपने अन्तरमन की पृष्ठभूमि मे रख कर सर्वथा नवीन रूप से इडा का चरित्र चित्रित किया है।

कामायनी के कथानक मे इडा का स्थान एक स्वार्थपरायण, बुद्धिवादी, व्यवहार-कुशल नारी का है जो अपने रूप के मोहक आकर्षण का जाल बिछा कर मनु को उसमें फँसाती है। कवि ने श्रद्धा और इडा का चित्रण कर के दोनों के पृथक्-पृथक् अस्तित्व एवं उपादेयता को बड़ी मनोवैज्ञानिक पद्धति पर अङ्कित किया है। इडा के सांकेतिक—प्रतीकात्मक—रूप को स्पष्ट करने के लिए कवि ने इडा सर्ग मे उसका आलंकारिक शैली से साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया है।

प्रसाद ने इडा को एक स्थल पर 'प्रतिभा प्रसन्न मुख' कहा है। उसका तात्पर्य भी यही है कि बौद्धिक-प्रतिभा ही इडा की सम्पत्ति है। उसी के सहारे वह प्रफुल्लित रहती हुई जीवनयापन करती है। बुद्धि के आश्रित कर्म व्यापार मे लीन इडा हृदय की स्निग्ध एवं सरस विभूतियो से विहीन व्यवसायात्मिका तर्कमयी प्रज्ञा द्वारा अनुशासित है। जीवन की अखंडता के स्थान पर वह वर्ग-विभाजन और अभेद के स्थान पर भेद

की सृष्टि करने में लीन रहती है—

ऐतिहासिक कथानक की दृष्टि से इड़ा सारस्वत प्रदेश की रानी है। देवताओं की स्वसा (बहन) के रूप में भी उसका वर्णन है। इड़ा का वर्णन शतपथ-ब्राह्मण में है और उसमें कहा गया है कि उसकी उत्पत्ति या पुष्टि पाक यज्ञ से हुई। उस पूर्ण योषिता को देख कर मनु ने विस्मय-विमुग्ध हो प्रश्न किया, 'तुम कौन हो?' इड़ा ने सहजभाव से उत्तर दिया, 'तुम्हारी दुहिता।' मनु बोला, 'दुहिता कैसे?' इड़ा बोली, 'तुम्हारे यज्ञ की हवियों से मेरा पोषण हुआ है।' इस प्रसंग को इतिवृत्त का क्षीण तन्तु ही कहा जा सकता है, सम्पूर्ण इतिहास नहीं। किन्तु इड़ा के प्रति मनु के मन के आकर्षण का इसमें आगे चल कर उल्लेख किया गया है। ऋग्वेद में इड़ा को बुद्धि और वाणी का पर्यायवाची कहा गया है और मानवजाति की नियामिका या शासनकर्त्री भी बताया है।

कामायनी में इड़ा को एक व्यक्तिवादी स्त्री के रूप में अङ्कित किया गया है; उसका अहं प्रबुद्ध है। वह अपने व्यक्तित्व को स्वतन्त्र रखती हुई समाज के साथ सम्पर्क स्थापित करती है। प्रथम-परिचय मे जब मनु ने इड़ा की करुणभावना को उद्बुद्ध करने की इच्छा से कहा कि—

"मनु मेरा नाम सुनो, मैं विश्वपथिक सह रहा क्लेश।"

तब भावना-विहीन पर विचार-वितर्क प्रवीण इड़ा को मनु के क्लेश के प्रति समवेदना उत्पन्न नहीं हुई, प्रत्युत उन्हीं क्षणों मे उसे अपने सारस्वत प्रदेश का स्मरण हो आया और उसके निर्माण की बात वह सोचती रही और बड़े व्यावसायिक रूप में बोली—

"स्वागत! पर देख रहे हो तुम, उजड़ा सारस्वत प्रदेश।"

यथार्थ मे इड़ा का साध्य है सारस्वत नगर का निर्माण और इसके लिए वह मनु को एक इंजीनियर—शिल्पी के समान साधन बनाती है। इस दृष्टि से वह मनु के लिए प्रबल प्रेरणामयी है। वह मनु को कर्म करने की प्रेरणा देती है, किन्तु इस कर्मप्रेरणा का फल मनु को स्वयं कुछ न मिल कर इड़ा को प्राप्त होता है। अपने हितसाधन के लिए

मनु को नियुक्त करने की बौद्धिकता ही उसकी सफलता है। अपनी कार्य-सिद्धि के लिए मनु पर विजय प्राप्त करने के निमित्त उसके पास दो गुण हैं। शारीरिक रूप-सौन्दर्य को निखार कर मनु के सामने वह इस ढंग से रखती है कि उसका अचूक प्रभाव मनु पर पडता है और वे नारी-सौन्दर्य के पाश में आबद्ध हो जाते हैं। दूसरा उसका गुण है बुद्धि-प्रकर्ष। मनु की आस्तिक भावना और नियति विश्वास को उन्मूलित करने मे वह अपने तर्क-वितर्क का प्रयोग करती है। ईश्वर को निष्ठुर और नैराश्यपूर्ण सृष्टि का अधिपति आदि कह कर मनु के ईश्वर विश्वास को हिला देना उसका साध्य है। वह नहीं चाहती कि जब तक मनु उसके कार्य मे लीन रहे तब तक किसी अन्य भाव या विचार को अपने मन में स्थान दे। ईश्वर के प्रति अनास्था बुद्धि पैदा करती और अपनी शक्ति पर विश्वास करने का हौंसला जगाती हुई कहती है—

"मत कर पुकार निज पैरों चल।"

मनु भी इडा के इस प्रबल बुद्धिवाद से अभिभूत हो गये और कह उठे—

"हॉ, तुमही हो अपने सहाय।
जो बुद्धि कहे उसको न मान कर फिर किसकी वह शरण जाय।"

इन पंक्तियों मे मनु पर इडा का प्रभाव स्पष्ट व्यक्त होता है। हम देखते हैं कि अपने प्रखर बुद्धिबल से वह सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति को बाह्य रूप से आकृष्ट करने में पूर्ण रूप से समर्थ है, किन्तु उसका सम्पर्क अन्तर मन को परितृप्त करने की क्षमता नहीं रखता। वस्तुतः इडा एकान्त बौद्धिक चरित्र है वह मनु का उपयोग भी भौतिक दृष्टि से करती है परन्तु मानसिक सुख शान्ति प्रदान करने की शक्ति उसमें नहीं। राग-द्वेष के वृत्त से वह अपने को बडी सतर्कता से बाहर रखती है। रागात्मक भावनाओं का स्पन्दन स्त्री-पुरुषों मे सहज स्वाभाविक है, परन्तु फिर भी वह 'यौवन के मधुमय स्रोत से आप्लावित' मनु की ओर वासना-बुद्धि से आकृष्ट नहीं होती, यही उसकी रागनिरपेक्षता है, अथवा यों कहा जा सकता है कि वह अपने अन्तर के राग-द्वेष पर बौद्धिकता द्वारा

विजय प्राप्त कर लेती है।

मनु के प्रति उसका व्यक्तिवादी दृष्टिकोण होते हुए भी प्रजा के प्रति उसकी कर्त्तव्यपरायणता का निषेध नहीं किया जा सकता। मनु के प्रति आकृष्ट न होने का एक कारण यह भी है कि वह लोकधर्म तथा लोकमर्यादा के प्रति पूर्णतः सजग है। यही कारण है कि मनु के द्वारा आलिङ्गन-पाश में बद्ध होने पर भी वह वज्रसंयम और अडिग धैर्य का परिचय देते हुए मनु से कहती है—

"ताल-ताल पर चलो नहीं लय छूटे जिसमें,
तुम न विवादी स्वर छेड़ो अनजाने इसमें,
लोक दुःखी हो आश्रय ले यदि इस छाया में,
प्राण सदृश हो रमो राष्ट्र की इस काया में।"

इडा के चरित्र में बाद में कुछ परिवर्तन आता है। प्रारम्भ में वह अत्यधिक शक्तिशाली, गतिशील है। पर्वत के उत्तुङ्ग शैलों से गिरने वाले झरने के समान प्रबल, तीव्र और कलकलनादयुक्त। बाद में वह समतल भूमि पर बहने वाली स्रोतस्विनी के समान शान्त-स्निग्ध हो जाती है। बुद्धिवाद का प्रभाव न्यून हो कर हार्दिकता की मात्रा अधिक हो जाती है। इस परिवर्तन के दो कारण सम्भव हैं। प्रथम कारण यह हो सकता है कि श्रद्धा के उदात्त, ममत्वपूर्ण एवं संवेदनशील चरित्र ने उस पर अपना प्रभाव डाला हो, उसकी रागात्मिका वृत्ति ने इडा का परिष्कार किया हो। हमारे इस कथन की पुष्टि इडा के द्वारा श्रद्धा से कही गई निम्न पंक्तियाँ हैं—

"हे देवि तुम्हारा स्नेह प्रबल,
बन दिव्य श्रेय उद्गम अविरल।
आकर्षण घन-सा वितरे जल,
निर्वासित हो सन्ताप सकल।
कह रहा प्रणत ले चरण धूल,
पकड़ा कुमार का मृदुल फूल।"

यहाँ इडा के हृदय पुष्प में बुद्धि की धूल नहीं, बल्कि प्रेम का पराग है। उसका हृदय भावनामय—अनुरागरंजित—हो उठा है। परन्तु श्रद्धा के इस प्रभाव को हम केवल बाह्य प्रभाव ही कह सकते हैं। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि उसके अन्तर का विवेक सांसारिक संघर्षों के उद्वेलन से स्वयं ही जाग्रत एवं प्रबुद्ध हो गया हो और फलतः उसका व्यक्तित्व भी उसने परिवर्तित हो गया। उसने यह अनुभव किया कि एकान्त बौद्धिकता का मनु पर स्वस्थ प्रभाव नहीं पड़ा। मनु ने इडा के सम्पर्क से गृहीत प्रभाव को इस प्रकार व्यक्त किया है—

"सब बाहर होता जाता है,
स्वगत उसे मैं कर न सका;
बुद्धि तर्क के छिद्र हुए थे
हृदय हमारा भर न सका।"

इन पंक्तियों में मनु अस्वस्थ, भ्रान्त और क्लान्त है। इडा का सम्पर्क उसे शान्त और स्वस्थ करने में सहायक नहीं हुआ। मनु और इडा की वृत्तियों का प्रकृत वैषम्य ही दोनों में भेद बनाए रहा। मनु के चरित्र के मूल में स्वार्थ और काम है; इडा के चरित्र में स्वार्थ और बौद्धिकता। दोनों की मूलवृत्तियाँ ही उन्हें मिलने देने में बाधक हैं। इडा आँसू के भीगे अंचल पर स्मित रेखा से सन्धि पत्र लिखने में तथा किसी के प्रति समर्पित होने में सर्वथा असमर्थ है। अपने स्वार्थ साधन के लिए आदान ही उसने सीखा है, प्रदान करने में उसका विश्वास नहीं।

प्रसाद ने इडा के चरित्र-चित्रण में आधुनिक युग की बौद्धिक-क्षमता से युक्त एक ऐसी सबल नारी का व्यक्तित्व खड़ा किया है जो आज के वैज्ञानिक युग की समस्त शक्तिमत्ता और दुर्बलता का एक साथ पूरा-पूरा आभास देने में समर्थ है। अनियन्त्रित बुद्धिवाद की पराजय तथा श्रद्धा-समन्वित बुद्धि की सफलता रूपक द्वारा, इडा के चित्रण में समाविष्ट कर के कवि ने इडा को प्राणवान्, शक्तिशाली और गतिशील चरित्र बना दिया है। कथा की दृष्टि से स्त्रीत्व का कल्याणकारी स्वरूप उसके

चरित्र में कहीं कहीं प्रस्फुटित हुआ है किन्तु उसका पूर्ण विकास सम्भव नहीं था अतः वह नारी जाति का प्रतिनिधित्व करने वाली स्त्री नहीं कही जा सकती। महाकाव्य में एक ऐसी नारी का होना नितान्त आवश्यक था जो प्रेम में प्रवंचना और स्वार्थ-साधन में तत्पर रह कर पुरुष से सम्पर्क स्थापित करे। आधुनिक युग की नारी जिसे अल्ट्रा-माडर्न कहते हैं और जो अपनी बौद्धिक पूर्णता के साथ पुरुष के साथ रह कर छलना करती है इड़ा के व्यक्तित्व में कुछ-कुछ देखी जा सकती है। वस्तुतः इड़ा व्यवसायात्मिका बुद्धि का वह रूप है जो अपने चरम विकास की परिणति होने पर संघर्ष और विप्लव की भूमिका प्रस्तुत करती है। भौतिक शक्ति का खेल खेलने में आतुर नर को प्रेरणा दे कर वह ऐसे स्थल पर ले जाती है जहाँ पहुँच कर वह बुद्धिवाद की विडम्बना को समझ सकता है। इड़ा का चित्रण काव्य कला की दृष्टि से सफल और पूर्ण है। उसमें वैज्ञानिक युग की दर्पोन्मत्त नारी का चरित्र बहुत ही सफलता से प्रतिफलित हो उठा है।

———————

प्रसाद का गीति-काव्य

[रामेश्वर लाल तरुण]

'प्रसाद' की गीत-सृष्टि पर विचार करने से पूर्व 'गीत' नामक विशिष्ट कोटि की एक सूक्ष्म साहित्यिक रचना के स्वरूप का संक्षिप्त विश्लेषण करना कुछ उपयोगी होगा।

स्थूल दृष्टि से छंदोबद्ध रचना में भावात्मकता, अन्त्यानुप्रास, छन्द-विधान आदि गुणों की समानता के कारण गीत भी कविता के ही अन्तर्गत रखा जाता है किन्तु विचार करने पर वह अपने कुछ विशिष्ट गुणों के कारण कविता से सहज ही पृथक् किया जा सकता है। यद्यपि कविता अपने मूल व परिष्कृत रूप में अनुभूति प्रधान रचना है फिर भी वह विषयाभिमुख ही अधिक रहती है। इसीलिए उसमें व्याख्यात्मक, बौद्धिकता, विस्तार, विषयात्मकता और तथ्य-निरूपण आदि का कुछ-न-कुछ अवकाश बना ही रहता है। प्रसिद्ध अंग्रेज समालोचक मैथ्यू ऑर्नल्ड ने 'कविता जीवन की समालोचना है' कह कर मानो इसी बात की ओर संकेत कर दिया है। किन्तु गीत एक अपेक्षाकृत अधिक अनुभूति-निष्ठ आत्मसंवेदनात्मक व सूक्ष्म रचना है। उसमें विषय या तो निमित्त-मात्र होता है या होता ही नहीं। गीतों के जितने प्रकार होते हैं उनमें से कुछ प्रकार के गीत अपनी गेयता के कारण गीत भले ही कहलायें किन्तु विषयप्रधानता, वर्णनात्मकता, व्याख्या आदि के कारण उनमें अवश्य ही उन तत्त्वों का अभाव होता है जो गीत में समाविष्ट हो कर उसके मार्मिक प्रभाव को हृदय के गूढ़तम स्तरों तक पहुँचाने में समर्थ होते हैं। यह बात दूसरी है कि लोकहृदय या किसी सामयिक रुचि का प्रतिनिधित्व करने के कारण वे जनता में व्यापक प्रचार पा जाते हैं। संभवतः इसी व्यापकता के कारण ही वे भी लोक-गीत कहे गये हैं।

इसके विपरीत वे कविताएँ भी, जो लम्बी व विश्लेषणात्मक भले ही हों, गीति-काव्यों के तत्त्वों से सम्पन्न होने के कारण गीति-काव्य ही कहलायेंगी—जैसे कालिदास का 'मेघदूत', जयदेव का 'गीत गोविन्द' और प्रसाद का 'आँसू' आदि। अभिप्राय यह है कि कविता एक विषय-प्रधान ही रचना है और गीत शुद्ध अनुभूति-प्रधान। गीत का प्रमुख लक्षण उसकी संकेतात्मकता, प्रतीकत्व, ध्वन्यात्मकता, अनुभूति की सूक्ष्मता व कोमलता, लाघव तथा अन्विति आदि हैं। कोमलकाय शुद्ध गीत कविता की व्याख्यात्मकता या विषय-विवेचना का भार उठाने में समर्थ नहीं होता। गीत-वर्ग मे गीत व प्रगीत का भी आगे और अन्तर किया गया है। गेय मुक्तक, अपनी व्यजना में जब समस्त मानव हृदय का प्रतिनिधित्व या समर्थन प्राप्त कर लेता है, गीत कहलाता है। किन्तु यदि वह व्यक्तिगत अनुभूति का वैचित्र्य या वैलक्षण्य मात्र ही प्रकट कर के रह जाता है तो प्रगीत कहलाने लगता है।

गीत-रचना का कोई एक निश्चित तंत्र या विधि-विधान नहीं है। भावोच्छ्वास की सहज-स्वाभाविकता, निश्छलता, तीव्रता व गम्भीरता तथा उसकी मार्मिक अभिव्यक्ति ही बहुत-कुछ उसके स्वरूप को निर्धारित कर देती है। उसकी सफलता का यदि कोई निर्णायक हो सकता है तो यही कि वह अनायास ही हमारे अस्तित्व को झंकृत कर दे, हृदय के गम्भीरतम स्तरों में निवास करने वाली वृत्तियों को जागृत कर के उन्हें तृप्त, पुष्ट व स्वस्थ कर दे, आन्तरिक विषाद व क्लांति का प्रक्षालन कर दे, हमारी चेतना को प्रबुद्ध कर के उसे प्रकाश स्नान करा दे तथा कुछ क्षणों के लिए हमारी अन्तःसत्ता को रस से सराबोर कर दे।

गीत कई प्रकार के हो सकते हैं। गुलाबराय ने चतुर्दश-पदी, सम्बन्ध-गीत, शोकगीत, व्यंग्यगीत, विचारात्मक गीत, उपदेशात्मक गीत आदि भेद करते हुए छायावाद-रहस्यवाद में प्रकृति-सम्बन्धी, आध्यात्मिक विरह-मिलन सम्बन्धी, गांधीवाद से प्रभावित राष्ट्रीय गीत व लौकिक प्रेमगीत का अस्तित्व माना है। श्री कन्हैयालाल सहल ने

अपने 'आलोचना के पथ पर' नामक ग्रन्थ में गीत के धर्ममूलक, स्वदेश-प्रेममूलक, प्रेममूलक, प्रकृतिमूलक, चतुर्दशपदी, स्तवनगीत, दर्शन-मूलक, शोक-गीत व मधु गीत आदि भेदों का उल्लेख किया है। संक्षेप में ये सब भेद मोटे तौर पर इन वर्गों में रक्खे जा सकते हैं—वीर-गीत, दार्शनिक गीत, शोक-गीत, देश-प्रेम के गीत, प्रकृति विषयक गीत, भक्ति-गीत व प्रेम-गीत। गीत रूप व विषय-भेद की दृष्टि से इनका मनचाहा विस्तार किया जा सकता है। वीर-गीतों में वीरपूजा की भावना में वीरों की प्रशस्ति होती है। दार्शनिक गीतों में प्रपंचात्मक जगत् व संघर्षपूर्ण जीवन के घात-प्रतिघातों से उत्पन्न सुख-दुःखमूलक बहुमुख अनुभवों की शृंखला में प्राप्त गम्भीर जीवन-तथ्यों का रागात्मक अभिव्यंजन होता है। शोक-गीतों में अपने प्रियजन के नाश अथवा अनिष्ट-प्राप्ति पर उत्पन्न भावावेग का करुण निरूपण होता है। देश-प्रेम के गीतों में अपनी मातृभूमि के प्रति या उसकी रूप माधुरी का पावन ध्यान मुखरित हो उठता है। प्रकृतिविषयक गीतों में प्रकृति के चित्र अंकित किये जाते हैं और प्रकृति-दर्शन में हृदय से जो मुक्ति की आनन्द-तरंग उमड़ती है, उसका अभिव्यंजन होता है। भक्ति-गीतों में अपने आराध्य देवता के प्रति स्थापित पावन प्रेम-सम्बन्धी की एकांतिक भावधारा उमड़ पड़ती है। प्रेम-गीतों में प्रणयी जनों के द्वारा अनुभूत विरह-मिलन की मर्म-मधुर अनुभूतियों का चित्रण होता है। गीतों का यह भेद ही साहित्य में सर्वाधिक व्यापक रहता है।

सृजन-प्रेरणा या कामवृत्ति सृष्टि की मूल प्रेरणा है जो मानव-हृदय की भित्तियों में अनादि वासना के रूप में विद्यमान है। एकोऽहं बहु स्याम् तथा 'स एकाकी' आदि उपनिषद् की उक्तियों में निराकार ब्रह्म को इसी भावना की मूल प्रेरणा से सगुण रूप प्रदान कर सृष्टि की आनन्द-मूलकता प्रतिपादित की है। यही परिष्कृत कामवृत्ति जो हमें 'रसो वै सः' की अनुभूति कराती है, हमारे जीवन के सुखात्मक व दुःखात्मक सभी क्रिया-कलापों के मूल में है और जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप

में सदा उनका नियमन या संचालन कर रही है। इसी वृत्ति को हम साहित्य में रतिभाव कहते हैं। यह भाव अपने मूल रूप में बड़ा ही परिष्कृत व उदात्त है और हृदय को शृंगार की सर्वोच्च अवस्था अथवा रस में निमग्न कर आनन्दानुभव कराता है। यह रतिभाव हृदय की सत्ता के मूल में है अतः इसका क्षेत्र मानव-जीवन मे सबसे व्यापक है। यही रति हमारे प्रणय सम्बन्ध, ईश्वर सम्बन्ध, देश-सम्बन्ध आदि में अपने प्रोज्ज्वल रूप में तत्त्व रूप से परिव्याप्त है। अपने-अपने क्षेत्र मे यही वृत्ति अपने सुचारु क्रिया-कलाप से मानव को आनन्दानुभव कराती है। रतिमूलक सभी प्रेम-संबंध अपने-अपने क्षेत्र में अपनी विशिष्ट मर्यादाओ के साथ हृदय को भाव या रस की अनुभूति कराते हैं किन्तु प्रणयमूलक रति का विस्तार सामान्य मानव-हृदय पर सर्वाधिक है। अतः जिन गीतों मे प्रणयमूलक रतिभाव को जागृत करने की सर्वाधिक क्षमता है वे सर्वाधिक आनन्द या रस का अनुभव कराते हैं। इसीलिए साहित्य में आचार्यों ने प्रणयमूलक रतिभाव पर आधारित शृंगार रस को रसराजत्व प्रदान किया है।

इस व्यापक दृष्टि से देखने पर परिष्कृत काम-वृत्ति ही अनुभूतिमूलक गीतों की मूल प्रेरणा है। यो बाह्य अथवा स्थूल रूप से गीतो की मूल प्रेरणा बाह्य जगत् के दुःख-द्वन्द्व ही दिखाई पडते हैं। अपने शून्य क्षणो में कवि जब जीवन के प्रवाह से कुछ क्षणों के लिए कट कर जीवन की नश्वरता व संसार की क्षणभंगुरता पर विचार करके दार्शनिक उद्‌गार व्यक्त कर उठता है तब भी गीत का जन्म हो जाता है। कभी वह आत्मा की अमरता की आनन्दमयी भावना मे डूब कर जन्म-मृत्यु के बन्धनों को तोड फेंकता है और प्रभात के प्रथम विहग की तरह रोम-रोम से पुलकित व उल्लसित हो कर रस-विभोर हो चहक उठता है तब भी रसमय गीत की सृष्टि हो जाती है। कभी जब वह इस भावना से खिन्न हो उठता है कि प्रकृति का कण-कण यहीं रह जायगा और मै सब दिनों के लिए समाप्त हो जाऊँगा तब भी कवि की प्राण-विपंची से

गीत के स्वर फूट पड़ते हैं। यथा—

"कलिके! मैं चाहता तुझे उतना जितना यह भ्रमर नहीं!
अरी तटी की दूब! मधुर तू उतनी जितना भ्रमर नहीं!
किसलय! तू भी मधुर, चन्द्रवदनी निशि! तू मीठी रानी,
दुख है, इस आनन्द कुञ्ज में मैं ही केवल अमर नहीं!"

—दिनकर (रेणुका)

संसार में किसी-न-किसी रूप में हमारा अस्तित्व इस भूमण्डल पर बना रहे—मानव-हृदय की यह एक परम मधुर लालसा है। कितने कवि आज तक न जाने इस भावना के प्रवाह में बह कर अपने अनमोल गीत छोड़ गये हैं। कोरी कीर्ति की कामना व धन की कामना से भी प्रेरित हो कर गीत लिखे गये हैं किन्तु उनमें वैसा स्पन्दन कहाँ मिल सकता है?

यह है गीत का द्रव या तत्त्व जिसे हम अनुभूति कहते हैं। यही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है किन्तु व्यावहारिक अभिव्यक्ति के क्षेत्र में तो इस सामग्री के सफल विन्यास पर ही गीत का सारा सौन्दर्य निर्भर करता है। इसके लिए रमणीय कल्पना, भावानुकूल भाषा व उपयुक्त छन्द-विधान की आवश्यकता होती है। गीत में अनुभूति-तत्त्व ही प्रमुख रहता है। जहाँ कल्पना ही प्रमुख हो जाती है वहाँ हम सूझों पर ही रीझ कर रह जाते हैं, रस में मग्न नहीं होते। कल्पना, भाव या अनुभूति को पाठक के हृदय तक पहुँचा कर उसमें रमणीयता उत्पन्न करने का महत्त्वपूर्ण साधन है। गीत की भाषा में ऐसी स्निग्ध, सुचिक्कण, प्रवाहपूर्ण, कोमलकान्त पदावली अपेक्षित होती है जो कर्ण-कटु वर्णों, क्लिष्ट वर्णों, लम्बे समासों आदि से रहित हो और छन्द प्रवाह में बिना खड-खड किये बह चलने वाली हो। प्रतीकों के बल से थोड़े में अधिक व्यंजित करने का कार्य भी शब्दों द्वारा ही लिया जाता है। यद्यपि गीत हृदय की वेगवती अनुभूतियों का निश्छल और आडम्बरहीन प्रकाशन है किन्तु श्रेष्ठ गीतिकार कवि अपनी भाषा में पर्याप्त साहित्यिक संयम से काम लेते हैं।

छन्द भी गीत की प्रभाव-सिद्धि का महत्त्वपूर्ण साधन है। भावना के आरोह-अवरोह के अनुरूप ही छन्द के चरणों की द्रुतमन्थर गति योजना नादानुरंजकता उत्पन्न कर गीत के प्रभावोत्कर्ष में अत्यधिक सहायक होती है। तुक, वर्णानुप्रास, छन्द-रूप व लय-प्रवाह पर गीतों की सुकुमार भावना की प्रेषणीयता बहुत कुछ निर्भर रहती है।

रचना-कौशल में इन सब बातों पर ही ध्यान देने मात्र से गीत सुन्दर नहीं बन पड़ता। सब अवयवों का यथास्थान सन्निवेश होने पर भी यह आवश्यक है कि गीत की भावना में आद्यन्त एक अन्विति या तारतम्य हो जिसमें सब भावना-तन्तु बड़ी दृढ़ता व स्निग्धता से संगुम्फित हों। यदि गीत की मूल या केन्द्रीय भावना के बीच तुक आदि मिलाने या किसी सुन्दर शब्द या पदावली के प्रयोग के लोभ का संवरण न कर सकने के असंयम के कारण जान या अनजान में किसी विरोधी, असंगत या अवांछित भाव-खण्ड या विचार का प्रवेश हो गया तो गीत के प्रभाव में व्याघात पड़ जायगा। यदि इस दृष्टि से भी गीत में कोई त्रुटि न रही तो फिर भी अन्तिम आवश्यकता यह बनी रहेगी कि सारा गीत समस्त मानव-हृदय की उसी भावना को वाणी दे रहा हो जिससे कि उस गीत के सभ्य कवि के समानान्तर या समानधर्मा हृदय का भी पूर्ण साधारणीकरण हो जाय। मानव-हृदय का प्रतिनिधि होते हुए भी उसमें सांस्कृतिक उदात्तता का गम्भीर स्वर हो। इसके लिए यह आवश्यक है कि उसमें साहित्यिक शालीनता, मार्दव व सौष्ठव पूर्ण रूपेण प्रदर्शित हो। यों गीत में प्रत्यक्ष व्यावहारिक बुद्धि की कहीं गुंजाइश नहीं, क्योंकि वह आत्मविभोर अस्तित्व का भाव-स्फोट है पर कला-पक्ष के सुविन्यास व सुचारुता के लिए परोक्ष रूप में—शब्द-चयन, अलंकार-विधान, छन्द-योजना, भाषा-लालित्य, अन्विति-निर्वाह आदि में—उसका पूर्ण उपयोग होता ही है। गीत पागल का प्रलाप मात्र नहीं है, वह जाग्रत व रसविभोर क्षणों की अत्यन्त संयत व गम्भीर वाणी है।

यों तो शास्त्रीय दृष्टि से गीत में मुख्यतः किसी एक संचारी भाव या मानसिक अवस्था मात्र का ही अभिव्यंजन होता है जो समस्त रस-चक्र का एक अंशमात्र है किन्तु गीत की लय, सुर, सहायक वाद्य-यन्त्र (यदि रंगमंच पर गाया जाय तो मंच-सज्जा व वातावरण) प्राकृतिक परिस्थिति, गायक का रूप-सौन्दर्य व मुद्रा आदि सब मिल कर एक ही सफल व सुन्दर गीत में उस पूर्ण रसवत्ता की स्थापना कर सकने में समर्थ माने जा सकते हैं जो किसी काव्य या नाटक में ही सम्भव कही जाती है। आनन्दवर्धनाचार्य ने अपने ध्वनि-सिद्धान्त से मुक्तकों में भी पूर्ण रसात्मकता का अनुभव करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया है, यह सर्वविदित है। गीत में तो, उपर्युक्त सहचारी उपकरणों के कारण रसानुभूति की और भी अधिक सम्भावना है। गीत एक लघु सृष्टि अवश्य है किन्तु अपने लाघव, शुभ्रता, विन्यास-चारुता व निर्दोष गठन में एक आत्मपूर्ण भव्य सृष्टि है—शुभ्र ओसकण की तरह! विद्वज्जन इस विषय पर और भी विचार करेंगे, ऐसी आशा है।

इस प्रकार गीत एक उच्च कोटि की साहित्यिक सृष्टि है जो कवि के समग्र अस्तित्व की संगीतमयी वाणी है। उसमें कवि की आन्तरिक भाव-विभूतियों तथा अभ्यास प्राप्त या अर्जित कला-कौशल के एक ही साथ दर्शन होते हैं। जीवन-संघर्ष की मर्म-मधुर अनुभूतियों के ताप से जब कवि का सारा अस्तित्व पिघल कर उबलने लगता है और वह तरल रस बरबस छन्दों के साँचों में ढल जाना चाहता है तब हमें एक गीत मिलता है। गीत में ही कवि की सारी मनोग्रन्थियाँ स्वतः खुल पड़ती हैं। गीत-रचना के क्षणों में मानो कोई अज्ञात शक्ति ही कवि से गीत लिखवा जाती है।

शेक्सपियर को प्रकृति ने अपना रूप प्रकट करके दिखा दिया। उसने उसे अपनी लेखनी भी दे दी। गीत-रूपिणी वह कुंजी दे दी जो आनन्द के अक्षय भण्डार का द्वार खोलती है!

गीत-रचना के क्षणों में कवि का भौतिक जड़ अस्तित्व, अलौकिक

चैतन्यपूर्ण और रसमय हो जाता है। उसका हृदय उन क्षणों में विश्व का सबसे सुन्दर व प्रकाशवान हृदय होता है। वह अपने व्यावहारिक जीवन-प्रवाह को विश्राम दे कर कुछ क्षणों के लिए अपने हृदय को विश्व-हृदय के सामने इस प्रकार खोल कर रख देता है मानो अनन्त आकाश के सामने खुला हुआ उर्मिल महासिन्धु! ऐसे धन्य क्षणों में ही कवि के जीवन का द्वन्द्व छन्द और शोक श्लोक बन जाता है। गीत के लावण्य-सिन्धु मे मिल कर उसके जीवन की समस्त कटुताएँ, विरोध, अभाव, क्रन्दन, पाप-ताप आदि रसमय ही हो जाते हैं। उसके व्यावहारिक, धार्मिक, दार्शनिक, साहित्यिक खण्ड-अस्तित्व सब पिघल कर अखंड रस मात्र रह जाते हैं। वह अपने क्षुद्र अस्तित्व का लोक-हृदय में निःशेष विसर्जन करके सुख की साँस लेता है। इस आत्माभिव्यंजन का उसे तात्कालिक पुरस्कार मिलता है—स्फूर्तिशील उज्ज्वल, रसमय प्रकाशपूर्ण आत्म-सत्ता की अनुभूति। ऐसे एक गीत को पढ़ने या तन्मय हो कर सुनने का लाभ पाठक के लिए अनन्त सुख का साधन है।

गीत के इस स्वरूप-विश्लेषण को ध्यान में रख कर अब हम प्रसाद के गीति-काव्य पर एक दृष्टि डालें।

'प्रसाद' के गीति-काव्य के अन्तर्गत उनके नाटकों में पात्रों के द्वारा गाये जाने वाले गाने तथा कविता-संग्रहों में संकलित गीत में दोनों ही प्रकार की रचनाएँ सम्मिलित हैं। ये सभी रचनाएँ शुद्ध साहित्यिक हैं अतः आलोच्य विषय के अध्ययन का आधार प्रस्तुत करती हैं। राज्यश्री, विशाख, अजातशत्रु, कामना, जनमेजय का नागयज्ञ, स्कन्दगुप्त, एक घूँट, चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी आदि नाटकों में 'झरना' और 'लहर' नामक कविता-संग्रहों तथा 'आँसू' नामक प्रबन्धात्मक मुक्तक काव्य में 'प्रसाद' के गीति-काव्य की सामग्री उपलब्ध है। अकेले नाटको मे ही १००-१२५ के लगभग गीत संकलित हैं। गीत प्रायः सभी प्रकार के हैं—शृंगारिक, दार्शनिक, भक्तिपरक, राष्ट्रीय व प्रकृति-सौन्दर्य-मूलक, किन्तु प्रधानता शृंगारिक गीतों की है। नाटकों में राज्यश्री के 'आशा

विकल हुई है मेरी', 'सँभाले कोई कैसे प्यार', विशाख का 'आज मधु पीले यौवन वसन्त खिला !', अजातशत्रु के 'अली ने क्यों भला अवहेला की', 'मीड मत खिंचे बीन के तार', 'बहुत छिपाया उफन पड़ा अब, सम्हालने का समय नहीं है', 'चला है मन्थर गति से पवन रसीला नन्दन कानन का', कामना के 'सघन वन वल्लरियों के नीचे,' 'पी ले प्रेम का प्याला', 'छटा कैसी सलोनी निराली है', 'छिप आओगी कैसे', 'पृथ्वी की श्यामल पुलकों में', जनमेजय का नागयज्ञ के 'अनिल भी रहा लगाये घात', 'मधुर माधव ऋतु की रजनी', स्कन्दगुप्त के 'न छेड़ना उस अतीत स्मृति से खिंचे हुए बीन-तार कोकिल', 'संसृति के वे सुन्दरतम क्षण यों ही भूल नहीं जाना', 'भरा नैनों में मन में रूप', 'घने प्रेम-तरु तले', 'अगरु धूम की श्याम लहरियाँ उलझी हों इन अलकों से', 'आह ! वेदना मिली विदाई'; चन्द्रगुप्त के 'तुम कनक किरण के अंतराल में लुक-छिपकर चलते हो क्यों', 'आज इस यौवन के माधवी कुंज में कोकिल बोल रहा', 'कैसी कड़ी रूप की ज्वाला', 'सखे ! वह प्रेममयी रजनी', और ध्रुवस्वामिनी के 'यौवन ! तेरी चंचल छाया,' 'अस्ताचल पर युवती सन्ध्या की खुली अलक घुँघराली है' आदि शृंगारिक गीत बहुत मार्मिक, भावनापूर्ण व मादक प्रभाव उत्पन्न करने वाले हैं। संग्रहों में 'झरना' के 'खोलो द्वार', 'कौन, प्रकृति के करुण काव्य सा, वृक्ष पत्र की मधु छाया में', शून्य हृदय में 'प्रेम जलद-माला कब फिर घिर आवेगी ?' तथा लहर के 'निज अलकों के अन्धकार में तुम कैसे छिप आओगे ?', 'बीती विभावरी जाग री !', 'ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक ! धीरे धीरे', 'आह रे वह अधीर यौवन', 'वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे !', 'मेरी आँखों की पुतली में तू बन कर प्राण समा जा रे !', 'काली आँखों का अन्धकार' आदि प्रेम-गीत बहुत ही मार्मिक हैं। इनमें से अधिकांश गीत बहुत लोकप्रिय हो चुके हैं। 'आँसू' विप्रलंभ शृंगार का सुप्रसिद्ध प्रेम काव्य है जिसमें कवि की प्रेम-वेदना विश्व-व्यापी बन कर उदात्त व उज्ज्वल रूप

धारण कर लेती है। दार्शनिक व भक्तिपरक गीतों में देवसेना का गीत 'सब जीवन बीता जाता है धूप-छाँह के खेल सदृश' (स्कन्दगुप्त); 'सखी री, सुख किसको हैं कहते ?' तथा 'हृदय के कोने-कोने से' (विशाख); खेल लो नाथ विश्व का खेल' (कामना); 'जीने का अधिकार तुझे क्या...', 'नाथ ! स्नेह की लता सींच दो' (जनमेजय का नाग यज्ञ), 'चंचल चन्द्र, सूर्य है चंचल' (अजातशत्रु) व 'कितने दिन जीवन-जलनिधि में' (लहर) आदि गीत पूर्ण रसात्मक व गम्भीर हैं। राष्ट्रीय व वीरत्वपूर्ण गीतो मे 'हिमाद्रि तुंग शृंग से', 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' (चन्द्रगुप्त); 'माँझी! साहस है खेलोगे,' 'हिमालय के आँगन मे उसे प्रथम किरणों का दे उपहार' (स्कन्दगुप्त); 'पददलित किया है जिसने भूमण्डल को' (जनमेजय का नागयज्ञ) तथा प्रकृति-सौन्दर्य के गीतो में 'छाने लगी जगत में सुषमा निराली' (विशाख); 'अस्ताचल पर युवती सन्ध्या की खुली अलक घुँघराली है' (ध्रुवस्वामिनी); 'तू आता है फिर जाता है', 'झील में' (झरना) जैसे गीत बहुत ओजपूर्ण व रमणीय हैं। किन्तु जिन गीतो मे हृदय की कसक, तड़प, मसोस, दाह और अवसाद व्यक्त हुआ है, वे गीत हृदय पर गहरी रेखा खींच देते हैं। 'कामायनी' के 'निर्वेद' सर्ग में गीत की साकार प्रतिमा श्रद्धा गाती है—

"तुमुल कोलाहल कलह में मै हृदय की बात रे मन
जहाँ मरु-ज्वाला धधकती, चातकी कन को तरसती;
उन्हीं जीवन-घाटियो की, मै सरस बरसात रे मन ! तुमुल।"

इन पंक्तियो मे मानो गीत का स्वरूप ही स्पष्ट हो गया है। हृदय की बात ही भाव या अनुभूति है। यही अनुभूति गीत का प्राण या हृत्कम्पन है। इसके अभाव में कोरी कल्पना या अनूठी-से-अनूठी अभिव्यंजना-शैली भी राजनर्तकी-सी जान पड़ती है। यह कहे बिना नहीं रहा जायगा कि 'प्रसाद' का सारा गीति-काव्य अनुभूति के रस से ओत-प्रोत है। बौद्धिकता या दार्शनिक पुट तो काव्य को सुदृढ़ या टिकाऊ बनाने का सीमेंट है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने ठीक ही लिखा है कि

'प्रसाद' इस युग के सबसे अधिक अनुभूतिशील कवि थे। वस्तुतः उनके काव्य का स्नायुजाल इन्हीं जीवन-सुलभ व मानवीय अनुभूतियों के रक्त से पोषित व अनुप्राणित है। प्रणय-वेदना या विरहावस्था के प्रसंगों में यह अनुभूति अत्यन्त प्रगाढ़ हो उठती है। 'आँसू' में इस अनुभूति का चरमोत्कर्ष हो गया है। लहर के 'मधुप गुनगुना कर कह जाता कौन कहानी यह अपनी', 'ले चल वहाँ भुलावा दे कर,' 'वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे', 'अरे कहीं देखा है तुमने', 'मधुर माधवी संध्या में जब रागारुण रवि होता अस्त' आदि गीतों में कवि की रहस्याकुल चिन्तनशील रसमयी आत्मा की एकांत करुण स्वर-लहरी निनादित हो उठी है। नाटकों में तो, जहाँ गीत रूप में पात्रों के हृदय के उद्गार उनके जीवन की गतिविधियों की व्यापक पृष्ठ-भूमि में व्यक्त किये जाते हैं, अनुभूति का संवेदन और भी तीक्ष्ण व मर्मस्पर्शी होता है। जहाँ प्रणय-वंचिताओं, असफल प्रेमियों, जीवन-पथ के श्रांत-क्लांत किन्तु कर्मठ वीरों, जीवन-संग्राम के व्रणों को सहलाते हुए अतीत की स्मृतियों सम्बल पर जीने वाले सदाशय पात्रों, जगत् व जीवन का तटस्थ सिंहावलोकन करने वाले दार्शनिकों और चोट खा कर तड़पने वाले आर्त्त हृदयों की पुकारें उठती हैं वहाँ प्रसाद के हृदय की अनुभूति का सारा स्रोत खुल पड़ता है। आदर्शों के कलानीड़ में निवास करने वाली देवोपम देवसेना अपनी राशि-राशि कोमल कामनाओं का ढेर लिये जब जीवन के भावी सुख, आशा और आकांक्षा सबसे सदा के लिए विदा लेती है तब यह गीत पाठक या श्रोता के हृदय को मसल कर और मथ कर डाल देता है—

> "आह! वेदना मिली विदाई।
> मैंने भ्रमवश जीवन-संचित मधुकरियों की भीख लुटाई।
> छल छल थे सन्ध्या के श्रमकण
> आँसू से गिरते थे प्रतिक्षण।
> मेरी यात्रा पर लेती थी नीरवता अनन्त अँगड़ाई!"

अथवा, मातृगुप्त का यह गीत हृदय में

"संसृति के वे सुन्दरतम क्षण यों ही भूल नहीं जाना"

अजातशत्रु में श्यामा (मागन्धी) के इस गीत में कितनी मर्म-वेदना है—

"बहुत छिपाया, उफन पड़ा अब, सम्हालने का समय नहीं है।
अखिल विश्व मे सतेज फैला, अनल हुआ यह प्रणय नहीं है॥

× × ×

चपल निकल कर कहाँ चले अब, इसे कुचल दो मृदुल चरण से।
कि आह निकले दबे हृदय से, भला कहो यह विजय नही है?"

ऐसे गीतों में प्रसाद के हृदय की अनुभूति ही आकाश में नीलिमा की तरह सर्वत्र समरस हो कर घुली हुई है। निर्वेद, दैन्य, मद, मोह, स्मृति, विषाद, अमर्ष, उन्माद आदि हृदय की गम्भीर भावनाओं (संचारी भाव) की व्यंजना बहुत ही मार्मिक हुई है। सम्भोग शृंगार से अधिक मार्मिकता विप्रलंभ शृंगार के गीतों में है। इन गीतों में कवि के हृदय की पूर्णता का पता चलता है, क्योंकि विभिन्न जीवन-स्थितियों के स्त्री-पुरुष-पात्रों के हृदय में उतर कर उनकी अनुभूतियों को वाणी देना एक अत्यन्त दुष्कर कार्य है।

दार्शनिक, राष्ट्रीय व प्रकृति-प्रेम के गीतों में भी अनुभूति की यह सहजता और गम्भीरता प्रकट हुई है। 'स्कन्दगुप्त' के इस गीत में दार्शनिक भावना का सुन्दर चित्रण हुआ है—

"सब जीवन बीता जाता है, धूप छाँह के खेल सदृश।
समय भागता है प्रति क्षण में,
नव अतीत के तुषार कण में
हमें लगा कर भविष्य रण में आप कहाँ छिप जाता है!"

'चन्द्रगुप्त' की कार्नेलिया के द्वारा गाया गया देश-प्रेम का गीत अर्थ-गरिमा, भावों की उदात्तता, कल्पना की रमणीयता व सौन्दर्य-चित्रण की दृष्टि से 'प्रसाद' के सर्वश्रेष्ठ गीतों में से है—

कृतचपलविहङ्गालापकोलाहलाभि-
र्जलनिधि जलमध्यादेष उत्तार्यतेऽर्कः ॥"

'तुम कनक किरण के अन्तराल में', 'कितने दिन जीवन जलनिधि में', 'आँखों मे अलस लगाने को' जैसे गीतो में भी कल्पना की प्रौढ़ता व रसात्मकता के दर्शन होते हैं। भावोत्कर्ष मे कवि-कल्पना कल्पना के अतीन्द्रिय लोक में ही जा कर विश्राम करती है। 'ले चल मुझे भुलावा दे कर' नामक गीत में उसी अतीन्द्रिय सुदूर लोक के प्रति बड़ा ही रमणीय संकेत है। 'आह कल्पना का सुन्दर यह, जगत मधुर कितना होता' इन गीतो मे पूर्णतः चरितार्थ हो रहा है।

रूप-विधान व अलंकार-विधान में प्रसाद की कल्पना खुल कर खेली है किन्तु उसमे कहीं उच्छृंखलता या छिछलाहट नहीं आई है। कल्पना की विशालता और प्रौढता की दृष्टि से प्रसाद कोमल कल्पनाशील (Fanciful) कवि कीट्स के उतने निकट नहीं जितने मिल्टन, शेली व पन्त, जिनकी कल्पना व्यापक व विराट् है। प्रसाद का कल्पना-प्रेम देवसेना जैसे पात्रों की सृष्टि मे पूर्णतः प्रकट हुआ है। 'देवसेना' के निर्माण में मानो 'प्रसाद' की रोमांटिक कल्पना को पूर्ण विश्राम मिल गया है! कल्पना की उदात्तता 'प्रसाद' को सुदूर लोकों मे उड़ा ले जाती है। वर्तमान से असन्तुष्ट 'प्रसाद' शेली या पंत की तरह भविष्य की मधुर कल्पना में लीन न हो कर या तो कीट्स की तरह अतीत की स्वर्णोज्ज्वल प्राची मे पंख मारते हुए उड़े जाते हैं या अपने ही मनोजगत् के सूक्ष्म-धूमिल रहस्य-लोकों के छायाकुञ्जो मे प्रेम-सौन्दर्य के शिल्पपूर्ण नीड़ रचते हैं। किन्तु वे शेली की तरह कभी हवाई नहीं होते। उनकी ऊँची-से-ऊँची उड़ान में भी यथार्थ व वास्तविकता का आधार रहता है और इसी कारण वह हृदय का सत्य बन कर मन को पुष्टिकारक खाद्य प्रदान करता है। कल्पना का रहस्यात्मकता या जिज्ञासा कुतूहल की भावनाओं में पर्यवसान प्रबन्ध के क्षेत्र में 'कामायनी' में 'गहन नील इस परम व्योम के अन्तरिक्ष में

ज्योतिर्मान !' आदि और गीति-काव्य में 'ले चले मुझे भुलावा दे कर' या 'हे सागर संगम अरुण नील' जैसे गीतों में व्यक्त हुआ है। निश्चय ही इन गीतों में कहीं भी कोई रूढ़ि-ग्रस्त साम्प्रदायिक भावना नहीं है। पन्त जी के 'दूर उन खेतों के उस पार जहाँ तक गई नील झंकार' (गुंजन) अथवा 'न जाने नक्षत्रों में मौन, मुझे इंगित करता है कौन' (पल्लव) या महादेवी जी के 'कौन तम के पार, रे कह !' आदि गीतों में जैसी स्वाभाविक रहस्य-भावना या जिज्ञासा-कौतूहल प्रकट हुआ है वैसी ही स्वाभाविक भावना प्रसाद के गीतों मे हुई है। कहीं कहीं यह भावना बहुत गूढ़ भी हो जाती है जिसका सौन्दर्य हृदयंगम करने के लिए वेदान्त की ब्रह्म-भावना का ज्ञान आवश्यक-सा हो जाता है। 'निज अलकों के अन्धकार में तुम कैसे छिप आओगे ?' आदि गीत पर्याप्त दुर्बोध हैं।

उद्दीपन, मानवीकरण, रहस्य-भावना, प्रतीक-विधान, अलंकार-विधान, पृष्ठभूमि व वातावरण-निर्माण आदि के लिए प्रसाद ने प्रकृति का प्रचुर प्रयोग किया है किन्तु वस्तुतः उद्दीपन व अलंकार-विधान में ही उसका सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। छोटे-छोटे गीतों में प्रकृति के आलम्बनगत संश्लिष्ट चित्रण का अवकाश कहाँ ? गीतों में पपीहा, रजनी, प्याली, उषा, लहर, चन्द्र, बिजली का प्रतीक रूप में प्रयोग हुआ है। ये ही प्राकृतिक पदार्थ रूपक उपमा आदि में उपमान रूप में भी बहुत प्रयुक्त हुए हैं। प्रकृति के प्रति मानव-निरपेक्ष छलछलाते हुए सहज उल्लासपूर्ण मुक्त प्रेम की जैसी व्यंजना पन्त व वर्ड्सवर्थ मे हुई है वैसी प्रसाद मे कहीं नहीं। महादेवी की कविता में भी प्रकृति प्रायः ड्राइंग रूम के सजावट के पदार्थों के रूप मे ही चित्रित हुई है। प्रसाद का अलंकार-विधान प्रौढ रस-साधक किन्तु सहज-स्वाभाविक है। रीतिकालीन प्रवृत्तियाँ झलकती हैं किन्तु केशव या पद्माकर की तरह आपत्तिजनक 'फिटिंग' का प्रयत्न कहीं नहीं मिलता। अनेक उपमाएँ नवीन व मौलिक हैं। उपमाओं में साधर्म्य पर ही मुख्य

दृष्टि रहती है। 'आँसू' में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा व मुद्रा का सौन्दर्य दार्शनिक है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है गीत में भावना का सहजोद्रेक और कौशलपूर्ण विधान ही पर्याप्त नहीं। उसमें एक अन्विति का आद्यन्त निर्वाह आवश्यक है। इसी पर उसकी अपील की शक्ति बहुत-कुछ निर्भर करती है। कवि का प्रकृत प्राण-प्रवेग, भाव-सत्यता, अनुभूति की मार्मिकता व गम्भीरता स्वतः गीत की अभिव्यंजना में एक स्वाभाविक अन्विति प्रतिष्ठित कर देती है। शब्द-विधान कौशल लय-माधुर्य आदि से गीत सुन्दर, स्निग्ध व चमकीले रेशमी तारों से बुने हुए सिल्क-सा उतरता है। प्रसाद के गीतों में अनुभूति की अन्विति ही गीत के सब तत्त्वों को बहुत दृढ़ता से गूँथे रखती है। यह अन्विति महादेवी के गीतों में उतनी स्पष्टता के साथ नहीं मिलती। शब्द-शिल्प और 'फिनिश' में तो शायद उनकी टक्कर का कोई कवि हिन्दी में हुआ ही नहीं।

प्रसाद के गीतों की भाषा संस्कृतनिष्ठ परिष्कृत खड़ी बोली है। लाक्षणिकता के बल पर थोड़े से चुने हुए शब्दों में भाव या स्थिति को झलकाते हुए पाठक के हृदय में एक गूँज या तड़प उत्पन्न करने की कला में वे हमारे युग के सर्वश्रेष्ठ कलाकारों में से हैं। जहाँ तक शब्द-शिल्प मात्र का सम्बन्ध है वहाँ तक शायद महादेवी उनसे बढ़ी-चढ़ी हों। कोमल स्निग्ध शब्दों का चयन, पद-योजना, छन्द-प्रवाह उनकी अपनी ही वस्तु है। उनके फिसलते स्निग्ध गीत-चरणों को सुन कर या पढ़ कर ऐसा अनुभव होता है मानो हिम के आँगन में किशोरी किन्नरियाँ चाँदी के पायल बाँधे चाँदनी में लास कर रही हों। किन्तु, प्रसाद यहीं तक नहीं रहते। वे पाठक के हृदय में भाव का प्रकृत स्वरूप तीव्रता व गति का संप्रेषण करने के लिए ध्वनि-काव्य की सांकेतिक शैली का प्रयोग करते हैं। प्रतीयमान अर्थ या ध्वन्यर्थ पर ही उनकी दृष्टि रहती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि उनकी इस

शैली का पूर्ण रसास्वादन विदग्ध व मार्मिक हृदय ही कर सकते हैं। प्रसाद ने छायावादी शैली की इसी में विशेषता मानी है (दे० काव्य-कला व अन्य निबन्ध में 'यथार्थवाद और छायावाद' नामक लेख)। स्पृहणीय आभ्यन्तर वर्णन के लिए—आन्तरिक स्पर्श से पुलकित भावों के अभिव्यंजन के लिए—रम्यच्छायान्तरस्पर्शी वक्रता के प्रयोग से जो लावण्य उत्पन्न होता है वही छायावादी अभिव्यक्ति का लक्ष्य है। इसी गम्भीर लक्ष्य की सिद्धि के लिए वे बड़े ही विवेक, संयम और कौशल से भाषा का निर्णय करते हैं। केशव, पद्माकर या रत्नाकर की तरह (रत्नाकर में भाषा व भाव का सामञ्जस्य अवश्य रहता है) आनुप्रासिकता या नादानुरंजकता उत्पन्न करना भी उनकी सुरुचि को नहीं रुचता। सहज रूप में ही यदि संगीतात्मकता या वर्ण-मैत्री स्थापित हो जाय तो बहुत भला! गीतों की लय या छन्द-प्रवाह भी सहज-साध्य ही होता है। हाँ, छन्द कहीं-कहीं टूटता अवश्य है। यथा—

"इतना सुख जो न समाता अन्तरिक्ष में जल-थल में।"—आँसू

इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भारी-भरकम शब्दों का प्रयोग भी हो जाता है जिन्हें कोमलकाय गीत सँभाल नहीं पाते। विनम्र, अस्तित्व ('ध्रुवस्वामिनी); तरुणाब्ज, कल्पनावली, त्रयस्त्रिंश, आवृत (विशाख); तारा-मद्यप-मण्डली (कामना); द्वेषा (जनमेजय का नागयज्ञ) आदि शब्द कोमल भावना की अभिव्यक्ति के प्रसंग में असह्य हैं। हाँ, द्वित्व वर्ण, सोष्म वर्ण समस्त पदावली आदि ओजगुण के प्रदर्शन के सर्वथा उपयुक्त जान पड़ते हैं। जैसे—

"जगे हम, लगे जगाने विश्व लोक में फैला फिर आलोक।
व्योम तम पुंज हुआ तब नष्ट अखिल संसृति हो उठी अशोक।
विमल वाणी ने वीणा ली कमल-कोमल-कर में सप्रीत।
सप्तस्वर महासिन्धु में उठे छिड़ा तब मधुर साम संगीत।

× × ×

जातियों का उत्थान पतन, आँधियाँ झड़ीं, प्रचंड समीर।
खड़े देखा झेला हँसते, प्रलय में पले हुए हम वीर।"

'प्रसाद' की प्रतिनिधि भाषा का स्वरूप यह जान पड़ता है—

"दिनकर हिमकर तारा के दल, इनके मुकुर वक्ष में निर्मल,
चित्र बनायेंगे जब चंचल, आशा की माधुरी अवधि में।

+ + +

सुरधनु रंजित नव जलधर से भरे क्षितिज-व्यापी अम्बर से,
मिले चूमते जब सरिता के हरित कूल युग मधुर अधर थे।"

'अगर धूप की श्याम लहरियाँ, 'मधुर माधवी सन्ध्या में' और 'तुम कनक किरण के अन्तराल में' आदि गीतों में तथा आँसू के छन्दों में 'प्रसाद' की भाषा का सबसे निखरा हुआ रूप मिलता है।

प्रसाद के गीतों का स्वर बहुत उच्च है। शरदाकाश मे डोलती झीनी बदलियों सी हल्की-फुल्की भावनाओं को प्रचलित या व्यावहारिक पदावली मे कह कर सस्ती ख्याति के लिए जनता का स्थूल मनोरंजन करना उनके लिए मानो सम्भव नहीं। अब इसे आप चाहे प्रसाद का गुण कहें चाहे दोष। मिल्टन अपनी काव्य-शैली की कठिनता व ब्राउनिंग की गम्भीर दार्शनिकता व धूमिलता उनके वास्तविक मूल्यांकन के मार्ग में कोई बाधक नहीं। हिन्दी-भाषा के प्रचार की व्यापकता के साथ-साथ प्रसाद की यह भाषा जनसाधारण के लिए शायद उसी प्रकार स्पष्ट होती जायगी जिस प्रकार तारे उदय हो कर उत्तरोत्तर उज्ज्वल व स्पष्ट होते जाते हैं। अस्तु। जब तक कोई अनुभूति किसी विशेष परिस्थिति के संघात से प्रसूत हो कर किसी विशिष्ट प्राण-प्रवेग से उच्छ्वसित हो कर दमक नहीं उठती तब तक वह मानो अभिव्यक्ति के योग्य नहीं। प्रसाद के सभी प्रकार के गीतों पर यह बात लागू होती है। इसलिए ये गीत प्रायः उन्हें ही छू पाते हैं जिनका मानसिक या सांस्कृतिक धरातल उच्च हो या जो अन्तस्साधना के द्वारा हृदय की गहराइयों मे से हो कर निकले हों। प्रसाद के प्रेमगीत केवल

छिछली विलासिता के उद्गारमात्र नहीं हैं। घनीभूत एक आँख वाले के लिए मांसल रस तत्त्व का प्रकाशन विलास है और दो आँख वाले के लिए रास। प्रेमतत्त्व का जब वसन्त-विकास होता है तब उसकी पदावली, भाषा व अभिव्यंजन-शैली स्थूल विलास-सी भी लग सकती है। कामायनी का 'आनन्द सर्ग' व भागवत की रासपंचाध्यायी में एक ही प्रेमतत्त्व का निरूपण है—एक काव्यात्मक, दूसरा धार्मिक या भक्ति-परक। प्रसाद रूप और विलास के कवि कहे गये हैं। साधारण पाठकों के लिए इसमें भ्रांति की गुंजायश है। वस्तुतः प्रसाद के गीति-काव्य की पृष्ठभूमि में एक विशाल मानसिक साधना है जिसके अनुरूप हो कर ही पाठक उनकी व्यंजनाओं की गम्भीरता और सूक्ष्मता, अनुभूति की उदात्तता और अर्थ-गरिमा का सौन्दर्य पकड़ पा सकता है। प्रकृति का सबसे सात्विक धर्म यही है।

वास्तव में इन गीतों का धरातल न मानवीय है, और न दानवी। भौतिकता और आध्यात्मिकता के दो कूलों के बीच में से ही यह मानवीय प्रेम-धारा बही है जिसमें दोनों कूलों का सौन्दर्य प्रतिबिम्बित हो रहा है। इसमें विलास और तप का सम्मिश्रण है। प्रसाद प्रेम को सांस्कृतिक धरातल पर उठा ले गये। यदि कहीं भौतिकता व मांसलता उभरी भी है तो अन्त में सूक्ष्म व उदात्त में उसका पर्यवसान हो गया है। इस दृष्टि से प्रसाद की साधना कालिदास के समकक्ष है। मेघदूत, कुमारसंभव व रघुवंश में काम पर पावन प्रेम की विजय हुई है। आँसू और 'कामायनी' में भी ठीक यही बात चरितार्थ हुई है। आँसू का भौतिक विरह आध्यात्मिक पावनता में परिणत हो जाता है। निम्न काम को उच्च प्रेम तक उठा ले जाने का यह प्रयत्न प्रसाद के काव्य को सांस्कृतिक गौरव प्रदान करता है। प्रसाद प्रेम के पूर्ण समर्थ कवि हैं। प्रेम का उदात्त चित्रण स्वस्थ हृदय, संयत बुद्धि व सधे हाथ से ही हो सकता है। भौतिक प्रेम किस प्रकार पवित्र प्रेम का संजीवन बन कर मन के लिए तृप्तिदायक बनता है, यह प्रसाद के काव्य में दिखाई पड़ता है।

अवश्य ही कठिन कहे जायेंगे। डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने प्रसाद के नाटकों में प्रयुक्त गीतों में कुछ अनौचित्य व त्रुटियाँ भी बताई हैं। वे हैं—"(१) गीतों का अतिरेक जिसके कारण संगीत भी अरुचिकर हो जाता है, (२) गीतों का लम्बा व अव्यावहारिक होना जिसके कारण रंगमंच पर उनकी अनुपयुक्तता। फिर भी प्रसाद के गाने अवश्य ही साभिप्राय दिखाई पड़ते हैं और अधिक गाने ऐसे हैं जिनके विषय नाटक की कथा के मेल में हैं।"

हिन्दी-साहित्य में प्रसाद का गीति-काव्य अवश्य ही सदा उच्च कोटि का काव्य समझा जाता रहेगा। माना कि इनमें विद्यापति की सी कोमलकान्त पदावली, वैसी मादकता व शृंगार की प्रफुल्लता नहीं, मीरा, सूर, तुलसी व भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की-सी सुबोधता नहीं; कबीर-का सा खरापन व चुटीलापन नहीं; निराला की सी निर्बन्ध स्वच्छन्दता व मस्ती नहीं; पन्त की सी मुक्तकण्ठता, आत्मविभोरता व स्वर्गिक आत्मोल्लास की वेगवती तरंग नहीं, महादेवी का सा शिल्प नहीं, बच्चन की सी स्पष्टता, सरलता व सहज-स्वाभाविकता नहीं, किन्तु इनमें अनुभूति-तत्त्व ऐसी आश्चर्यजनक मात्रा में विद्यमान है कि काव्य में अनुभूति को ही टटोलने वाले हृदयों को ये सदा उनकी वांछित वस्तु प्रदान करते रहेंगे।

प्रसाद-काव्य की मूल चेतना

(डॉ० प्रेमशंकर)

कवि सन्देशवाहक होता है। वह युगों तक अपनी भावनाओं के द्वारा जीवित रहता है और उसकी कृतियों से साहित्य को प्रेरणा तथा विश्व को नव जीवन प्राप्त होता है। कवि के मन और मस्तिष्क में संसार को देखने के अनन्तर एक विचित्र प्रतिक्रिया होती है, जिसे वह अपनी रचना में प्रकाशित कर देता है। जो कवि जीवन को जितनी अधिक दृढ़ता से पकड़ता है। उसकी कृति उतनी ही अधिक जीवनदायिनी होती है। एक सीमित क्षेत्र में कार्य करने वाला कलाकार इसी कारण समाज के एक विशेष वर्ग का ही मनोरंजन कर सकता है। महान कवियों का चिन्तन व्यापक होता है और वे जीवन की चिरन्तन समस्याओं को ले कर चलते हैं। उनकी विचारधारा संकेत रूप में आगे बढ़ती है और वे इंगित मात्र से ही अपने उद्देश्य की व्यंजना कर देते हैं। काव्य में प्रवाहित कवि की विचारधारा उसका सन्देश होती है। कालिदास की सूक्तियाँ प्रसिद्ध हैं, किन्तु इनमें कवि किसी प्रवचन का सहारा नहीं लेता। काव्य की विचारधारा सदा भावना को साथ ले कर चलती है।[1]

प्रसाद का सम्पूर्ण साहित्य एक सांस्कृतिक चेतना से अनुप्राणित है। वे युग, देश, समाज और मानव की जिन समस्याओं को उठाते हैं। उनका समाधान भी प्रस्तुत करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि विषय की विस्तृत विवेचना के लिए उन्होंने उपन्यास, नाटक, कहानी, निबन्ध आदि में गद्य के माध्यम से विचार किया, किन्तु काव्य में भी उनकी मूल चेतना

---

१. The Study of Poetry—By H. W. Garrod Page 37.

का आभास प्राप्त होता है। प्रसाद की सामाजिक विचारधारा का अधिक स्पष्ट रूप 'कंकाल' और 'तितली' में दिखाई देता है। समाज का नग्न स्वरूप उन्होंने इन उपन्यासों में अंकित किया। धार्मिक आडम्बर, सामाजिक विषमता आदि को उन्होंने स्पष्ट रूप में सामने रक्खा। नाटकों में प्रसाद का दृष्टिकोण ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक अधिक है। इतिहास से नाटककार राष्ट्र की खोई चेतना को लौटा लाना चाहते थे। उनका विश्वास था कि इतिहास का पुनर्जागरण राष्ट्रीय उत्थान के लिए आवश्यक है। देश की परम्परा, सभ्यता और संस्कृति उसे नवजीवन प्रदान करती है। प्रसाद ने सांस्कृतिक पुनरुत्थान का ही प्रयत्न किया। काव्य में उनका दृष्टिकोण दार्शनिक अधिक है। अपने व्यक्तिवादी रूप में भी वे वेदना, करुणा तथा प्रेम दर्शन की अभिव्यक्ति करते हैं। क्रमशः एक उच्च भावभूमि पर जाते हुए प्रसाद आत्मवाद, आनन्दवाद तथा आध्यात्मिक भावना को अपनाते हैं। 'कामायनी' का दार्शनिक कलाकार अपनी विचारधारा को आध्यात्मिक कलेवर प्रदान करता है, यद्यपि उसका व्यावहारिक पक्ष प्रबल रहता है। इस प्रकार काव्य में प्रसाद की विचारधारा और मूल चेतना अनेक दिशाओं में प्रवाहित प्रतीत होती है।

इतिहास और संस्कृति—

इतिहास भविष्य का पथ प्रदर्शन करता है। और कोई भी जाति अपने अतीत पर गर्व करती है। प्रसाद का जन्म उस विषम अवसर पर हुआ था, जब कि पाश्चात्य सभ्यता देश में अपना प्रभाव डाल रही थी। उन्होंने राष्ट्र के इतिहास से उज्ज्वल दृष्टान्त ले कर उन्नत परम्परा सम्मुख रक्खी। नाटकों और कहानियों की पृष्ठभूमि ऐतिहासिक है। इतिहास के भग्नावशेषों से उन्होंने कथावस्तु ग्रहण की और उसी के माध्यम से जातीय गौरव स्थापित किया। भरत, कुरुक्षेत्र, महाराणा का महत्त्व, अशोक की चिन्ता, प्रलय की छाया आदि की प्रेरणा भारतीय इतिहास से ली गई है। दर्शन, अध्यात्म आदि का

ग्रहण भी उससे किया गया। मूलतः प्रसाद राष्ट्रीय कलाकार हैं, जो इतिहास के अन्वेषण में प्रयत्नशील हुए। उन्होंने एक बिखरी हुई सामग्री का उपयोग किया। नाटकों में भारतीय वैभव को अंकित करने के अतिरिक्त उन्होंने 'कामायनी' की पृष्ठभूमि भी भारतीय इतिहास को बनाया। प्रथम मानव का जन्म इसी वसुन्धरा पर हुआ था। स्कन्दगुप्त के 'भारत गीत' में कवि ने देश के इतिहास को संचित कर देने का प्रयत्न किया। वह कहता है :—

हिमालय के आँगन में उसे, प्रथम किरणों का दे उपहार,
उषा ने हँस अभिनन्दन किया, और पहनाया हीरक हार।

× × ×

किसी का हमने छीना नहीं, प्रकृति का रहा पालना यहीं,
हमारी जन्मभूमि थी यहीं, कहीं से आये थे हम नहीं।

—स्कन्दगुप्त, पृष्ठ १६२

प्रसाद का विश्वास है कि भारत ही आर्य जाति की जननी है। मूल आर्य सप्तसिन्धु में निवास करते थे। यहीं से पूर्व और पश्चिम की दिशाओं में अग्रसर हुए तथा अपने मतों का प्रचार भी करते गए। सदानीरा के आगे बढ़ कर पूर्व में जाने वाला दल आत्मवादी था। पश्चिम के आर्यों के दो विभागों का प्रतिनिधित्व क्रमशः इन्द्र और वरुण ने किया। आर्यों के आरम्भिक स्वरूप पर विचार करते हुए प्रसाद ने लिखा है कि—"आत्मा से आनन्द भोग का भारतीय आर्यों ने अधिक स्वागत किया[२]।" आर्यों के पूर्वज मनु का निरूपण करने में भी कवि ने इतिहास का ध्यान रक्खा। आधुनिक परिस्थितियों में निर्मित आदिपुरुष का चरित्र उस आर्य की भाँति है, जो जीवन से संघर्ष करता हुआ आगे बढ़ता है। इतिहास के प्रति प्रसाद का मोह इतना अधिक है कि विदेशी बालिका कार्नेलिया भी 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' का गीत गाने लगती

---

२. काव्य और कला, पृष्ठ २२।

है। उसे भी इस देश की भूमि से प्यार हो जाता है। आदिपुरुष मनु को हिमालय के उत्तुंग शिखर पर प्रतिष्ठित कर कवि ने मानसरोवर में सभ्यता का विकास भी दिखला दिया। इतिहास से कवि को अपार सामग्री प्राप्त हुई।

इतिहास के साथ ही भारतीय सभ्यता और संस्कृति के प्रति भी कवि का अनुराग है। वास्तव में इतिहास, संस्कृति और सभ्यता एक दूसरे के अधिक समीप हैं, और उनमे एक विभाजन रेखा खीच देना कठिन है। इस दृष्टि से प्रसाद मे इन सभी का समन्वित स्वरूप देखा जा सकता है। भारतीय इतिहास को प्रकाश में लाने के साथ ही कलाकार ने प्राचीन संस्कृति और सभ्यता को भी नवजीवन प्रदान करने का प्रयत्न किया। एक सांस्कृतिक पुनरुत्थान की रेखाएँ उनके साहित्य मे सब से अधिक बलवती हैं। देश के इतिहास, संस्कृति के प्रति उन्हें जो मोह था, उसकी भी अभिव्यञ्जना के लिए उन्होंने कई अवलम्ब ग्रहण किये। कथावस्तु के अतिरिक्त आदर्श पात्रो की नियोजना भी उन्होने की। बाबा रामनाथ, दाण्ड्यायन, चाणक्य आदि पात्र संस्कृति के प्रतीक बन कर आये हैं। महाराणा का आदर्श पराक्रम, चाणक्य की अदम्य नीति अपने सम्मुख सभी को नतमस्तक करा लेती है। हिन्दू धर्म से उन्होंने दर्शन का अधिक ग्रहण ही किया और बौद्धो की करुणा, शैवागम का प्रत्यभिज्ञादर्शन भी उनके काव्य म स्पष्ट दिखाई देते हैं। प्रसाद देश की वास्तविक सांस्कृतिक प्रतिष्ठा मे प्रयत्नशील प्रतीत होते हैं। वे भारतीय आत्मवाद तथा सार्वभौमिकता के ही पक्षपाती हैं। सभ्यता और संस्कृति के प्रतीक मनु का चित्र प्रस्तुत करते हुए उन्होने उसमें 'स्वस्थ रक्त' को प्रवाहित किया है। कामायनी में मानव सस्कृति की विजय घोषित की गई है।

दार्शनिक प्रवृत्तियाँ

प्रसाद की दार्शनिक प्रवृत्तियाँ क्रमशः विकसित होती गईं। उन्होने समस्याओं के मूल मे जा कर किया। अपने गहन

अध्ययन, चिन्तन और मनन से वे जिन निष्कर्षों पर पहुँचे थे, उन्हे काव्य मे प्रकाशित कर दिया। मनुष्य और जीवन को एक सम्पूर्ण इकाई के रूप मे उन्होंने स्वीकार किया। प्रसाद को उपनिषद् दर्शन ने अधिक प्रभावित किया। 'चित्राधार' मे प्राप्त होने वाली जिज्ञासाओं में दर्शन के प्रति कवि का कुतूहल प्रतीत होता है। प्रकृति के विभिन्न क्रियाव्यापारो के पीछे कौन सी शक्ति कार्य करती है? मनु ने प्रलय के अनन्तर इसी आकुलता से अनेक प्रश्न किये थे। जीवन और जगत, प्रकृति और पुरुष के प्रति जिज्ञासा की इस भावना का उत्तर दर्शन से ही प्राप्त होता है। समस्त जगत और प्रकृति चिरन्तन शक्ति की छाया मात्र है। अणु-अणु मे उसकी सत्ता व्याप्त है। श्रद्धा कहती है—

'चिति का स्वरूप यह नित्य जगत'

संसार विश्वात्मा की अभिव्यक्ति मात्र है। वह उसके महान व्यक्तित्व का प्रकाशन है। जीवन के कण कण मे आनन्द खोज कर उसी में अपने अस्तित्व को विलीन कर देना ही श्रेयस्कर है। उपनिषदों मे अद्वैत भावना का प्रतिपादन बड़े जोर से किया गया है। प्रसाद भी भेद-भाव की सराहना नहीं करते। 'प्रेमपथिक' में दोनो प्रणयी जब एक दूसरे में अपनी सत्ता विलीन कर देते हैं, तो विरह का दुःख भी नहीं प्रतीत होता। 'अह' और 'इद' का समन्वय ही आनन्द का सृजन करता है। जब तक मनु अपने व्यक्तिवाद को ले कर इधर-उधर भटकता रहता है, उसे परितोष नहीं होता। अन्त मे अद्वैत भावना से ही वह आनन्द प्राप्त करता है। उपनिषदों की अद्वैत भावना ही मनु के इन शब्दों मे साकार हो उठी है—

अपना ही अणु अणु कण कण,
द्वयता ही तो विस्मृत है।

कामायनी, पृ० २८६

उपनिषदो की अद्वैत भावना की भाँति प्रसाद ने शैवागम से समरसता को भी ग्रहण किया है। जीवन में समन्वय की नितान्त आवश्यकता है।

विरोधी शक्तियाँ आपस में संघर्ष करती हुई अपनी शक्ति नष्ट करती रहती हैं। इनको एक ही ओर नियोजित करने से जीवन सुखी हो सकता है। प्रसाद ने अपने समस्त साहित्य में इसी समन्वय दृष्टि अथवा समरसता की भावना से काम लिया। श्रद्धा इच्छा, क्रिया, ज्ञान मे समन्वय स्थापित कर देती है और तभी आनन्द की उत्पत्ति होती है। प्राचीन दर्शन का सत, रज, तम इसी अवसर पर समन्वित हो जाता है। 'कामायनी' के अलग-अलग चित्रण में तीनो लोक अपूर्ण प्रतीत होते हैं, किन्तु समन्वित होते ही उनका रूप मंगलकारी हो जाता है। समरसता के व्यावहारिक पक्ष से कवि ने जीवन की अधिकांश समस्याओ को सुलझाया। आनन्द की कल्पना प्रसाद को शैवागम से प्राप्त हुई। समस्त सृष्टि मे व्याप्त शिवतत्त्व को ग्रहण कर लेने पर प्रत्येक प्राणी आत्मवत् प्रतीत होने लगता है। विश्व शिव का ही प्रसाद है और उसी के ताण्डव नर्त्तन से सम्पूर्ण स्वाप, ताप भस्म हो जाते है :—

स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो
इच्छा, ज्ञान, क्रिया मिल लय थे।

कामायनी, पृ० २७२

व्यष्टि का समष्टि में पर्यवसान तथा व्यक्तित्व का अधिकाधिक प्रसार शैव दर्शन का ही व्यावहारिक रूप है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध की पारदर्शिनी पुतलियाँ मनुष्य को भ्रम मे डाल देती हैं। मानव शिव की कृपा से ही इनसे मुक्ति प्राप्त कर सकता है। शैवागमो से समरसता, शक्ति-भावना तथा आनन्दवाद की प्रेरणा प्रसाद को प्राप्त हुई और उन्होंने काव्य की सरस कल्पना से उसे व्यक्त किया। 'इरावती' में उन्होने स्पष्ट कहा कि 'अवसान को आर्य जाति से हटाने के लिए आनन्दवाद की प्रतिष्ठा करनी होगी।'

'लहर' मे बौद्ध दर्शन से सम्बन्धित कई कवितायें हैं। 'अजातशत्रु' मे भी गौतम बुद्ध का चरित्र आया है। बौद्धो के करुणादर्शन से प्रसाद विशेष प्रभावित प्रतीत होते हैं। बौद्ध प्रत्येक वस्तु को क्षणिक,

नाशवान और दुःखमय मानते हैं। वे प्राणिमात्र पर दया करने का निर्देश देते हैं। 'आँसू' में करुणादर्शन एक स्वतन्त्र चिन्तन पर अवलम्बित है, किन्तु उसमें बौद्धों की करुणा का प्रभाव अवश्य है। प्रणयी अपनी करुणा और वेदना की संकुचित सीमा से बाहर निकल कर विश्व भर में आँसू बरसाने लगता है। 'अजातशत्रु' की वासवी भी कहती है :—

मानव हृदय भूमि करुणा से सींच कर
बोधन-विवेक-बीज अंकुरित कीजिये।

अजातशत्रु, पृष्ठ ६१

'करुणालय' में जिस करुणा की भावना के बीज निहित हैं, उसी का पूर्ण विकास 'अजातशत्रु' में हुआ। 'अशोक की चिन्ता' कविता का मूल स्वर भी बौद्ध दर्शन से प्रभावित है। कोमल भावनाओं को अपने चिन्तन में स्थान देने के कारण प्रसाद ने करुणा को विशेष महत्त्व दिया।

प्रसाद के काव्य में किसी धार्मिक सिद्धान्त का प्रतिपादन अथवा प्रचार नहीं है। उन्होंने किसी साम्प्रदायिक वातावरण में कार्य नहीं किया। विभिन्न दर्शनों से अपने चिन्तन पक्ष को प्रौढ़ करते हुए वे क्रमशः आगे बढ़े। उनका अध्यात्मवादी दृष्टिकोण भी स्वच्छ और सजग है तथा उसमें किसी प्रकार की पलायनवादिता नहीं दिखाई देती। प्रसाद जीवन को एक संग्राम के रूप में स्वीकार करते हैं। आपत्तियों से हार जाना कायरता है। किन्तु चिन्तनशील कलाकार इस भौतिक परिधि से आगे बढ़ता हुआ भी दिखाई देता है। जीवन को एक सम्पूर्ण इकाई के रूप में स्वीकार करना ही अधिक उचित है। श्रद्धा इसी 'भूमा' की चर्चा करते हुए मनु से कहती है :—

वही दुख सुख विकास का सत्य
यही भूमा का मधुमय दान।

—कामायनी, पृष्ठ ५४

आत्मा परमात्मा के सम्बन्ध पर विचार करते हुए प्रसाद ने उसके व्यावहारिक पक्ष को अधिक ग्रहण किया है। वे वैराग्य अथवा निवृत्ति के पक्षपाती नहीं हैं, वरन् जीवन में कर्म को ही प्रधानता देते हैं और इस दृष्टि से गीता के कर्मवाद के अधिक समीप हैं। कर्म की परिभाषा करते हुए प्रसाद ने 'निष्काम कर्म' को प्रतिष्ठित नहीं किया। वे कर्म के व्यापक प्रसार पर ही ज़ोर देते हैं, जिसके अन्तर्गत समस्त मानवता आ जाती है। काम की व्यापक परिभाषा के मूल में भी उनका यही उद्देश्य है। उन्होंने वैदिक काल के भव्य रूप को पुनः प्रतिष्ठित किया।

प्रेम-कल्पना—

प्रसाद मूलतः प्रेम और सौन्दर्य के कलाकार हैं। आदि से अन्त तक उनके साहित्य में प्रेम का स्वर थिरकता रहता है। प्रेम का स्वच्छन्द रूप कवि ने ग्रहण किया, इसी कारण वह साधारण स्वच्छन्दतावादी कवियों से एक पृथक भाव-भूमि पर पहुँच जाता है। प्रसाद का प्रेम अशरीरी, अतीन्द्रिय और निर्मल है। 'आँसू' में अपनी व्यक्तिगत भावनाओं का प्रकाशन करते हुए भी वे किसी ऐसे धरातल पर नहीं आ जाते जहाँ प्रणय केवल दो व्यक्तियों के मध्य उलझ कर रह जाता है। प्रेम के प्रति व्यापक दृष्टिकोण ही कवि को सतत गतिमान करता रहता है। अपनी प्रेम-कल्पना को प्रसाद ने दर्शन के योग से और भी प्रांजल बना दिया है। 'प्रेमपथिक' में प्रेम का आदर्श रूप प्रस्तुत करते हुए कवि कहता है—

> किन्तु न परिमित करो प्रेम,
> सौहार्द, विश्वव्यापी कर दो।
>
> —प्रेमपथिक, पृष्ठ २४

व्यक्ति का व्यक्ति से प्रेम केवल एक शारीरिक आकर्षण अथवा वासना के आधार पर कवि ने चित्रित नहीं किया। प्रेम तो दो हृदयों का मधुर मिलन है, जिसमें एक दूसरे का व्यक्तित्व अपनी पृथक सत्ता खो देता है। प्रेम के साथ ही प्रसाद सौन्दर्य को भी 'चेतना का उज्ज्वल

वरदान' मानते हैं। प्रेम के प्रति इस उदात्त कल्पना के कारण ही प्रणयी जीवन की उच्चतम भावभूमि तक चला जाता है। व्यक्ति से आरम्भ हो कर यह प्रेम भावना मानव तक प्रसारित होती है। प्रेम साधारण प्रणय की भाँति नहीं है, जो केवल दो प्राणियों के बीच की वस्तु बन जाता है, किन्तु उसका क्षेत्र असीम है। मनु को प्रेम करने वाली श्रद्धा सम्पूर्ण मानवता के कल्याण की कामना करती है। प्रेम कल्पना में मनोविज्ञान और दर्शन से भी प्रसाद ने सहायता ली और उसे आदर्श रूप में अंकित किया।

नारी-पुरुष की समस्या चिरन्तन है। आधुनिक युग में उसका स्वरूप और भी जटिल हो गया। प्रसाद पुरुष को किंचित् कठोर और नारी को कोमल भावनाओं की प्रतिमूर्ति सी मान लेते हैं। नारी-रूप का अंकन करने में उनका दृष्टिकोण एक आदर्शवादी कलाकार का सा रहा है। नारी को उन्होंने एक उच्च स्थान दिया है। श्रद्धा, देवसेना आदि नारियों का चरित्र अत्यन्त महान है। वे अपने प्रत्येक स्वरूप में विजय प्राप्त करती हैं और आकर्षण का केन्द्र बन जाती हैं। मनु का समस्त पौरुष श्रद्धा के चरणों पर नत-शिर सा दिखाई देता है। नारी को केवल श्रद्धा के रूप में स्वीकार करने वाले प्रसाद स्पष्ट कहते हैं :—

> नारी माया ममता का बल
> वह शक्तिमयी छाया शीतल।
>
> —कामायनी, पृष्ठ २३८

नारी और पुरुष के सम्बन्ध को दृढ़तर बनाने के लिए प्रसाद विश्वास की आवश्यकता को अनुभव करते हैं। स्त्री और पुरुष का मिलन ही जीवन की पूर्णता है। पुरुष का हृदय नारी के अभाव में मरुप्रदेश है और नारी भी पुरुष के बिना विटपविहीन वेलि की भाँति है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। नारी का सर्वोत्कृष्ट स्वरूप 'माता' का है, जिसमें उसका प्रेम विस्तृत हो जाता है। नारी-पुरुष की समस्या को एक चिरन्तन प्रश्न के रूप में प्रसाद ने स्वीकार किया और उसका उत्तर दिया।

राष्ट्रीयता और मानवीयता—

भारतीय इतिहास और संस्कृति के प्रति अनुराग के मूल में प्रसाद की राष्ट्रीय भावना कार्य करती है। वे एक ऐसे युग में उत्पन्न हुए थे, जब कि देश दासता के बन्धनों से मुक्त होने का प्रयत्न कर रहा था। अन्य कलाकारों की भाँति उन्होंने भी इसमें सहयोग दिया। उनकी भावना साधारण राष्ट्रीयतावादी कवि से किंचित् भिन्न है। मैथिलीशरण गुप्त में देश की राष्ट्रीयता का स्पष्ट स्वरूप प्राप्त होता है। प्रसाद का दृष्टिकोण सांस्कृतिक अधिक है। वे किसी क्रान्तिकारी कवि की भाँति उद्बोधन गीत नहीं गाने लगते, किन्तु क्रमशः एक ऐसी परिस्थिति की योजना करते हैं, जिसमें राष्ट्र की संस्कृति और परम्परा का चित्र हो। 'स्कन्दगुप्त' में मातृगुप्त ने जो राष्ट्रीय गान गाया है, उसमें भी कवि ने देश के एक दीर्घ इतिहास को लिपिबद्ध करने का ही प्रयास किया है। नाटकों में राष्ट्रीय भावना अवश्य अधिक प्रत्यक्ष रूप में प्रस्तुत हुई, किन्तु काव्य में वह सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर सांकेतिक रूप में आई है। उनका स्वर रवीन्द्र के अधिक समीप है।

प्रसाद की सम्पूर्ण व्यापक विचारधारा के पीछे उनका मानवीय स्वर है। जीवन के शाश्वत और चिरन्तन उपादानों को ले कर ही उन्होंने काव्य का निर्माण किया। महान कलाकार जीवन के जिन अंशों का अंकन करते हैं वे विचित्र और चिरन्तन होते हैं। समाज और युग परिवर्तित हो जाते हैं, किन्तु मानवीय भावनाओं में क्रान्तिकारी अन्तर नहीं आता। सुख-दुख, प्रेम घृणा, जीवन-मरण आदि की भावनाएँ बनी ही रहती हैं। जो कलाकार जितना ही अधिक महान होता है, वह जीवन की उतनी ही विस्तृत समस्याओं पर विचार करता है। प्रसाद भी मानव को सर्वोपरि स्वीकार करते हैं। मनु मानवता का ही प्रतीक है। उसकी आन्तरिक भावनायें व्यक्तिगत न हो कर समाजगत हैं। वे मानव मन का प्रतिनिधित्व करती हैं और उनमें जीवन की विविधता है। श्रद्धा के द्वारा कवि ने मनु को जो जाग्रत सन्देश सुनवाया, वह

समस्त पथभ्रष्ट मानवता का पथप्रदर्शन कर सकता है। कवि का कथन है--

यह नीड मनोहर कृतियों का
यह विश्व कर्म-रंगस्थल है
है परम्परा लग रही यहाँ
ठहरा जिसमें जितना बल है।

प्रसाद जो संदेश देते हैं, वह सम्पूर्ण मानवता के लिए होता है। 'कामायनी' महाकाव्य में उनका मानवतावाद अपने अत्यन्त प्रांजल रूप में आया है। सर्वत्र मानवता के लिए अनेक मंगलमय सन्देश मिलते हैं। 'इडा' और 'संघर्ष' सर्गों में आधुनिक वैज्ञानिकता, भौतिकवाद और विषमता का चित्रण कवि ने किया है। वह इससे मुक्ति पाने का उपाय भी प्रस्तुत करता है और समरसता का मार्ग दिखाता है। श्रद्धा मनु को समझाती है कि दूसरो को हँसते देख कर सदा प्रसन्न रहो। सब कुछ अपने में भर कर मनुष्य व्यक्तित्व का विकास नहीं कर सकता। वसुधा में करुणा का प्रसार ही वास्तविक सुख-सन्तोष है। इस दृष्टि से प्रसाद किंचित् प्रगतिशील हैं। मार्क्सवादी आलोचक जार्ज थाम्पसन ने आधुनिक कविता की आलोचना करते हुए लिखा है कि वह अत्यधिक व्यक्तिवादी हो गई है और उसने जीवन के स्रोत से अपना सम्पर्क ही खो दिया है।[1] महान कवियो की भाँति प्रसाद का काव्य जीवन से अनुप्राणित है और जीवन की अभिव्यक्ति ही उसका उद्देश्य है।

प्रसाद-काव्य की चेतना अपने युग, समाज और इतिहास से प्रभावित है। प्रसाद एक जागरूक कलाकार हैं और परिस्थति की अवहेलना नहीं करते, उन्होंने एक व्यापक रंगमंच पर कार्य किया और बिखरी हुई सामग्री को एक सूत्र में बाँधने का प्रयास करते हुए उन्हें देखा जा सकता है। विश्व के महान कलाकारों के समीप उनके सम्पूर्ण कृतित्व

---

१. Marxism and Poetry—Page 58.

प्रसाद के नाटक

(डा० नगेन्द्र)

मूल चेतना

शान्त गम्भीर सागर, जो अपनी आकुल तरंगो को दबा कर धूप में मुस्करा उठा है, या फिर गहन आकाश, जो झंझा और विद्युत् को हृदय मे समा कर चाँदनी की हँसी हँस रहा है ऐसा ही कुछ प्रसाद का व्यक्तित्व था।

प्रसाद अपने मूल रूप में कवि थे। जीवन मे उन्हे आनन्द इष्ट था, इसलिए वे शिव के उपासक थे। बस, शिव की उपासना उनके मन का विश्लेषण करने के लिए पर्याप्त है। शिव का शिवत्व इसी मे है कि वे हलाहल को पान कर गये और उसको पचा कर फिर भी शिव ही बने रहे, उनका कण्ठ चाहे नीला हो, परन्तु मुख पर वही आनन्द का शान्त प्रकाश बना रहा। प्रसाद के जीवन का आदर्श यही था। वे बड़े गहरे जीवन-द्रष्टा थे। आधुनिक जीवन की विभीषिकाओं को उन्होंने देखा और सहा था, यह विष उनके प्राणों मे एक तीखी जिज्ञासा बन कर समा गया था—उनकी आत्मा जैसे आलोड़ित हो उठी थी। इस आलोडन को दबाते हुए आग्रह के साथ आनन्द की उपासना करना ही उनके आदर्श की व्याख्या करता है और यही उनके साहित्य की मूल चेतना है।

ऐसा व्यक्ति, यह स्पष्ट है, संसार की भौतिक वास्तविकता को विशेष महत्त्व नहीं देगा। प्रायः वह उसको छोड़ कर कहीं अन्यत्र आनन्द की खोज करेगा। एक शब्द में, उसका दृष्टिकोण रोमांटिक होना अनिवार्य है। वर्तमान से विमुख होने के कारण—जैसा रोमांटिक व्यक्ति के लिए होना आवश्यक है—वह पुरातन की ओर जायगा या कल्पना लोक की ओर। प्रसाद का यही रोमांटिक दृष्टिकोण उनकी सांस्कृतिक चेतना के लिए उत्तरदायी है।

नाटकों का आधार

प्रसाद के सभी नाटकों का आधार सांस्कृतिक है। आर्य संस्कृति में उन्हें गहन आस्था थी, इसीलिए उनके नाटकों में भारत के इतिहास का प्रायः वही परिच्छेद है, (चन्द्रगुप्त मौर्य से हर्षवर्धन तक) जिसमें उसकी संस्कृति अपने चरम गौरव पर थी: ब्राह्मण और बौद्ध संस्कृतियों के संघर्ष के बाद उसका स्वर्ण प्रभात हो उठा था।

एक ओर स्नातक ब्राह्मण धर्म की व्याख्या करता हुआ घोषित करता है "ब्राह्मण एक सार्वभौम शाश्वत बुद्धि-वैभव है—वह अपनी रक्षा के लिए, पुष्टि के लिए और सेवा के लिए इतर वर्णों का संगठन कर लेगा।" दूसरी ओर भगवान बुद्ध की शीतल वाणी सुनाई देती है; "विश्व के कल्याण में अग्रसर हो! असंख्य दुःखी जीवों को हमारी सेवा की आवश्यकता है, इस दुःख-समुद्र में कूद पड़ो। यदि एक भी रोते हुए हृदय को तुमने हँसा दिया तो सहस्रों स्वर्ग तुम्हारे अन्तर में विकसित होंगे।......विश्व मैत्री हो जायगी—विश्वभर अपना कुटुम्ब दिखाई देगा।" इन्हीं दोनों सूत्र-छोरों से बुना हुआ प्रसाद के नाटकों का आधार है।

प्रसाद प्राचीन भारतीय संस्कृति के सौंदर्य पर मुग्ध थे। स्वभाव से चिन्ताशील और कल्पना-प्रिय होने के कारण वे उसी युग में रहते थे। कोलाहल की अवनी तज कर जब वे भुलावे का आह्वान करते हुए विरामस्थल की खोज करते होंगे, उस समय वह रंगीन अतीत उन्हें सचमुच बड़े वेग से आकर्षित करता होगा। इसीलिए उनके नाटकों में पुनरुत्थान की प्रवृत्ति बड़ी सजग रहती है। 'कामना' का रूपक इसका मुखर साक्षी है। वे विदेशी छाया से आच्छादित भारतीय जीवन को फिर से उसी स्वर्ग की ओर प्रेरित करने की बात सोचा करते थे। उन्होंने देखा कि हमारा वर्तमान इतिहास ही नहीं भूत इतिहास भी विदेशी प्रभाव की छाया में मलिन हो गया है, अतः फिर से उसका सच्चा स्वरूप प्रदर्शित करने के लिए उन्होंने भारतीय ग्रंथों के आधार

पर ऐतिहासिक अन्वेषण किये। उनके पुरातत्त्व-ज्ञान का आधार प्राचीन शिलालेख, पाणिनि-व्याकरण, पतञ्जलि-योग, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, 'कथासरित्सागर', 'राजतरङ्गिणी', पुराण, प्राचीन काव्य-ग्रन्थ आदि ही हैं। प्रसाद की यह जिज्ञासा गहरी थी, उनको अतीत के लिए सिर्फ रोमांटिक मोह ही नही था—चन्द्रगुप्त मौर्य, कालिदास, स्कन्दगुप्त, ध्रुवस्वामिनी आदि के विषय में उनकी खोजें अपना स्वतन्त्र महत्त्व रखती है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति के बिखरे अवयवों को जोड़ कर उन्होंने अपनी भावुकता, चिन्ता और कल्पना द्वारा उसमे प्राण-संचार किया।

उन्होने वातावरण की सृष्टि इतने सजीव रूप में की है कि मौर्य एवं गुप्तकालीन भारतीय जीवन हमारे सामने चित्रित हो जाता है—फिर से हम आज की पश्चिम-मिश्र-संस्कृति और उससे पहले की मुस्लिम संस्कृति और उससे भी पूर्व सामन्तीय संस्कृति इन तीनो को लाँघ कर आर्य संस्कृति की छाया में पहुँच जाते हैं। यह पुनरुत्थान इतने सहज ढंग से होता है कि दो हजार वर्ष का महान अन्तर एक साथ तिरोहित हो जाता है। प्रसाद का दृश्य-विधान ही नही, उनके पात्रों के नाम उपाधि, वेश-भूषा, चरित्र और बातचीत सभी देश-काल के अनुकूल हैं। आम्भीक, अन्तर्वेद, गोपाद्रि, महाबलाधिकृत, कुमारामात्य आदि शब्दो का प्रयोग इस सांस्कृतिक वातावरण को उपस्थित करने का अमोघ साधन है।

परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि युग-जीवन या युग-धर्म का प्रभाव प्रसाद पर बिल्कुल नही है। मैने जैसा अभी निवेदन किया, प्रसाद गहरे जीवन-द्रष्टा थे। उनका आधुनिक जीवन का भी अध्ययन असाधारण था—अतएव उनके नाटको मे आज की समस्याएँ स्पष्ट प्रतिबिम्बित मिलती हैं। चन्द्रगुप्त और स्कन्दगुप्त में राष्ट्रीयता एवं देश-भक्ति का भव्य आदर्श है। युद्ध में जब सिकन्दर एक बार आहत हो कर गिर जाता है, उस समय सिंहरण के कण्ठ में बैठ कर

प्रसाद की देश-भक्ति अमर स्वरों में फूट पड़ती है।

"मालव सैनिक—सेनापति, रक्तपात का बदला! इस नृशंस ने निरीह जनता का अकारण वध किया है। प्रतिशोध?

सिंहरण—ठहरो मालव वीरो, ठहरो। यह भी एक प्रतिशोध है। यह भारत के ऊपर एक ऋण था, पर्वतेश्वर के प्रति उदारता दिखाने का यह प्रत्युत्तर है।"

यह प्रसग इतिहास के अनुकूल हो अथवा नहीं, परन्तु इसमे बोलती हुई देश-भक्ति की भावना एकान्त दिव्य है। देश-भक्ति का इतना शुद्ध और पवित्र रूप मैंने हिन्दी साहित्य मे अन्यत्र कहीं नहीं देखा।

इसी प्रकार आज की प्रान्तीयता और साम्प्रदायिकता पर भी प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' मे अनेकों तीखे व्यग्य हैं। चाणक्य की नीति का प्रमुख तत्त्व एक राष्ट्र की स्थापना ही तो है।

"मालव और मागध को भूल कर जब आर्यावर्त्त का नाम लोगे तभी वह मिलेगा।

आक्रमणकारी बौद्ध और ब्राह्मणों में भेद न करेंगे।"

इसके अतिरिक्त हमारी अन्य समस्याएँ जैसे दाम्पत्य-सम्बन्ध-विच्छेद, धार्मिक अथवा जातीय दम्भ आदि का भी प्रौढ़ विवेचन स्थान-स्थान पर मिलता है। परन्तु प्रसाद की कला का यह चमत्कार है कि ये समस्याएँ उस पुरातन वातावरण मे पूरी तरह से फिट कर दी गई हैं। जो लोग इस प्रकार के प्रभाव को ऐतिहासिक असङ्गति मानते हैं, वे वास्तव मे मानव भावनाओं की चिरन्तनता को ग्रहण करने में अपनी अक्षमता-मात्र प्रकट करते हैं।

सुख-दुःख की भावना

प्रसाद के नाटकों के मूल तत्त्वों को समझाने के लिए उनकी सुख-दुःख की भावना को ग्रहण करना अनिवार्य है। उनके नाटक सभी सुखान्त हैं। परन्तु क्या उनको समाप्त करने पर पाठक के मन में सुख और शान्ति का प्रस्फुरण होता है? नहीं। नाटक के ऊपर दुःख-

की छाया आदि से अन्त तक पड़ी रहती है और उसके मूल में एक करुण चेतना सुख की तह मे छिपी हुई अनिवार्यतः मिलती है। प्रो० शिलीमुख ने बिलकुल ठीक कहा है कि प्रसाद की सुखान्त भावना प्रायः वैराग्यपूर्ण शान्ति होती है। इसका कारण है उनके जीवन की वही करुण जिज्ञासा, जो उनके प्राणो को सदैव विलोड़ित करती रहती थी; बौद्ध इतिहास और दर्शन के मनन ने उसे तीखा कर दिया था। उनके नाटको में बौद्ध और आर्य दर्शन का संघर्ष और समन्वय वास्तव मे दुःखवाद और आनन्द-मार्ग का ही संघर्ष और समन्वय है, जो उनके अपने अन्तर की सब से बडी समस्या थी। इसी समन्वय के प्रभाववश उनके नाटक न पूर्णतः सुखान्त हैं और न दुःखान्त। उनमें सुख-दुःख जैसे एक दूसरे को छोडना नहीं चाहते। कवि आग्रहपूर्वक सुख का आह्वान करता है, सुख आता भी है परन्तु तुरन्त ही दुःख भी अपनी झलक दिखा ही जाता है।

"सिल्यूकस—(कार्नेलिया को ओर देखता है; वह सलज्ज सिर झुका लेती है)—तब आओ बेटी, आओ चन्द्रगुप्त! (दोनों ही सिल्यूकस के पास आते हैं, सिल्यूकस उनका हाथ मिलाता है। फूलो की वर्षा और जय-ध्वनि)।

चाणक्य—(मौर्य का हाथ पकड़ कर) चलो, अब हम लोग चलें।"

इस प्रकार आप देख सकते हैं कि ये नाटक सुखान्त अथवा दुःखान्त न हो कर प्रसादान्त हैं। इसका एक प्रमाण और है, वह है रस का परिपाक। इन दो नाटकों मे मुख्य रस दो हैं—शृङ्गार और वीर (देश-भक्ति)। इन दोनो मे भावना अत्यन्त गाढ़ी और तीव्र है। शृंगार में एक ओर अपने को लय कर देने की तीखी चाह मिलती है तो दूसरी ओर विलास की उष्ण गन्ध और रूप-यौवन के गहरे चित्र, जो प्रसाद की तूलिका की विशेष विभूति हैं। इसी प्रकार वीरता—देशाभिमान अथवा आत्मगौरव की अभिव्यक्ति भी अन्तर की ही पुकार है। सिंहरण अथवा बन्धुवर्मा की देश-भक्ति कर्तव्य-पूर्ति नहीं, आत्मा

का आग्रह है। उनकी उक्तियाँ केवल नीति-मुखर ही नहीं हैं, उनमे हृदय का आक्रोश भी है। परन्तु इन दोनो के साथ तीसरा रस—शान्त रस—भी अनिवार्य रूप से मिलता है जो इन दोनो पर अनुशासन करता है। जब आवेश, चाहे वह मधुर हो या परुष, उबल कर सीमा तोड़ना चाहता है तभी शान्त रस के छींटे उसे शान्त और सयत कर देते हैं। स्वभावतः वहाँ रस का प्रवाह आवेग से परिशान्ति की ओर बहता हुआ मिलता है। यही प्रसाद के नाटको का 'प्रसादान्त' होना है।

चरित्र-प्रधान नाटक

स्पष्टतः यह नाटक चरित्र के द्वन्द्व को ले कर चलते हैं और इनकी सबसे बड़ी सफलता चरित्र-निर्माण में ही है।

प्रसाद आधुनिक साहित्य के सबसे बड़े स्रष्टा थे। उन्होंने अपने नाटकों मे अनेक अमर पात्रों की सृष्टि की है जो सभी अपना स्वतन्त्र एवं प्राणवान व्यक्तित्व रखते हैं—दार्शनिक बिम्बसार और सनकी तत्त्वज्ञानी दाण्ड्यायन का व्यक्तित्व भी कितना साफ और तीखा है! कारण यह है कि पात्रो मे प्राण फूँकने वाली प्रतिमा की सजीवता और तीव्रता अद्वितीय थी। प्रसाद के जीवन-रथ की परिधि भले ही घर से दशाश्वमेध और दशाश्वमेध से घर तक सीमित रही हो, परन्तु उनका भौतिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक जीवन चिर-गतिशील था। उसकी गति प्रेमचन्द की तरह विस्तार मे अधिक नहीं बढ़ी, परन्तु अन्दर गहराई मे बहुत दूर पहुँच गई थी। वे अत्यन्त प्राणवान कलाकार थे, उनके व्यक्तित्व की तीक्ष्णता ने ही पात्रों की रूप-रेखा को काट-छाँट कर इतना तीखा कर दिया था।

एक दूसरे प्रकार से भी स्रष्टा ने अपने आपको सृष्टि मे व्यक्त किया है। प्रसाद के दर्शन-कवित्वमय व्यक्तित्व का थोड़ा-बहुत अंश उनके सभी पात्रों ने प्राप्त किया है। पुरुष-पात्र प्रायः तीन प्रकार के मिलते हैं—

१. जीवन के तत्त्वों को सुलझाने वाले तत्ववेत्ता आचार्य,

२. जीवन संग्राम मे प्रवृत्त हो कर जूझने वाले कर्मठ सैनिक, और
३. राजपुत्रों को राजनीति के दॉव-पेच सिखाने वाले कूटनीतिज्ञ।

स्त्रियो मे भी स्पष्टतः कई श्रेणियाँ हैं—

१. राजनीति की आग से खेलने वाली राज-महिषियाँ,
२. जीवन-युद्ध में प्रेम का सम्बल ले कर कूदने वाली स्वाभिमानिनी राजपुत्रियाँ,
३. जीवन की भँवर में पड़ी हुई मध्यवर्गीय दुर्बल नारियाँ, और
४. अपने निस्पृह बलिदान से नाटक के जीवन मे एक करुण गन्ध छोड़ कर जाने वाली फूल-सी सुकुमारियाँ।

बौद्ध और शैव दर्शनो के समन्वय से जीवन की व्याख्या करने वाले ये आचार्य दार्शनिक प्रसाद के ही प्रतिरूप हैं। उधर निरन्तर कर्म में रत किन्तु फल की ओर से विरक्त सैनिक रूप राजपुत्रो को, प्रसाद का जीवन के विचार और उपभोग से परिपुष्ट पौरुष प्राप्त हुआ है। नारी-पात्रों में आपको उनके हृदय का रूप-मोह और प्राणो में बैठी हुई जिज्ञासा की टीस मिलेगी। इस प्रकार प्रसाद ने सभी चरित्रो में अपने व्यक्तित्व की साँस फूँक दी है। स्वभावतः उनमें वह अव्यक्तिगत चित्रण न मिलेगा जो सच्चे अर्थ में नाटकीय कहा जाता है। जहाँ शेक्सपियर-जैसे नाटककारो मे, कौन सा चरित्र उनकी प्रतिच्छाया है यह पता लगना असम्भव है, यहाँ आप प्रसाद के व्यक्तित्व की झलक स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, चाणक्य—किसी भी चरित्र मे थोड़ी बहुत देख सकते हैं। इस दृष्टि से प्रेमचन्द प्रसाद की अपेक्षा कहीं अधिक अव्यक्त रह सकते थे।

प्रसाद के काव्य में विराट और कोमल का अपूर्व संयोग है। जिस लेखक ने 'कामायनी' के विराट् रूपक की सृष्टि की है उसी ने अनेक मधु-स्निग्ध गीतियों की उद्भावना भी की है। अतएव आपको उनके नाटकों में इन दोनों तत्त्वो का अपूर्व योग मिलेगा। उनके दो प्रकार के चित्र साहित्य की अमर विभूतियाँ हैं—

१. सम्पूर्ण चित्र, २. रेखाचित्र।

पहले चित्र कवि की विराट् भावना की प्रसूति हैं। उनमे सम्पूर्ण चरित्र-विकास शक्ति के आधार पर होता है। स्वभावतः यह चित्र समस्त नाटक की दीवार को घेरे हुए रहता है। चाणक्य और स्कन्दगुप्त ऐसे ही चित्र हैं। 'अजातशत्रु' की मल्लिका मे विस्तार तो नहीं परन्तु शक्ति असीम है। इनमे महान कोमल का एक स्पर्श भर पा कर मुस्करा उठा है।

दूसरे चित्र गीतिमय हैं—वे प्रसाद की सूक्ष्म-कोमल गीति-प्रतिभा के प्रोद्भास हैं। इनमें जीवन की समस्त रेखाएँ अथवा विभिन्न रंग नहीं हैं. इनमे एक रेखा है और एक धुँधला रेशमी रंग है—एक ही स्वर है। 'सगीत-सभाओ की अन्तिम लहरदार और आश्रयहीन तान, धूपदान की एक क्षीण गध धूम-रेखा, कुचले हुए फूलो का म्लान सौरभ,—इन सबो की प्रतिकृति' हैं ये नारी चरित्र। देवसेना, मालविका और कोमा—ये तीन चित्र प्रसाद के नाटको में उनकी ट्रैजेडी की सार-प्रतिमाएँ हैं। इनका व्यक्तित्व जैसे जीवन का सजीव कोमल करुण व्यग्य है।

मधु-सिंचन

प्रसाद के नाटक सभी मधु-सिंचित हैं। वे मूल रूप मे कवि है, अतः उनके नाटको मे काव्य की गहरी एवं पृथुल अन्तर्धारा बह रही है। उनके सुन्दरतम गीतों का एक बहुत बड़ा अंश इन नाटको में बिखरा मिलेगा। इसके अतिरिक्त वस्तु-चयन, पात्रों के व्यक्तित्व, वातावरण, कथोपकथन और सारभूत प्रभाव—सभी मे कविता का रंगीन स्पन्दन है। प्रसाद ने अपनी रंगीन कल्पना के सहारे, दूर अतीत के बिखरे हुए प्रस्तर-खण्डों को एकत्रित करके उनमे प्राणो की कविता का रस भर दिया; अतएव परिणाम-स्वरूप जिन नाटकों का निर्माण हुआ उनका वातावरण रूप और रंग से जगमगा रहा है।

सब से प्रथम उनके गीतों को ही लीजिए। यह सत्य है कि ये सभी

गीत नाटकीय नहीं हैं। कुछ तो स्पष्ट रूप से स्वतन्त्र हो गये हैं, परन्तु उनके भीतर जो वेदना की गहरी टीस, रूप-यौवन का चटकीला रंग एवं विलास की उष्ण गन्ध भरी हुई है, वह समस्त नाटक पर सौरभ-श्लथ वासन्ती समीर की भाँति संचरण करती रहती है।

यही बात वस्तु-विधान और चरित्राङ्कन में है। प्रसाद की घटनाएँ रोमांस और रस से परिपुष्ट हैं। अँधेरी रात में मागंधी और शैलेन्द्र का मिलन, चाणक्य का सर्वस्व त्याग, स्कन्दगुप्त और देवसेना की विदा, मालविका का बलिदान—सभी कुछ एक मूक कविता है। पात्रों की स्नायुओं में भी रस का प्रभूत संचार हो रहा है। इनमें से कतिपय तो एकांत कवित्वमय हैं। उनका अस्तित्व ही नाटक में कविता की साँस फूँकने को होता है। ये पात्र प्रायः नारी-पात्र होते हैं जिनके जीवन के विरल मधुर क्षण फूल के समान खिल कर अपना सौरभ छोड़ जाते हैं। इनके अतिरिक्त प्रायः और सब पात्र भी अपने स्रष्टा के कवित्व के भागी हुए हैं—चाणक्य के कर्म-कठोर व्यक्तित्व में भी बाल्यकाल की स्मृतियाँ भाँवरियाँ ले रही हैं। ये नाटक गद्य गीतों का अक्षय भाण्डार हैं। उदाहरण के लिए :

१. "अकस्मात् जीवन-कानन में, एक राका रजनी की छाया में छिप कर मधुर वसन्त घुस आता है। शरीर की सब क्यारियाँ हरी-भरी हो जाती हैं। सौंदर्य का कोकिल 'कौन'? कह कर सब को रोकने-टोकने लगता है, पुकारने लगता है। राजकुमारी! फिर उसी में प्रेम का मुकुल लग जाता है, आँसू-भरी स्मृतियाँ मकरन्द-सी उसमें छिपी रहती हैं?

२. "धड़कते हुए रमणी-वक्ष पर हाथ रख कर, उस कम्पन में स्वर मिला कर कामदेव गाता है और राजकुमारी वही काम-संगीत की तान सौंदर्य की लहर बन कर युवतियों के मुख में लज्जा और स्वास्थ्य की लाली चढ़ाया करती है।"

अब सारभूत प्रभाव लीजिए। वह न तो वास्तविकता की माँग पूरी करता है और न किसी आदर्श की पूर्ति। उसके पीछे भी सिद्धान्त का

नहीं, काव्य का आग्रह है। देखिए 'स्कन्दगुप्त' का अन्तिम दृश्य।

"स्कन्दगुप्त—देवी, यह न कहो। जीवन के शेष दिन कर्म के अवसाद में बचे हुए हम दुखी लोग, एक दूसरे का मुँह देख कर काट लेंगे। हमने अन्तर की प्रेरणा से जो निष्ठुरता की थी, वह इस पृथ्वी को स्वर्ग बनाने के लिए। परन्तु इस नन्दन की वसन्त-श्री, इस अमरावती की शची, इस स्वर्ग की लक्ष्मी, तुम चली आओ—ऐसा मैं किस मुँह से कहूँ (कुछ ठहर कर सोचते हुए) और किस वज्र-कठोर हृदय से रोकूँ?...

...देवसेना! देवसेना!! तुम जाओ। हत-भाग्य स्कन्दगुप्त, अकेला स्कन्द, ओह!!

देवसेना—कष्ट हृदय की कसौटी है, तपस्या अग्नि है। सम्राट्, यदि इतना भी न कर सके तो क्या! सब क्षणिक सुखों का अन्त है। जिसमें सुखों का अन्त न हो, इसलिए सुख करना ही न चाहिए! मेरे इस जीवन के देवता! और उस जीवन के प्राप्य! क्षमा!

(घुटने टेकती है; स्कन्दगुप्त उसके सिर पर हाथ रखता है)"

दोष

प्रसाद के नाटकों के दोष शायद उनके गुणों से अधिक स्पष्ट हैं।

सब से पहला दोष रङ्गमञ्च-विषयक है। उनके नाटक में अभिनय की त्रुटियाँ हैं। उनमें युद्ध, अभियान आदि के ऐसे दृश्य हैं जो मञ्च पर काफी गड़बड़ करेंगे। दूसरे उनकी अपरिवर्तनशील गम्भीर भाषा में अभिनयोचित चाञ्चल्य नहीं है। अनावश्यक दृश्यों की संख्या भी बहुत है।

दूसरा बड़ा दोष है एकता का अभाव। उसके लिए शायद उत्तरदायी है प्रसाद के मन में चलता हुआ सुख-दुःख का संघर्ष, जिसके समाधान का प्रयत्न वे अन्त तक करते रहे। 'राज्यश्री' या 'ध्रुवस्वामिनी' में वस्तु-विस्तार कम होने से यह दोष नहीं आया। 'ध्रुवस्वामिनी' का सारभूत प्रभाव तो पूर्णतः एकसार है। परन्तु 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' जैसे बड़े नाटकों में घटना-बाहुल्य में फँस कर नाटक की एकता

अस्तव्यस्त हो गई है। इन दोनो नाटको मे ऐसी घटनाएँ और पात्र हैं जो प्रभाव की एकता के लिए अनावश्यक ही नही वरन् घातक भी हैं। 'स्कन्दगुप्त' मे धातुसेन, पृथ्वीसेन, मातृगुप्त, मुद्गल और उनसे सम्बन्ध रखने वाले प्रसंगो का क्या प्रयोजन है? 'चन्द्रगुप्त' मे चन्द्रगुप्त का सिंहासनारोहण बीच मे इतना महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि कथावस्तु वहाँ एक बार दम तोड़ कर फिर उठती है।

तीसरा प्रमुख दोष यह है कि वस्तुविधान मे कहीं-कहीं बड़े भद्दे जोड़ लगे हुए हैं। अनेक स्थानो पर नाटककार को घटनाओ की गतिविधि सँभालना कठिन हो गया है और ऐसा करने के लिए उसे या तो वांछित व्यक्ति को उसी समय भूमि फाड़ कर उपस्थित कर देना पड़ा है अथवा किसी का जबरदस्ती गला घोंटना पड़ा है। यह बड़े नाटको मे सर्वत्र हुआ है।

महत्त्व

इस प्रकार इन नाटको का महत्त्व असम है। एक ओर जहाँ पाठक उनके दोषो को देख कर विक्षुब्ध हो उठता है, दूसरी ओर उनकी शक्ति और कविता से अभिभूत हुए बिना भी नही रह सकता। ये नाटक अंशो में जितने महान हैं सम्पूर्ण रूप मे उतने नहीं। प्रसाद की ट्रैजेडी की भावना, उनकी सांस्कृतिक पुनरुत्थान की चेतना, उनके महान् कोमल चरित्र, उनके विराट् मधुर दृश्य, उनका काव्य-स्पर्श हिन्दी में तो अद्वितीय है ही, अन्य भाषाओं के नाटको की तुलना मे भी उनकी ज्योति मलिन नहीं पड़ सकती।

जनमेजय का नागयज्ञ

(रामकृष्ण शिलीमुख)

'जनमेजय का नागयज्ञ' एक पौराणिक कथा के आधार पर लिखा गया है, जिसमें कथावस्तु के निर्माण के लिए लेखक ने कहीं-कहीं कुछ स्वतन्त्रता से काम लिया है। कथा पौराणिक तथा सर्वसाधारण से परिचित होने के कारण प्रारम्भ से ही कुछ कौतूहल उत्पन्न करने वाली है, और ज्यों-ज्यों घटनाओं का विकास होता जाता है त्यों-त्यों कौतूहल को अधिकाधिक बढ़ाती हुई अन्त में एक आनन्दप्रद विराम की अवस्था को पहुंचती है। नाटक में शिथिल दृश्य कम हैं, जो हैं वे कवित्वपूर्ण भाषा और भावुक कथोपकथनों के कारण उद्वेगकर नहीं होते। पहले ही दृश्य में उत्तेजना इतनी अधिक मात्रा में है कि पाठक स्तम्भित-सा हो जाता है और भावी परिस्थितियों की कल्पना द्वारा एक मानसिक लय का सा अनुभव करने लगता है।

'जनमेजय का नागयज्ञ' एक मनोरम नाटक है। भिन्न-भिन्न भावों की परिस्थिति में पाठक को डॉवाडोल कर के उसके हृदय को बराबर अनुरंजित रखता है। आरम्भ में ही अद्भुत के दर्शन होते हैं। उत्तंक-दामिनी के संवाद के उत्तंक में भावी आचरण की जो तीव्र जिज्ञासा होती है उसका बड़ा सुन्दर समाधान है। इस नाटक में कहीं करुणा के दर्शन होते हैं, कहीं शृंगार के, कहीं रौद्र के, कहीं वीभत्स के तथा कहीं शान्ति के। नागों के जलाए जाने में रौद्र और वीभत्स का समावेश है। वेदव्यास के आश्रम में अपूर्व शान्ति का बोल-बाला है। सरमा व माणवक का संवाद तथा दासी बनने से पहले सरमा की स्वगतोक्ति में करुणा का पुट है। दूसरे अंक के पहले दृश्य में शृंगार तथा विनोद का मिश्रण है। त्रिविक्रम तथा शिष्यों वाला दृश्य हास्यपूर्ण है।

प्रसाद ने इसे तीन अंकों मे विभक्त किया है जो वास्तव में प्लॉट के आरम्भ, मध्य और अन्त कहे जा सकते हैं। प्रथम अंक बहुत अंशों में तो प्लॉट की पूर्वपरिस्थितियो को सुलझा कर उन अवस्थाओं का विकास करता है जो नाटक की गति को सारभूमि तक पहुँचाने मे समर्थ होती हैं और उस संघर्ष का निर्देश करती हैं जो वास्तव मे नाटक की सारस्थिति है। अतः दूसरे अंक मे हम नाटक की इसी संघर्षमूलक सार-स्थिति को धीरे-धीरे बढ़ती हुई देखते हैं। साथ ही साथ इस अंक मे अस्फुट रूप से उन परिस्थितियों का भी उदय होता है जैसे प्रथम दृश्य मे मणिमाला और जनमेजय की भेंट, जो अन्त में संघर्ष के उतार के बाद सुखपरिणति का कारण बनती है। तीसरा अंक उतार का अंक हैं; जिसके प्रत्येक दृश्य में शान्ति, करुणा और प्रेममयी विरक्ति का वातावरण स्थापित किया गया है। इस अंक मे मणिमाला और जनमेजय के प्रारम्भिक अनुरागबीज को एक बार फिर पुष्ट कर के सुखरूप उपसंहार की सूचना दे दी जाती है।

नाटक की विचारधारा बडी समुन्नत है। प्रारम्भिक प्रकाशन-क्रम में 'जनमेजय का नागयज्ञ' प्रसाद का तीसरा नाटक है और अपने पूर्ववर्ती 'अजातशत्रु' की अनेक भाव-प्रवृत्तियो को सूचित करता है। जीवनव्यापी संघर्ष के बाद सांसारिक क्षुद्र वासनाओ से विराग तथा करुणा और प्रेम से आपूरित शान्ति का ध्येय और उसकी प्राप्ति प्रसाद के भव्य नाटको की भाँति 'नागयज्ञ' में भी दृष्टिगोचर होती है। संघर्ष की प्रतिष्ठा में रौद्र, वीर अथवा वीभत्स के साथ जुगुप्सा, निर्वेद और करुणा का द्वन्द्व दिखाया गया है। मनसा, तक्षक आदि प्रथम प्रकार की प्रवृत्तियों के प्रतिनिधि हैं और उत्तंक, मणिमाला, सरमा, आस्तीक आदि दूसरे प्रकार की प्रवृत्तियो के। जनमेजय नेता की हैसियत से और स्वयं उस संघर्ष का ही प्रतिनिधि होने के कारण, समय-समय पर परिस्थितिवश दोनों ओर प्रवृत्त होता है।

जयशंकर प्रसाद के नाटकों का यह सामान्य आदर्श 'नागयज्ञ' में

रूपान्तर से विश्व मैत्री और प्राणिमात्र की एकता का रूप धारण करता है। उस एकता का मूल सिद्धान्त है—सर्वत्र शुद्ध चेतन की व्यापक सत्ता। इस अद्वैत-प्रतिष्ठा में एकता या समभाव स्वयं स्थापित हो जाता है, जिसका अर्थ है भेद-भाव का निराकरण। परन्तु मनुष्य अपनी अहंवृत्ति के कारण अनेक विपरीत द्वन्द्वों को बना लेता है और भेदों को देखने लगता है। इसलिए अंतर्दृश्य में श्रीकृष्ण कहते हैं कि द्वन्द्व बुद्धि को दूर करना चाहिए और जो लोग समझाने से उसे दूर नहीं करते उन्हें हमारा विरोधी बनना पड़ेगा, प्रकृति के चक्र में पिस कर उन्हें नया रूप धारण करना होगा। इसी प्रकार वे हमारे समीपतर आ जायँगे। साम्यस्थापन का यह कार्य ईश्वरेच्छा की स्वाभाविक क्रिया है, अतः उसकी पूर्ति में मनुष्य को कर्ताभाव न लाना चाहिए और इसीलिए अर्जुन द्वारा खाण्डव-दाह होने में कोई दोष नहीं है।

प्रथम दृश्य के अन्तर्दृश्य में प्रतिपादित यह सिद्धान्त ही 'नागयज्ञ' की समस्त घटनावली में व्यावहारिक रूप से दृष्टिगोचर होता है। अन्तर्दृश्य का यही उद्देश्य और महत्त्व है। खांडव वन में जलाये गये नाग अब भी अपनी बर्बरता नहीं छोड़ते हैं और भेद-भाव को पुष्ट कर अपने को जड़ बनाये रखने में ही ये सन्तुष्ट हैं। वे शान्ति और प्रेम से रह कर आर्यों से मिल ही नहीं सकते। इसीलिए प्रकृतिचक्र से उद्भूत परिस्थितियों में पड़ कर वे दिन-रात पिसते हैं। जब वे अच्छी तरह पिस चुकते हैं तो उनका रूप बदलता है। मणिमाला और जनमेजय के विवाह द्वारा आर्यों के साथ समता की अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं।

श्रीकृष्ण के उस शुद्ध चेतन सम्बन्धी गहन अद्वैत सिद्धान्त की स्थापना में आशंका हो सकती है कि नाटक की वस्तु और गति नीरस होगी। जिन स्थलों पर इस प्रकार सिद्धान्तों की विवेचना होती है वे आसानी से बोधगम्य न होने के कारण शुष्क हो भी जाते हैं। परन्तु ऐसे स्थल वास्तव में वस्तु की शृंखलामात्र हैं, स्वयं वस्तु नहीं हैं। यथार्थ घटनावली में तो सांसारिक संघर्ष की परिस्थितियाँ ही हैं, जो

व्यापक सिद्धान्त की दृष्टि से वस्तुतः प्रकृतिचक्र के आवर्तन मात्र हैं। इन आवर्तनों में जब पात्र अपनी अहंबुद्धि को ले कर क्रीड़ा करते हैं तो वे अवसरानुकूल अपने हृदय की प्रवृत्तियों को प्रकट करते हैं और ऐसे अवसरों पर भावुकता का आपादन होता है।

आचार-नीति की व्यंजना में नाटककार ने प्राचीन तथा अर्वाचीन समाजों और व्यक्तियों के व्यवहारों को उदाहृत करने की चेष्टा की है। आदर्श चरित्रों में दयाचरण की पूर्णता भक्ति पैदा करने वाली है। उत्तंक का नैतिक बल, सरमा और वेद की क्षमा तथा वेदव्यास का शान्तिपूर्ण और सर्वतोगामी प्रभाव एक अति उच्च नैतिक वातावरण के द्योतक हैं। यज्ञादिक का अनुष्ठान, ब्राह्मणों की बची-खुची महिमा, ऋषियों का आश्रमों में तपस्या आदि करना, गुरुकुल-प्रणाली (जिसमें शिष्य स्वेच्छा से गुरु को मनोनीत दक्षिणा देता है), राजकुल का समय-समय पर ऋषियों तथा आचार्यों से उपदेश ग्रहण करना आदि उस प्राचीन समय के वातावरण के द्योतक हैं जिसकी कथा 'जनमेजय का नागयज्ञ' का विषय है। इन सब के बीच में कहीं-कहीं ब्राह्मणत्व का मिथ्या अहंकार और पतन, कुपात्र शिष्यों का गुरु की अवज्ञा करना या हँसी उड़ाना, अन्तिम दृश्य के अनुसार यज्ञादिक की अनुपयोगिता; सभ्य कहलाने वाली और असभ्य कही जाने वाली जातियों का संघर्ष, पद-दलितों की छटपटाहट और स्वतन्त्रता के लिए उनका प्रयत्नशील होते रहना आदि बातें वर्तमान भारतीय परिस्थितियों को किसी अंश में प्रकट करती हैं। प्राचीन और वर्तमान वातावरणों के इस सामंजस्य में लेखक के एक अस्पष्ट उद्देश्य की झलक दिखाई दे सकती है।

इस नाटक की भाषा संस्कृत-मिश्रित है और एक ऊँचे शिष्ट समाज की कल्पना को उत्पन्न करती है। भाषा क्लिष्टता के कारण समझने में कुछ कठिनता होती है। परन्तु इसका दोष एकमात्र भाषा के ऊपर ही नहीं मढ़ना चाहिए। जहाँ हमें भाषा क्लिष्ट मालूम होती है और समझने में कठिनता होती है वहाँ दार्शनिक विचारों तथा संवादों का भी उत्तरदायित्व

उखाड़ी जाती तो शायद राष्ट्र में विप्लव हो 'जाता। दुर्भाग्य से ऐसे षड्यन्त्र में कोई-कोई दुर्ब्राह्मण भी शामिल थे। उस समय ब्राह्मणों का का विशेष मान था। राजा भी उनकी आज्ञा का वशवर्ती था। ऐसी परिस्थिति में एकाध ब्राह्मण के भी षड्यन्त्र में मिल जाने के कारण घोर कठिनाइयो के उपस्थित हो जाने की सम्भावना थी। जनमेजय के चरित्र पर इस परिस्थिति का प्रभाव पड़ना आवश्यक था। अतः कोई आश्चर्य नहीं कि जनमेजय को हम एक अति क्रूर और प्रतिहिंसाशील व्यक्ति के रूप में देखते हैं। जनमेजय मानव पात्र है, असामान्य देवप्रवृत्तियाँ उसमें नहीं हैं, फलतः मानवी दुर्बलताएँ उसमें स्वाभाविक हैं। वह स्थान-स्थान पर नागो को जलवाता है और प्रतिहिंसा के वशीभूत हो ब्राह्मणो को निर्वासित करने का साहस करता है। जिस समय तक्षक उससे कहता है कि 'क्रूरता में तुम किसी से कम नहीं हो' तो वह उत्तर देता है, 'यही तो मैं तुमसे कहलवाना चाहता था,' तो एक प्रकार से वह स्वयं ही अपने क्रोध और प्रतिहिंसा का कुछ स्पष्ट रूप से उद्गार कर देता है। साथ ही राज-सभा में अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति का गोपन कर के उसका यह कहना कि 'आपको नहीं मालूम...' उसकी मानवी दुर्बलता का सूचक है। मनुष्य अपने किसी आचरण की पुष्टि के लिए उसे उदारता या वेबसी का आवरण दिया ही करता है।

जनमेजय तेजस्वी प्रकृति का व्यक्ति है और राजप्रभुता को समझता है। ब्राह्मणो के अतिरिक्त और किसी को वह अपने सामने अधिक बोलने का अवसर नहीं देता। मृगया मे मद्रक के निषेध करने पर कि ऐसी जगह पर मृग नहीं छिपते वह कहता है 'चुप रहो'। परन्तु उसका सब से अधिक मानवीय रूप उसके निराशावाद मे है। इस परिस्थिति में वह हमारे सामने सम्राट् नही है, प्रत्युत एक मनुष्य-मात्र है। अपनी परेशानियो और चिन्ताओ से दुःखी हो कर वह दीन की भाँति अनेक बार चिल्ला उठता है—'मनुष्य प्रकृति का अनुचर और नियति का दास है।' इसी भाँति मणिमाला को देख कर उसके हृदय में किसी एक अलक्ष्य वृत्ति

ध्रुवस्वामिनी और प्रसाद

[शम्भुप्रसाद बहुगुना]

प्रसाद की रचनाओं में (नाटकों में ही नहीं) अपनी मर्मस्पर्शिता, सरलपन और क्रान्तदर्शिता तथा सुलझे हुए कथानक के लिए सम्भवतः 'ध्रुवस्वामिनी' सर्वश्रेष्ठ है। इसका लघुत्व ही इसके इस व्यापकत्व का मुख्य कारण है, किन्तु इस लघुत्व में जो महान प्रश्न और जीवन की कटु मार्मिकता है, उसका हल—उसका निर्णय—'ध्रुवस्वामिनी' को, जीवन के एक जटिल प्रश्न का महान से महान भाष्य बना देता है। किस अवस्था मे नारी भारत में भी दूसरा पति वरण कर सकती है, यह बतलाने का 'कान्तासम्मत कार्य' प्रसाद ने भारतीय इतिहास और धर्मशास्त्र के आधार पर 'ध्रुवस्वामिनी' मे अपने ढंग पर किया है।

इस अपने ढंग के विवेचन में भी प्रसाद ने भारतीय दृष्टिकोण की रक्षा की है किन्तु शास्त्रीय मनोवृत्ति के अधीन इतिहास के तथ्य की हत्या नहीं होने दी है। वरन् शास्त्रो को इतिहास का अनुवर्ती बनाया है। अपने इस दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए वे 'ध्रुवस्वामिनी' की 'सूचना' मे एक स्थान पर कहते हैं—

"यह ठीक है कि हमारे आचार और धर्मशास्त्रो की व्यावहारिकता विच्छिन्न-सी है। आज जितने सुधार या समाज-शास्त्र के परीक्षात्मक प्रयोग देखे या सुने जा सकते हैं, उन्हें अचिन्तित और नवीन समझ कर हम बहुत शीघ्र उन्हें अभारतीय कह देते हैं, किन्तु मेरा ऐसा विश्वास है कि प्राचीन आर्यावर्त ने समाज की दीर्घकालव्यापिनी परम्परा में प्रायः प्रत्येक विधान का परीक्षात्मक प्रयोग किया है। तात्कालिक कल्याणकारी परिवर्तन भी हुए हैं। इसलिए डेढ़ हज़ार वर्ष पहले यह होना अस्वाभाविक नहीं। क्या होना चाहिए और कैसा होगा? यह तो व्यवस्थापक विचार

करें, किन्तु इतिहास के आधार पर जो कुछ हो चुका है या जिस घटना के घटित होने की सम्भावना है, उसी को ले कर इस नाटक की कथावस्तु का विकास किया गया है।"

'ध्रुवस्वामिनी' का कथानक

'ध्रुवस्वामिनी' प्रसिद्ध गुप्त-कुल की वधू थी। वह समुद्रगुप्त की दिग्विजय में कन्योपदान में गुप्त-कुल में आई थी। चन्द्रगुप्त द्वितीय उसे खेमे में लाने के लिए गया था। समुद्रगुप्त ने उत्तराधिकार चन्द्रगुप्त को देने की सोची थी। कुछ लोगों को यह बात ज्ञात भी थी, पर इस बात की घोषणा परिषद् के सम्मुख नहीं हो पाई थी। समुद्रगुप्त की मृत्यु के बाद रामगुप्त ने धूर्तता से गद्दी पर अपना अधिकार कर लिया और ध्रुवस्वामिनी के साथ भी विवाह के मन्त्र पुरोहितों से पढ़ा लिये। सब लोगों के विरोध करने पर भी शिखरस्वामी और पुरोहित ही इस कार्य में रामगुप्त के सहायक हुए।

फिर रामगुप्त चन्द्रगुप्त को बन्दियों की भाँति नियंत्रण में रखता है और ध्रुवस्वामिनी के हृदय में चन्द्रगुप्त के प्रति स्नेह का जो अंकुर रहा होगा, उसे समूल नष्ट कर देने के स्वप्न रामगुप्त देखा करता है पर चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी सदैव एक दूसरे के लिए आकुलता छिपाये चलते हैं। गुप्त-कुल की मान-मर्यादा को बनाये रखने के लिए चन्द्रगुप्त अपने अधिकारों व अपने हृदय के कोमल भावों तक की उपेक्षा-सी करने लगता है। किन्तु उसका त्याग—उसका तेजस्व—रामगुप्त की कायरता व धूर्तता के विरोध में और भी अधिक निखर उठता है।

अपने ही स्वार्थों का मोह जिसकी इन्द्रिय-लोलुपता को बढ़ाता रहता है वह क्लीब, कापुरुष, धूर्त रामगुप्त स्नेह से ध्रुवस्वामिनी को सदैव वञ्चित रखता है वह उसकी उपेक्षा करता है और साथ ही यह भी चाहता है कि 'जगत् की अनुपम सुन्दरी' मुझे प्यार करे। उसे यह खलता है कि ध्रुवस्वामिनी उसे प्यार नहीं करती वरन् चन्द्रगुप्त को चाहती है।

"जगत् की अनुपम सुन्दरी मुझे स्नेह नहीं करती और मैं हूँ इस देश का राजाधिराज ?"

"आह ! किन्तु ध्रुवदेवी ! उसके मन में टीस है, जो स्त्री दूसरे के शासन में रह कर और प्रेम किसी अन्य पुरुष से करती है; उसमें एक गम्भीर और व्यापक रस उद्वेलित रहता होगा। वही तो'''नहीं; जो चन्द्रगुप्त से प्रेम करेगी वह स्त्री न जाने कब चोट कर बैठे ?"

और इसीलिए वह ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करने की फिक्र में सदैव रहता है जिससे 'कुचक्रों' का चलना सम्भव न हो सके और चन्द्रगुप्त तथा ध्रुवस्वामिनी दोनों का सम्पर्क भी न हो। ध्रुवस्वामिनी के दास-दासियाँ गूँगे, बहरे, हिजड़े हैं, जिससे उसका दम घुटने लगता है। जीवन में एक निरन्तर अभाव की रेखा छिपाए अपने इस नीरव अपमान की भर्त्सना करती हुई वह मन-ही मन सोचती है—"सीधा तना हुआ, अपने प्रभुत्व की साकार कठोरता, अभ्रभेदी उन्मुक्त शिखर और इन क्षुद्र कोमल निरीह लताओं को इसके चरणों पर लोटना ही चाहिए न ? वह दास-दासियों से प्रश्न करती है। पर उत्तर कौन दे; ध्रुवस्वामिनी खीझ उठती है—"इस अन्तःपुर में न मालूम कब से मेरे लिए नीरव अपमान सञ्चित रहा, जो मुझे आते ही मिला।" रामगुप्त के कभी दर्शन तक नहीं होते, विवाह के अवसर पर पुरोहितों के आशीर्वाद को अभिशाप समझती हुई वह अपनी व्यथा सुनाना चाहती है—"उस दिन राजपुरोहित ने कुछ आहुतियों के बाद मुझे जो आशीर्वाद दिया था वह क्या अभिशाप था ?" पर सुनने वाला कौन है !

ध्रुवस्वामिनी दासी से बहुत कुछ पूछना चाहती है किन्तु अवरोध के अन्दर मौन रहने वाली दासी झरने के पास चलने का संकेत करती है। वहाँ एकान्त पा कर दासी का मौन खुलता है। आश्चर्यचकित ध्रुवस्वामिनी इस कपटाचरण का कारण पूछती है तो दासी चन्द्रगुप्त की चर्चा चला कर उसे बन्दीगृह से मुक्त करवाने की बात कहती है—

"प्रत्येक क्षण उनके प्राणों पर सन्देह करता है। उन्होंने पूछा है

कि मेरा क्या अपराध है?"..."राजाधिराज से कह कर क्या आप उनका कुछ उपकार करेंगी। दुखी ध्रुवदेवी कहती है—

"मुझपर राजा का कितना अनुग्रह है, यह भी मैं आज तक न जान सकी। मैंने तो कभी उनका मधुर सम्भाषण सुना ही नहीं। विलासिनियों के साथ मदिरा में उन्मत्त, उन्हें अपने आनन्द से अवकाश कहाँ?"

दासी चन्द्रगुप्त के प्रेम का संकेत देती हुई कहती है—"कुमार को तो इतने से ही सन्तोष होगा कि उन्हें कोई विश्वासपूर्वक स्मरण कर लेता है।" ध्रुवस्वामिनी के हृदय की असह्य पीड़ा साकार हो जाती है। रामगुप्त के प्रति उसकी घृणा तीव्रतम हो जाती है—"आह! कितनी कठोरता है! मनुष्य के हृदय मे देवता को हटा कर राक्षस कहाँ से घुस आता है? कुमार की स्निग्ध, सरल और सुन्दर मूर्ति को देख कर कोई भी प्रेम से पुलकित हो सकता है। किन्तु, उन्हीं का भाई? आश्चर्य?"

रामगुप्त को जब शकपति से पाला पड़ता है तो मालूम होता है कि उसके प्राण अब संकट मे नहीं। चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी दोनों को एक साथ ही दूर कर देने की भावना रामगुप्त के मन मे चल रही थी। शकपति सन्धि करने के लिए तैयार था, इस शर्त पर कि ध्रुवस्वामिनी उसे मिल जाय। रामगुप्त इसके लिए भी तैयार हो जाता है और ध्रुवस्वामिनी के सामने प्रस्ताव रक्खा जाता है। यह था प्रथम सम्भाषण जिसके लिए कृतज्ञता प्रकट करती हुई ध्रुवस्वामिनी कहती है—"मै यह जानना चाहती हूँ कि गुप्त-साम्राज्य क्या स्त्री-सम्प्रदान से ही बढ़ा है?" रामगुप्त को कुछ भी उत्तर नहीं सूझता है तो वह वहीं पास ही बैठे मन्त्री से पूछता है। 'कपटाचारी तथा धूर्त मन्त्री भी' सलाह देता है कि राज्य की रक्षा के लिए दो ही उपाय हैं—या तो प्राण दिये जायँ या ध्रुवस्वामिनी। रामगुप्त को प्राण सम्मान तथा ध्रुवस्वामिनी से अधिक प्रिय थे इसलिए वह प्राणों की रक्षा के

लिए ध्रुवस्वामिनी का उत्सर्ग करने को तैयार होता है। ध्रुवस्वामिनी आत्म-सम्मान के ठुकराये जाने से तिलमिला उठती है—"पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशु-सम्पत्ति समझ कर उनपर अत्याचार करने का अभ्यास कर लिया है, वह मेरे साथ नहीं चल सकता। यदि तुम मेरी रक्षा नहीं कर सकते, अपने कुल की मर्यादा नारी का गौरव नहीं बचा सकते, तो मुझे बेच भी नहीं सकते, हाँ, तुम लोगों को आपत्ति से बचाने के लिए मैं स्वयं यहाँ से चली जाऊँगी।"

परन्तु शिखरस्वामी तथा रामगुप्त ध्रुवस्वामिनी को देने पर ही उतारू हैं। शिखरस्वामी से चले जाने के लिए बड़े मार्मिक किन्तु ओजस्वी शब्दों मे ध्रुवस्वामिनी कहती है—"मै चाहती हूँ कि अमात्य अपने मन्त्रणा-गृह में जायँ। मैं केवल रानी ही नहीं स्त्री भी हूँ; मुझे अपने को पति कहने वाले पुरुष से कुछ कहना है, राजा से नहीं।" शिखरस्वामी के साथ रामगुप्त भी जाने लगता है। ध्रुवस्वामिनी रामगुप्त को रोक लेती है। उसे डराती है, धमकाती है, रोती और गिड़गिड़ाती हुई उससे पूछती है—"मेरा स्त्रीत्व क्या इतने का भी अधिकारी नहीं कि अपने को स्वामी समझने वाला पुरुष उसके लिए प्राणों का पण लगा सके ?" पर रामगुप्त से यह सुनने पर कि "सोने की कटार पर मुग्ध हो कर उसे कोई अपने हृदय में चुभा नहीं सकता" उसका दिल टूट जाता है। किन्तु फिर भी वह रामगुप्त के चरण छू कर अन्तिम प्रयत्न करती हुई कहती है—

"मेरी रक्षा करो। मेरे और अपने गौरव की रक्षा करो, राजा, आज मैं शरणप्रार्थिनी हूँ। मै स्वीकार करती हूँ, कि आज तक मैं तुम्हारे विलास की सहचरी नहीं हुई; किन्तु वह मेरा अहंकार चूर्ण हो गया है। मैं तुम्हारी हो कर रहूँगी। राज्य और सम्पत्ति रहने पर राजा को—पुरुष को—बहुत-सी रानियाँ और स्त्रियाँ मिलती हैं; किन्तु व्यक्ति का मान नष्ट होने पर फिर नही मिलता।"

रामगुप्त राज्य स्थिर चाहता है, अपने प्राण भी, किन्तु बिना कुछ

किए ही। यदि वह कुछ किया चाहता है तो यही कि ध्रुवदेवी और चन्द्रगुप्त दोनो ही एक बार मे राह से अलग हो जायँ! ऐसी भावनाएँ जिसके हृदय में हों उसका पुरुषत्व कब जाग्रत हो सकता है, उसमें कहाँ हिम्मत हो सकती है कि वह अपनी कुल-मर्यादा नारी की रक्षा के लिए अपने प्राणों का पण लगा सके। केवल कायरता से अनधिकार प्रभुत्व चाहता है। ध्रुवस्वामिनी को अग्नि-साक्षी दे कर उसने अपनी स्त्री बनाया था, सुख-दुःख मे उसका साथ न छोड़ने की प्रतिज्ञा की थी, इस बात तक से वह विमुख होना चाहता है—"रामगुप्त ने ऐसी कोई प्रतिज्ञा न की होगी। मैं तो उस दिन द्राक्षासव में डुबकी लगा रहा था। पुरोहितो ने न जाने क्या क्या पढ़ा दिया होगा। उन सब बातो का बोझ मेरे सिर पर? कदापि नहीं!" स्त्रीत्व की रक्षा की आशा ऐसे व्यक्ति से करना ध्रुवस्वामिनी के लिए एक दुराशा मात्र है।

ध्रुवस्वामिनी जब स्त्रीत्व की रक्षा होना दुर्लभ समझती है तब अपने आत्म-सम्मान को भी ठुकरा कर सतीत्व की रक्षा की भीख माँगती है। उसकी काँपती हुई वाणी की चीत्कार भी रामगुप्त के पाषाण-हृदय को जब भेद सकने मे समर्थ नहीं होती तब उसका दैन्य परमुखापेक्षी न रह कर स्वावलम्बी बन जाता है। आत्मसमर्पण के भाव एकाएक लुप्त हो जाते हैं और घने अन्धकार में फूट उठती है अन्तराल मे विकीर्ण होने वाली आत्मज्योति। एक ही क्षण पहले जिसके सौन्दर्य को करुणा के कुहासे ने आच्छादित कर दिया था, उसके मुखमण्डल पर अब असीम आत्मदृढता की सत्य-ज्योति जगमगाने लगती है।—"निर्लज्ज! मद्यप!! क्लीब!! ओह, तो मेरा कोई रक्षक नहीं? नहीं, मैं अपनी रक्षा स्वयं करूँगी। मैं उपहार में देने की वस्तु, शीतल मणि नहीं हूँ। मुझमे रक्त की तरल लालिमा है। मेरा हृदय उष्ण है और उसमें आत्मसम्मान की ज्योति है। उसकी रक्षा मैं ही करूँगी," और अन्तिम अवलम्ब कटार निकालती है। रामगुप्त को भय होता है कि मेरी हत्या न कर दे। इसपर ध्रुवस्वामिनी कहती है—"तुम्हारी हत्या? नहीं तुम जिओ। भेड़ की तरह तुम्हारा क्षुद्र

जीवन ! उसे न लूँगी । मैं अपना ही जीवन समाप्त करूँगी ।" इसपर रामगुप्त और चिन्तित हो कर चिल्ला उठता है—"किन्तु तुम्हारे मर जाने पर उस बर्बर शकराज के पास किसको भेजा जायगा ? नहीं-नहीं, ऐसा न करो ! हत्या, हत्या, दौड़ो, दौड़ो ।"

बन्दीगृह में चन्द्रगुप्त सुन लेता है । शृङ्खलाओं को तोड़ कर बाहर निकल आता है । ध्रुवस्वामिनी के हाथ में कटार देख कर कहता है—"यह क्या ? महादेवी, ठहरिए ।"

ध्रुवस्वामिनी को इस समय जब कि उसका आत्मसम्मान ठुकरा दिया गया हो, जब कि वह 'अपमान में निर्वसन' होने से 'मृत्यु की चादर' में अपने को ढँक लेना चाहती हो, चन्द्रगुप्त का आना खलता है । विक्षुब्ध हो कर वह कह उठती है—"कुमार ! इसी समय तुम्हें भी आना था । मैं प्रार्थना करती हूँ कि तुम यहाँ से चले जाओ । मुझे अपने अपमान में निर्वसना देखने का किसी पुरुष को अधिकार नहीं । मुझे मृत्यु की चादर से अपने को ढँक लेने दो ।"

पददलित ध्रुवस्वामिनी के हृदय से निकली हुई इस आह में युग-युग की भर्त्सना भरी हुई है, जिसे सुन कर सम्पूर्ण पुरुष-जाति के प्रति घृणा-सी होने लगती है ।

चन्द्रगुप्त कारण सुनने के लिए व्यग्र है । ध्रुवस्वामिनी से भी नहीं रहा जाता । आखिर वह खुल ही पड़ती है—"सुनोगे ? अभी आत्महत्या नहीं करूँगी, जब तुम आ गये हो तो थोड़ा ठहरूँगी । यह तीखी छुरी इस अतृप्त हृदय में, विकासोन्मुख कुसुम में, विषैले कीट में डङ्क की तरह चुभा दूँ या नहीं, इसपर विचार करूँगी । यदि नहीं तो मेरी दुर्दशा का पुरस्कार क्या कुछ और है ? 'हाँ, जीवन के लिए कृतज्ञ, उपकृत और आभारी हो कर किसी के अभिमानपूर्ण आत्मविज्ञापन का भार ढोती रहूँ, यही क्या विधाता का निष्ठुर विधान है ? छुटकारा नहीं ? जीवन नियति के कठोर आदेश पर चलेगा ही ? तो क्या मेरा यह जीवन भी अपना नहीं है ?"

चन्द्रगुप्त जीवन का अन्त कर देने (आत्महत्या) के इस गम्भीर प्रश्न पर प्रकाश डालता हुआ शान्त भाव से ध्रुवस्वामिनी को समझाने लगता है—"देवि, जीवन विश्व की सम्पत्ति है। प्रमाद से, क्षणिक आवेश से या दुःख की कठिनाइयों से उसे नष्ट करना ठीक तो नहीं। गुप्त-कुल-लक्ष्मी आज यह छिन्नमस्ता का अवतार किसलिए धारण करना चाहती है? सुनूं भी।"

चन्द्रगुप्त के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता जब वह देवी से सुनता है कि शकराज को मेरी परम आवश्यकता है। यह अवरोध बिना मेरा उपयोग किये नहीं हट सकता। आज मुझे शक-शिविर में पहुँचाने के लिए उसी प्रकार तुमको मेरे साथ चलना होगा जिस प्रकार तुम प्रसन्नता से मुझे गुप्त-कुल में लाने के लिए मेरी शिविका के पीछे विश्वासपूर्ण मुखमण्डल से आए थे।

चन्द्रगुप्त विकल हो कर कहता है—"यह परिहास कैसा?"

अपने आँसुओं को अञ्चल से पोंछती हुई ध्रुवस्वामिनी कहती है—"परिहास नहीं, राजा की आज्ञा है।"

सुनते ही चन्द्रगुप्त आवेश में आ जाता है और वह करने के लिए तैयार है जो रामगुप्त के कारण मटियामेट किया जा रहा था। समुद्रगुप्त के स्वर्गीय गर्व और ध्रुवस्वामिनी के प्रेम की रक्षा के लिए वह अपने प्राणों की बाजी लगाने के लिए तैयार हो जाता है। अतीत की स्मृति और सोई हुई भावनाएँ जाग उठती हैं। अपनी आन्तरिक वृत्तियों की अधिक उपेक्षा अब वह नहीं करता—"यह नहीं हो सकता... मेरे जीवित रहते आर्य समुद्रगुप्त के स्वर्गीय गर्व को इस तरह पद-दलित न होना पड़ेगा........"

रामगुप्त और मन्त्री इस अवसर पर आत्महत्या को पाप बताने लगते हैं। उनके मुख से ये बातें सुन कर वीर चन्द्रगुप्त व्यंग्य करता है—'आप से तो यह भी नहीं होता।' रामगुप्त इसे छल समझता है। मन्त्री भी सम्भवतः कुछ ऐसा ही ख्याल कर विवाद करता है। रामगुप्त

को अपने प्राणों का भय होने लगता है। सहसा एक हिजड़ा, एक कुबड़ा और बौना आ कर परिस्थिति पर व्यंग्य करते हैं। चन्द्रगुप्त उन्हें कान पकड़ निकाल बाहर करता है। अब ध्रुवस्वामिनी चोट देती है— "कुमार किस-किसको निकालोगे, यहाँ पर एक वही तो नपुंसक नहीं है ?" यदि किसी भी पुरुषत्वपूर्ण व्यक्ति ने ये तिलमिला देने वाली पंक्तियाँ सुनी होतीं, तो उसकी सोई हुई प्रवृत्तियाँ जाग सकती थीं। परन्तु निर्लज्ज रामगुप्त के लिए वह कुछ भी न था, वह चुपचाप सुनता है।

चन्द्रगुप्त स्वयं ध्रुवस्वामिनी के वेष में शकराज के पास जाने को तैयार होता है। कहता है—"मैं सफल हुआ तब तो कोई बात ही नहीं। अन्यथा मेरी मृत्यु के बाद तुम लोग जैसा उचित समझो वैसा करना।"

ध्रुवस्वामिनी कुल, राष्ट्र तथा आत्मसम्मान के सामने एक तुच्छ राजत्व को महत्त्व न देने वाले इस चन्द्रगुप्त की गौरव-भावना के सामने झुक जाती है। वह उसे अपनी भुजाओं में भर कर कहती है—"मेरे क्षुद्र, दुर्बल नारी-जीवन का सम्मान बचाने के लिए इतने बड़े बलिदान का आवश्यकता नहीं।" रामगुप्त की आँखों के लिए यह दृश्य जहर का घूँट था। क्रोध से काँप कर वह कहता है—"सबके सामने यह कैसी निर्लज्जता !"

ध्रुवस्वामिनी चन्द्रगुप्त को छोड़ देती है और आवेश में आ कर कहती ह—"यह पाप है ? जो मेरे लिए अपनी बलि दे सकता हो, जो मेरे स्नेह—अथवा इससे क्या ? शकराज क्या मुझे देवी बना कर भक्ति-भाव से पूजा करेगा ? वाह रे लज्जाशील पुरुष ! संघर्षपूर्ण वातावरण म अध्रुव की ओर ध्रुवदेवी जाने को बाध्य है।"

इसके पश्चात् चन्द्रगुप्त ध्रुवस्वामिनी के वेष मे आता है और ध्रुवस्वामिनी से पूछता है कि मैं अकेले ही जाऊँगा। परन्तु ध्रुवस्वामिनी नहीं मानती। वह बड़े स्नेहयुक्त शब्दो में कहती है—"कुमार, यह मृत्यु और निर्वासन का सुख तुम अकेले ही लोगे ऐसा नहीं हो सकता। राजा की इच्छा क्या है, यह जानते हो ? मुझसे और तुमसे एक साथ ही

अपने पति से विच्छिन्न कराकर अपने गर्व की तृप्ति के लिए कैसा अनर्थ कर रहे हो ? राजनीति का प्रतिशोध क्या एक नारी को कुचले बिना पूरा नहीं हो सकता ?"

आचार्य मिहिरदेव भी कुछ ऐसे ही शब्दों में शकराज को सचेत करते हुए कहते हैं—"अरे क्या तुम इस क्षणिक सफलता से प्रमत्त हो जाओगे ? राजा ! स्त्रियों का स्नेह—विश्वास—भङ्ग कर देना, कोमल तन्तु को तोड़ने से भी सहज है; परन्तु सावधान हो कर उसके परिणाम को भी सोच लो।"

कोमा तथा मिहिरदेव के चले जाने के बाद चन्द्रगुप्त तथा ध्रुव-स्वामिनी वहाँ प्रवेश करते हैं। शकराज के सम्मुख चन्द्रगुप्त तथा ध्रुव-स्वामिनी में विवाद होने लगता है—'मैं ध्रुवस्वामिनी, मैं ध्रुवस्वामिनी।' शकराज कहता है—क्या बुरा है, मैं दोनों को ही ध्रुवस्वामिनी समझ लूँ। चन्द्रगुप्त अवसर पा कर शकराज का अन्त कर देता है।

इसके बाद मन्दाकिनी, चन्द्रगुप्त, रामगुप्त, ध्रुवस्वामिनी, पुरोहित और कर्मचारी आदि दिखाई देते हैं। यहीं पर स्त्री-हृदय की समस्त आह तथा अस्तित्व का दिग्दर्शन कराया गया है। धर्माचार्य और प्रजा रामगुप्त का विरोध कर चन्द्रगुप्त के साथ ध्रुवस्वामिनी के विवाह की व्यवस्था दे कर दोनों का विवाह कर देते हैं और रामगुप्त को पदच्युत कर चन्द्रगुप्त को गद्दी पर बिठा देते हैं।

ध्रुवस्वामिनी में नारी जीवन का स्वरूप

प्रसाद ने ध्रुवस्वामिनी, रामगुप्त तथा चन्द्रगुप्त की कथा को जो रूप दिया है उसमे अन्य बातो के साथ प्रधान रूप से दो समस्याओं पर प्रकाश डाला है—(१) मोक्ष तथा पुनर्लग्न भारतीय जीवन में भी वाञ्छनीय परिस्थितियो मे नारी सामाजिक तथा धार्मिक दृष्टि से आवश्यक तो है ही, किन्तु इस प्रकार की उदारता का समर्थन भी भारतीय इतिहास तथा नीतिशास्त्र से होता है, और (२) राजा को ईश्वर का अवतार जिस भारत ने बनाया है उसने राजा के मानवत्व और

मानवसुलभ दुर्बलताओं की उपेक्षा कर राजा को सब प्रकार से मनमानी करने के लिए नहीं छोड़ दिया। लोकहितैषिणी वृत्ति की प्रधानता में भारत ने राजा को अष्ट दिक्पालों का अंश और विष्णु का अवतार माना है तो पुरुषार्थ तथा लोक-आराधना की भावना के अभाव वाले दुर्वृत्त राजा को राज्यच्युत कर, आवश्यकता आने पर उसके वध तक कर देने की शक्ति प्रकृति (प्रजा) में निहित की है। शकपति को ध्रुवस्वामिनी को सौंपने के लिए तत्पर रामगुप्त को प्रजा ने राज्यच्युत ही नहीं किया, वरन् उसके सामने ही अपनी तथा ध्रुवदेवी की रक्षा करने वाले चन्द्रगुप्त को गद्दी पर भी बिठलाया और ध्रुवस्वामिनी का विवाह भी चन्द्रगुप्त के साथ कर दिया।

प्रसाद ने ध्रुवस्वामिनी नाटक में जो कुछ दिखलाया है वह आज के युग के लिए तो आवश्यक है ही, परन्तु इतिहास ने भी इसका कहाँ तक समर्थन किया है, विशेष कर उस इतिहास ने जिसका चित्रण प्रसाद ने ध्रुवस्वामिनी में किया है, इसे देख लिया जाय।

नियोग तथा विधवा-विवाह का तो समर्थन ऋग्वेद, अथर्ववेद, मनुस्मृति, पाराशर-स्मृति, पाराशर-माधवी, वशिष्ठ-धर्मशास्त्र, बौधायन-धर्मशास्त्र, लघुशातातप-स्मृति, पद्मपुराण, महाभारत, हिन्दू लॉ आदि से होता ही है किन्तु इन ग्रंथों तथा इतिहास से तलाक का भी समर्थन होता है। नीतिशास्त्र में जिन परिस्थितियों में मोक्ष तथा पुनर्लग्न का विधान है उनको भली भाँति रामगुप्त और ध्रुवस्वामिनी के सम्बन्ध में प्रसाद ने इतिहास तथा जीवन के अध्ययन से पाया है और इसीलिए उसका मर्मस्पर्शी स्वरूप ध्रुवस्वामिनी में खड़ा किया है। कुचली हुई नारी-शक्ति को, जिसके लिए सुमित्रानन्दन ने अभ्यर्थना की है—

"मुक्त करो नारी को मानव
चिर वन्दिनी नारी को,
युग-युग की बर्बर कारा से
जननी, सखी, प्यारी को।"

उज्ज्वल से उज्ज्वल वातावरण में खडे हो कर जीवन की साँस लेने का भारतीय-संस्कृति-अनुमोदित अवसर प्रसाद ने अपने साहित्य में दिया है। यद्यपि कामिनी से मानवी भूमि में भारतीय नारी को लाने के लिए प्रयत्न सूरदास के बाद, आधुनिक युग में अयोध्यासिंह उपाध्याय, प्रेमचंद, मैथिलीशरण गुप्त और भगवतीचरण वर्मा ने भी कम नहीं किया है किन्तु प्रसाद से आगे इस दिशा मे कोई हिन्दी का साहित्यिक सचाई के साथ नहीं बढ़ा है। कथा-कहानियो और उपन्यासो मे तो प्रसाद ने इस समस्या को सुलझाया ही है किन्तु नाटको मे जिस सीमा तक नारी के निर्मल रूप को निखार दिया है वह देखने की ही नहीं, मनन-चिन्तन की भी वस्तु है। प्रसाद-साहित्य में नायक की नही, नायिकाओ की प्रधानता है। पुरुष के 'अभावो को परिपूर्ण करने का उष्ण प्रयत्न और शीतल उपचार' जिस नारी को प्रसाद ने माना है उसके जीवन की सर्वाङ्गीणता को उन्होने अपने नाटको तथा अन्य रचनाओ मे प्रदर्शित किया है। उसके जीवन की वास्तविकता, उसके सुख-दुःख, प्रसन्नता-विषाद, गौरव-ह्रास, सामाजिक तथा घरेलू जीवन, और आशा-अभिलाषाओ को प्रदर्शित कर नारी के प्रति मानव की भावनाओ को बदल देने का शीतल उपचार प्रसाद ने किया है। जहाँ रूप और सौन्दर्य से गर्विता नारी अपने जीवन की स्वाभाविक शान्ति को छोड कर घर की उपेक्षा कर सामाजिक क्षेत्र मे पुरुष से स्पर्धा कर महत्त्वाकांक्षाओ का शिकार बनती हुई अपने ही लिए धूम्रकेतु बन जाती है, वहाँ प्रसाद की करुणा आँसू बहाती हुई उस अभागिन को सचेत कर कहती है—

"विश्व भर में सब कर्म सबके लिए नहीं हैं, इसमें कुछ विभाग हैं अवश्य। सूर्य अपना काम जलता-बलता हुआ करता है और चन्द्रमा उसी आलोक को शीतलता से फैलाता है। क्या उन दोनो में परिवर्तन हो सकता है? मनुष्य कठोर परिश्रम करके जीवन संग्राम में प्रकृति पर यथाशक्ति अधिकार कर के भी एक शासन चाहता है, जो उसके जीवन

का परम ध्येय है, उसका एक शीतल विश्राम है। और वह, स्नेह-सेवा-करुणा की मूर्ति तथा सान्त्वना के अभय-वरद हस्त का आश्रय मानव-समाज की सारी वृत्तियों की कुञ्जी विश्व-शासन की एकमात्र अधिकारिणी प्रकृति-स्वरूपा स्त्रियों के सदाचारपूर्ण स्नेह का शासन है। उसे छोड़ कर असमर्थता दुर्बलता प्रकट कर के इस दौड़धूप में क्यों पड़ी हो देवि! तुम्हारे राज्य की सीमा विस्तृत है और पुरुष की संकीर्ण। कठोरता का उदाहरण है—पुरुष, और कोमलता का विश्लेषण है—स्त्री जाति। पुरुष क्रूरता है तो स्त्री करुणा है—जो अन्तर्जगत् का उच्चतम विकास है, जिसके बल पर समस्त सदाचार ठहरे हुए हैं! इसीलिए प्रकृति ने इतना सुन्दर और मनमोहन आवरण दिया है—रमणी का रूप, सङ्गठन और आधार भी वैसे ही हैं. उन्हें दुरुपयोग में न ले आओ। क्रूरता अनुकरणीय नहीं है, उसे नारी-जाति जिस दिन स्वीकार कर लेगी, उस दिन समस्त सदाचारों में विप्लव होगा। फिर कैसी स्थिति होगी, यह कौन कह सकता है।"

किन्तु जहाँ 'व्यर्थ स्वतन्त्रता और समानता का अहङ्कार' छोड़ कर 'पाशवी वृत्तिवाले क्रूरकर्मा' पुरुषों को 'स्नेह, शीतलता, सहनशीलता और सदाचार का पाठ' अपने त्याग-प्रेममय जीवन से सिखलाती तथा 'कुटिल जगत् की गृहस्थी के बीच' रहती हुई भी 'रोते हुए हृदयों के हँसाने' का प्रयत्न करती हुई नारी प्रसाद को दिखलाई देती है वहाँ वे अपनी समस्त श्रद्धा, निर्मल प्रतिभा और सारी कोमल भावुकता उसके चरणों में अर्पित कर पाठकों के हृदयों को करुणा की मूर्ति के दिव्य आलोक के दर्शन करा देते हैं। जीवन के उत्थान-पतन की विभिन्न परिस्थितियों के बीच नारी को रख कर उसकी शक्ति की परीक्षा करते हुए वे कष्ट की कसौटी पर उसी के अनुभवों से उसे कस कर जीवन के आदर्श-पथ पर उसे लगा देते हैं। प्रसाद के इस प्रयत्न से उनका साहित्य एक साथ ही वास्तविकता से आदर्श की ओर प्रवाहित होता दिखलाई देता है। जीवन की इस सर्वाङ्गीणता को उसकी जटिल

समस्याओं के मूल में बहनेवाले रस को पहचान कर प्रसाद ने गहरे-से-गहरे आदर्शरूप में दिखलाया है। जो लोग प्रसाद के जीवन की इस गहराई को भूल कर ऊपरी दृष्टि से ही उनके साहित्य को देख कर छोड़ देते हैं उन्हें प्रसाद पलायनवादी ही नजर आ सकते हैं, किन्तु रूप के आवरण मे छिपे रस की प्रकृति को पहचानने का ज़रा भी यत्न जो पाठक प्रसाद के साहित्य में करेगा उसकी कभी यह धारणा नहीं हो सकती, वरन् उसे उन प्रगतिवादियों पर हँसी आयेगी जो प्रसाद पर पलायनवादी होने का दोष तो लगाते हैं किन्तु यह नहीं देखते कि प्रगति को पहचानने में उन्होंने भूल की है और प्रगति के आवरण में उन्होने कुछ और ही ओढ़ कर अपने वास्तविक स्वरूप को भी भुला दिया है। जिसने और कुछ न देख कर राज्यश्री-सुरमा, मल्लिका-मागन्धी, विजया-देवसेना, अलका-सुवासिनी, कार्नेलिया-कल्याणी, कोमा-ध्रुवस्वामिनी, वनलता-प्रेमलता, चन्द्रलेखा-कामना, लालसा-मनसा, सरमा-वपुष्टमा और इड़ा-कामायनी को भी देखा हो वह भी आसानी से कह सकता है कि पुरुष नारी-जीवन और वर्तमान जगत् में विद्यमान संघर्ष की तह में छिपी शाश्वत समस्याओ को प्रसाद की अन्वेषिणी प्रतिभा की ऑखो ने उसी खूबी के साथ देखा है जिस खूबी के साथ सूरदास ने बालक स्वभाव की एक-एक बारीकियो को देखा था।

ध्रुवस्वामिनी में नारी का वह स्वरूप है जिसके दर्शन जीवन मे सदैव और प्रसाद-साहित्य में पहली बार होते हैं। स्नेह-सौहार्द और करुणा की साकार प्राणमयी मूर्ति कामिनी की उपासना प्रसाद ने अपनी सभी रचनाओं में की है। उसके जीवन की कोई-न-कोई समस्या प्रत्येक रचना में रक्खी है किन्तु नारी का जो स्वरूप 'ध्रुवस्वामिनी' में आया है वह अधिक-से-अधिक करुण और हृदयस्पर्शी होने से सब से निराला है। मागन्धी के जीवन में नारी के जीवन का समाज-सापेक्ष उत्थान-पतन है, मल्लिका गौतम के आदर्शों की मूक मूर्ति है, कामायनी कल्पना से अनुप्राणित ऐतिहासिक रूप में मनोवैज्ञानिक कामिनी है और देवसेना

असफल प्रेम की वह त्यागमय कोमल साधना है जिसका अनुसरण कुछ बदले हुए रूप में कर के कोमा ध्रुवस्वामिनी की मूक पीड़ा की अभिव्यक्ति और इसीलिए उसके जीवन की पूर्ति भी है। कोमा के चरित्र की सार्थकता ही इसमें है कि वह ध्रुवस्वामिनी की पीड़ा और उसके कारण को व्यक्त करती है। ध्रुवस्वामिनी क्यों दुःखी है, यह नाटककार कोमा के चरित्र को सामने रख कर कहना चाहता है और नारी क्यों दुःखी है, वह ध्रुवस्वामिनी के चरित्र को सामने रख कर। अपने दुःख की और कोमा की सुख-शान्ति की गहराई मापती हुई ध्रुवस्वामिनी कोमा से कुछ जली-भुनी सी स्थिति में कहती है—

"प्रेम के नाम पर जलना चाहती हो तो तुम उस शव को ले जा कर जलो। जीवित रहने पर मालूम होता है, तुम्हें अधिक शीतलता मिल चुकी है। अवश्य तुम्हारा जीवन धन्य है।"

ध्रुवस्वामिनी की पीड़ा इन शब्दों में सामने तड़पती दिखाई देने लगती है। कोमा वह है जो नारी को होना चाहिए, जिसमें नारी-जीवन सार्थक और सुखी रह सकता है ध्रुवस्वामिनी वही न हो सकी यही उसकी पीड़ा है।[1]

चन्द्रगुप्त उसके जीवन में 'निरभ्र प्राची के बाल अरुण' के रूप में उस दिन पहले-पहले आया था जब समुद्रगुप्त की दिग्विजय में कन्योपदान के रूप में ध्रुवस्वामिनी को उसके पिता ने गुप्तकुल में दिया था और अपनी शिविका के साथ चामर-सज्जित अश्व पर चढ़ आते हुए चन्द्रगुप्त के विश्वासपूर्ण मुखमण्डल की प्रसन्नता को उसने देखा था।

रामगुप्त के यहाँ आरम्भ से ही वह सन्दिग्ध-विषम स्थितियों के बीच अपने को हिजड़ों और बौनों से घिरी हुई पाती है। यह सब होने पर भी वह प्रसन्न रह सकती थी यदि कभी उसे रामगुप्त का प्रेम प्राप्त हुआ होता। प्रेम प्राप्त होने की बात तो अलग, रामगुप्त के दर्शन भी उसके

---

१. भोलादत्त नौटियाल—'प्रसाद की नारी'।

लिए दुर्लभ हो रहे थे। घबराया हुआ प्रतिहारी ध्रुवस्वामिनी के सम्मुख आ कर जब कहता है—"भट्टारक इधर आए हैं क्या ?" तो व्यंग्य से मुस्कराती हुई ध्रुवस्वामिनी उत्तर देती है—

"मेरे अञ्चल में छिपे नहीं हैं। देखो किसी कुञ्ज मे ढूँढ़ो।" अपने भाग्य पर रोती हुई वह जब अपने को नहीं थाम सकती है तब व्यथा का बाँध व्यंग्य की सीमाओं को भी तोड़ कर फूटने लगता है—"मैंने तो कभी उनका मधुर सम्भाषण सुना ही नहीं। विलासिनियों के साथ मदिरा में उन्मत्त, उन्हें अपने आनन्द से अवकाश कहाँ ?"

दम घुटा देनेवाले ऐसे सज्जित अपमान के वातावरण में भी दासी के मुख से चन्द्रगुप्त के प्रेम का सङ्केत पाने से पहले ही ध्रुवस्वामिनी कह उठती है—"तो जाने दो, छिपी हुई बातों से मैं घबरा उठती हूँ।" और रामगुप्त के विलासी जीवन से उपेक्षित ध्रुवस्वामिनी की स्मृति के सामने जब वैषम्य खड़ा कर देने वाला चन्द्रगुप्त का ओजस्वी तेजोमय मुखमण्डल आता है तो वह सोचने लगती है—"कुमार की स्निग्ध, सरल और सुन्दर मूर्ति को देख कर कोई भी प्रेम से पुलकित हो सकता है।"

'एक पीड़ित की प्रार्थना' वह सुनती है किन्तु जो 'अपने ही प्राणों का मूल्य नहीं समझ पाती' वह विषम स्थिति में विश्वास छोड़ते हुए अपने प्रेम को अपने ही में समेट कर—"वह निरभ्र-प्राची का बाल अरुण! आह! राजचक्र सब को पीसता है, पिसने दो; हम निस्सहायों को और दुर्बलो को पिसने दो।" कह सकने के अतिरिक्त कर ही क्या सकती है ?"

किन्तु जब शिखरस्वामी रामगुप्त के इशारे से ध्रुवस्वामिनी को शकपति को देने की बात सामने रखता है तो चोट खाई हुई सर्पिणी की भाँति वह क्रोध से तिलमिला कर पूछ बैठती है—

"मै जानना चाहती हूँ कि किसने सुख-दुःख में मेरा साथ न छोड़ने की प्रतिज्ञा अग्निवेदी के सामने की है ?"

किन्तु रामगुप्त जब साफ कतरा जाता है तो ध्रुवस्वामिनी शिखर-स्वामी से कुछ कटुता के साथ कहती है—

"आर्य समुद्रगुप्त के पुत्र को पहचानने में तुमने भूल तो नहीं की? सिंहासन पर भ्रम से किसी दूसरे को तो नहीं बिठा दिया!" पर इसपर भी रामगुप्त की बुद्धि ठिकाने नहीं आती। क्लीबों की भाँति वह 'क्या? क्या?? क्या???, ही जब करने रह जाता है तब अपने पत्नीत्व के अधिकार के भरोसे पर ध्रुवस्वामिनी कहने लगती है—

"पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशु-सम्पत्ति समझ कर उनपर अत्याचार करने का अभ्यास बना लिया है, वह मेरे साथ नहीं चल सकता। यदि तुम मेरी रक्षा नहीं कर सकते, अपने कुल की मर्यादा—नारी—का गौरव नहीं बचा सकते, तो मुझे बेच भी नहीं सकते।"

पर जिसने केवल रूप पर मुग्ध हो कर ही ध्रुवस्वामिनी के साथ विवाह के मन्त्र पढ़वाए थे और घर में रख कर पत्नी की तरह उसे कभी देखा ही नहीं, उस कापुरुष पर इन बातों का भी कुछ असर नहीं होता। तब भी नहीं जब घुटने टेक कर अपने स्त्रीत्व की रक्षा की भीख माँगती हुई ध्रुवस्वामिनी कहती है—

"देखिए, मेरी ओर देखिए। मेरा स्त्रीत्व क्या इतने का भी अधिकारी नहीं कि अपने को स्वामी समझने वाला पुरुष उसके लिए प्राण का पण लगा सके।"

उलटे उसके मुख से पाषाण से भी धिक्कार दिला देने वाले शब्द निकलते हैं—

"तुम सुन्दर हो, ओह, कितनी सुन्दर! किन्तु सोने की कटार पर मुग्ध हो कर उसे कोई अपने हृदय में डुबो नहीं सकता।"

जब सब प्रकार से असफल हो कर दुःखी ध्रुवस्वामिनी अपने जीवन का अन्त करने को उद्यत होती है तो रामगुप्त की वाणी नीचता के गहरे गर्त से चीख उठती है—

"तुम्हारे मर जाने पर बर्बर शकराज के पास किसे भेजा जायगा।"

इस घोर पतन और निराशा के अन्धकार में सहसा ही चन्द्रगुप्त का प्रेममय आलोक होता है। जो आत्म-गौरव, कुल-मर्यादा और प्रेम के लिए अपने प्राणों पर खेल जाने के लिए तैयार है। ध्रुवस्वामिनी नहीं चाहती कि उसके लिए इतना बड़ा त्याग किया जाय। किन्तु चन्द्रगुप्त नहीं मानता; वह स्पष्ट शब्दों में कहता है—

"यह नहीं हो सकता। महादेवि! जिस मर्यादा के लिए—जिस महत्त्व को स्थिर रखने के लिए—मैंने राजदंड ग्रहण न करके अपना मिला हुआ अधिकार छोड़ दिया; उसका यह अपमान! मेरे जीवित रहते आर्य समुद्रगुप्त के स्वर्गीय गर्व को इस तरह पददलित न होना पड़ेगा। और भी एक बात है। मेरे हृदय के अंधकार में प्रथम किरण-सी आ कर जिसने अज्ञात भाव से अपना मधुर आलोक ढाल दिया था, उसको भी मैंने केवल इसीलिए भूलने का प्रयत्न किया—" और अंत में वह अपने कुल के गौरव की वीरता से रक्षा कर ही लेता है।

आत्महत्या करने का मनुष्य को अधिकार नहीं, इस तथ्य पर प्रसाद ने बड़े सुन्दर शब्दों में चन्द्रगुप्त से प्रकाश डलवाया है। वह कहता है—"जीवन विश्व की सम्पत्ति है। प्रमाद से, क्षणिक आवेश से, या दुःख की कठिनाइयों से, उसे नष्ट करना ठीक तो नहीं।"

प्रसाद ने नारी को घर के घेरे में ही सिमटे रहने की संकीर्णता नहीं दिखलाई है। कार्नेलिया, मल्लिका, देवसेना जीवन के व्यापक क्षेत्र में कार्य करती हुई दिखलाई गई हैं। किन्तु घर से सम्बन्ध-विच्छेद कर जहाँ नारी-जीवन की क्रूर विभीषिका में समानाधिकार की प्रतिद्वन्द्विता को ले महत्त्वाकांक्षिणी बन कर आई है वहाँ प्रसाद ने उसकी दुर्गति दिखला कर यह अवश्य संकेत दिया है कि सुधार का आरम्भ घर से ही होता है। पुरुष के संरक्षण में रह घर में सुख-शांति और माधुर्य की सृष्टि करते हुए जीवन बिताना नारी की (कम-से-कम भारतीय नारी की) पहली आवश्यकता है। संरक्षण का पूरा ध्यान प्रसाद ने रक्खा है। 'प्रसाद सदैव सजग रहे हैं कि वह छत्रछाया, जिसके संरक्षण में उनकी

नारी निवास करती है, प्रबल तथा शीतल हो। उसमें नारी की रक्षा करने का साहस हो। प्राणों पर खेल कर वह नारी गौरव तथा पतिव्रता की रक्षा करे; यदि वह ऐसा नहीं कर सकता तो चाहे पति ही क्यों न हो नारी को उसका त्याग कर देने का अधिकार है। इस सिद्धान्त का सुन्दर विवेचन प्रसाद ने अपने 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक मे किया है। जहाँ रामगुप्त की विवाहिता पत्नी, यद्यपि यह विवाह केवल लौकिक रीति से ही हुआ है, आत्मा तथा शरीर का इससे कुछ भी सम्बन्ध नहीं, अपने कायर पति द्वारा सदर्प शत्रु के भोग-विलास की सामग्री बनने भेज दी जाती है। उस समय अपना सब आत्मगौरव तथा मान-अपमान भूल कर ध्रुवस्वामिनी किस कातरतापूर्वक स्वामी के चरणों में लोट-लोट कर अपनी रक्षा की भीख माँगती है, अपने नारीत्व का प्रतिदान चाहती है, अपनी पवित्रता की रक्षा की प्रार्थना करती है, परन्तु कायर रामगुप्त का हृदय नहीं पसीजता। परन्तु चन्द्रगुप्त यह सब नहीं देख सकता, और प्राणों पर खेल कर वह, नारी-सुलभ पवित्रता तथा गौरव की रक्षा करता है; और ध्रुवस्वामिनी कायर रामगुप्त के जीते-जी, धर्माचार्यों तथा परिषद् की सम्मति से अपने रक्षक, आराध्यदेव को वरण करती है।"[1]

प्रेम प्रसाद की रचनाओं का सुन्दर-से-सुन्दर और कोमल-से-कोमल अङ्ग है। इसकी संयमपूर्ण तपस्या से ही प्रसाद की रचनाएँ अधिक-से-अधिक मार्मिक हुई हैं। स्कन्दगुप्त की देवसेना हमारे हृदय पर इसी लिए एक अमिट छाप छोड़ती है कि उसने अपने प्रेम को त्याग मे परिणत कर दिया। अपने को भस्मीभूत कर विश्व को अमृत दिया।

देवसेना में प्रेम की तपस्या मिलती है, पर पथ-भूला प्रेम ध्रुव-स्वामिनी की ही विशेषता है। ध्रुवस्वामिनी के अतिरिक्त और कहीं भी प्रसाद की रचनाओं में वह नहीं मिलता।

नारियाँ तो प्रसाद ने कई बनाईं पर ध्रुवस्वामिनी उन सब से भिन्न

---

१. श्री भागीरथीचन्द, बी० ए०, डी० टी०—'नाटककार प्रसाद'।

है। नारी का एक ही स्वर्ग है—और वह है पुरुष के व्यक्तित्व में अपने व्यक्तित्व को डुबोकर उसका अवलम्बन बन रहना। कामायनी में श्रद्धा ने अपने को मनु के हाथों में सौंपते हुए कहा था—

"दया, माया, ममता लो आज
मधुरिमा लो अगाध विश्वास,
हमारा हृदय रत्न निधि स्वच्छ
तुम्हारे लिए खुला है आज।
बनो संसृति के मूल रहस्य
तुम्हीं से फैलेगी वह बेल।"

यह नारी का अर्थ है और इसी में उसका कल्याण है जिसकी परिभाषा अन्यत्र पुरुष के 'कुतूहल और उसके अभावों को परिपूर्ण करने का उष्ण प्रयत्न और शीतल उपचार' के रूप में प्रसाद ने की है। ध्रुवस्वामिनी इस अर्थ में पूर्ण नारी बनने में पहली बार समर्थ नहीं हो पाई। इसीलिए वह अपनी सम्पूर्णता के लिए छटपटाती दिखाई देती है। उसकी धुन अपनी और सहेलियों से बिलकुल निराली है। जिस परिपूर्णता को पा कर वे अपनी यात्रा शुरू करती हैं, वही ध्रुवस्वामिनी की मंजिल बन कर रह जाती है।[१]

इतना विषाद होते हुए भी ध्रुवस्वामिनी मर नहीं जाती, उसमें प्राण हैं, प्यास है और परिस्थितियों से भिड़ने की शक्ति भी। नारी हो कर वह नारी-जीवन की बेबसियों को भक्त तो बन चुकी है। पर एक ही मार से घायल हो कर बैठ जाने वाली नारियों में वह नहीं है। वह विद्रोह किया चाहती है 'पराधीनता की एक परम्परा-सी उनकी चेतना में न जाने कब से घुस गई।' और उनका हृदय वह चुपचाप सहन करने के लिए तैयार नहीं—'सीधा तना हुआ, अपने प्रभुत्व की साकार कठोरता—अभ्रभेदी शिखर! और इन क्षुद्र निरीह लताओं और पौधों को उसके चरण में

१. भोलादत्त नौटियाल—'प्रसाद की नारी'।

अजातशत्रु

(रामकृष्ण शिलीमुख)

'अजातशत्रु' की कथा चार राज्यो के पारस्परिक सम्बन्धो और उनकी व्यक्तिगत परिस्थितियों से संकीर्ण है। इनमें मगध प्रधान है। कोशल उसका साला है और कौशाम्बी दामाद। काशी का राज्य मगध का ही एक प्रान्त है।

घटनाओ का उदय मगध से होता है। इसके अनुपात मे कोशल और कौशाम्बी में भी कुछ घटनाएँ देखने में आती हैं। ये घटनाएँ मगध की घटनाओं से स्वाधीन हैं—मगध की घटनाओं से अभी उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। मगध में राजकुमार अजातशत्रु विद्रोह करता है, कोशल मे विरुद्धक; और कौशाम्बी मे पद्मावती निरादृत और पुनः सम्मानित होती है। कौशाम्बी की छोटी रानी मागन्धी के जीवन-चरित की भी एक अवस्था समाप्त हो जाती है। यही प्रथम अङ्क का सारांश है। तीनों राज्यों की इन स्वाधीन परिस्थितियो में पाठक को अभी नाटक के उद्देश्य का पता नहीं दिया जाता।

दूसरा अङ्क घोर संघर्ष और उत्तेजना का है। इसमें भिन्न-भिन्न राज्यो की परिस्थितियो का सम्मिलन होता है। एक ओर निर्वासित विरुद्धक मगध के नवीन सम्राट् अजातशत्रु को सहयोग का निमंत्रण भेजता है और दूसरी ओर मागन्धी (अब काशी की प्रसिद्ध वारविलासिनी श्यामा) से उसका समागम होता है। काशी की परिस्थिति भी हमारे सामने आती है। कोशल का सेनापति बन्धुल वहाँ का सामन्त बना कर भेजा गया है और विरुद्धक छल से उसकी हत्या करता है। परिणाम में विरुद्धक बन्दी होता है, परन्तु श्यामा एक दूसरे व्यक्ति (समुद्रदत्त) को उसके स्थान में प्राणदण्ड पाने के लिए गुप्त रूप से भेज कर विरुद्धक

की रक्षा कर लेती है। उधर हमको सूचना मिलती है कि बन्धुल की हत्या से लाभ उठा कर अजातशत्रु ने विद्रोही काशी प्रान्त को हस्तगत किया और अब वह कोशल और कौशाम्बी की सम्मिलित सेनाओं का विरोध करने के लिए तैयार हो रहा है। विरुद्धक उसकी सहायता करेगा। उसने कोशल के नए सेनापति को अपनी ओर मिला लिया है।

इन घटनाओं के अतिरिक्त यत्र-तत्र उनकी प्रयोजक परिस्थितियों की सूचना भी है, जो पहले और दूसरे अङ्क में विभाजित है। राज्य-शासन से बिम्बसार के अलग हो जाने के कारण ही कोशल का दिया हुआ काशी-प्रान्त मगध से छीन लिया गया। यथार्थ मे यह घटना ही दूसरे अङ्क की समस्त घटनाओं का मूल सूत्र है और नाटक के भिन्न भिन्न प्रधान चरित्रों को एक दूसरे के सम्पर्क में लाती है। दूसरे अङ्क की घटनाओ मे कौशाम्बी का कोई भाग नहीं है। केवल देवदत्त की एक उक्ति मे यह सूचना मिलती है कि कौशाम्बी की सेना कोशल की सेना के साथ मगध पर आक्रमण करने आ रही है। अप्रासंगिक घटनाओ मे एक घटना विरुद्धक द्वारा श्यामा की हत्या के प्रयत्न की और दूसरी मल्लिका के यहाँ घायल प्रसेनजित की शुश्रूषा किए जाने की है।

तीसरा अङ्क संघर्ष और परिस्थितियो के उतार का है। प्रथम दृश्य में मालूम होता है कि कोशल के साथ युद्ध मे अजातशत्रु बन्दी हुआ है। वासवी उसको छुड़ाने की चेष्टा की प्रतिज्ञा करती है। बन्दीगृह में अजातशत्रु के साथ कोशलराज की पुत्री वाजिरा की गुप्त भेंट दिखाई गई है। दोनों एक दूसरे को प्रेम करने लगे हैं। वासवी के माध्यस्थ्य से अजातशत्रु बंधन-मुक्त कर दिया जाता है और वाजिरा के साथ उसका विवाह सम्पादित होता है। विरुद्धक भी किसी प्रकार रुग्ण हो कर मल्लिका की सेवा से शरीर और हृदय की निर्विकारता प्राप्त करता है। मल्लिका उसे प्रसेनजित से क्षमा भी करा देती है और विरुद्धक फिर यौवराज्य लाभ करता है। मागन्धी भी अब आम्रपाली हो गई है और उसकी जीवनगति में शान्तता और संतोष आ जाता है। अजातशत्रु के

पुत्र हुआ है। निर्विकार हो कर वह अपने पिता से क्षमा माँगता है। छलना का वासवी और पद्मावती के साथ स्नेह-सम्बन्ध स्थापित होता है।

यही 'अजातशत्रु' की वस्तु है। वस्तु की घटनाओं के संगठन में हम उनके समाहार की चेष्टा पाते हैं। भिन्न-भिन्न स्थलों की भिन्न भिन्न असम्बद्ध घटनाओं को एक सूत्र द्वारा बाँधने में लेखक को कुछ अंश तक सफलता भी हुई है। प्रथम अङ्क की स्वतंत्र, और इस प्रकार नाटकीय दृष्टि से किञ्चित् निरुद्देश्य, घटनाएं दूसरे दृश्य में एक उद्देश्य की ओर अग्रसर होती दिखाई देती हैं। परन्तु तृतीय अङ्क में उनकी एकोद्दिष्टता स्थिर नहीं रह सकी है। इसका कारण यह है कि प्रथम अङ्क के भिन्न भिन्न घटना स्रोतों को, दूसरे अङ्क में एक भाग में मिला कर भी, तीसरे अङ्क में फिर अलग अलग कर दिया गया है। एक ओर मगध का परिणाम दिखाया गया है, दूसरी ओर कोशल का। कौशाम्बी का कोई परिणाम नहीं है। यह तो अच्छा है। परन्तु हम देखते हैं कि कौशाम्बी का कोई विशेष उपयोग भी नहीं है। कौशाम्बी के दर्शन वस्तुविकास वाले दूसरे अङ्क में भी नहीं होते। एक प्रकार से प्रथम अङ्क में ही उसका परिणाम भी हम देख लेते हैं। वस्तु के प्रति कौशाम्बी का उत्तरदायित्व इतना ही है कि उसकी छोटी रानी के द्वारा विरुद्धक के चरित्र का कुछ विकास होता है जिसकी क्रियाशीलता का मगध की परिस्थितियों पर भी प्रभाव पड़ता है।

कई कई राज्यों की अलग अलग बहुत सी परिस्थितियाँ वस्तु में सम्मिलित करने के कारण लेखक को उनकी पारस्परिक योजना में कठिनाई अवश्य हुई है। यद्यपि, जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, उन्होंने उनकी योजना और समस्त वस्तु के विभाग में अपने अङ्कों का एक सिद्धान्त रक्खा है, तथापि उस योजना में नियम और व्यवस्था नहीं है। प्रथम अङ्क में परिचय अधिक और व्यापार शिथिल होने के कारण, दूसरे अङ्क में घटनाएँ प्रायः एक दूसरी के ऊपर लद गई हैं। इसके अतिरिक्त घटनाओं की अतिशय अद्भुतता के कारण कितनी ही

परिस्थितियों का समाधान भी नहीं हो पाता। उदाहरण के लिए, दूसरे अङ्क के पाँचवें दृश्य में मल्लिका की उक्ति से हमें मालूम होता है कि उसके पति की हत्या हो गई है। हम यह भी जानते हैं कि इस हत्या के मूल मे प्रसेनजित का षड्यंत्र है। परन्तु उसी दृश्य के अन्त में प्रसेनजित मल्लिका के सामने आ कर अपना अपराध स्वीकार करता है और उससे क्षमा माँगता है। नहीं, उसके भीतर अपने कृत्य के लिए भयानक ग्लानि और अन्तर्वेदना हो रही है। वह कहता है।

"मुझे धिक्कार दो—मुझे शाप दो—मल्लिका! तुम्हारे मुख-मण्डल पर तो ईर्ष्या और प्रतिहिंसा का चिह्न भी नहीं है। जो तुम्हारी इच्छा हो, वह करो, मैं उसे पूर्ण करूँगा—"

यहाँ हमको उस रहस्य का पता नहीं चलता जिसके कारण प्रसेनजित मे इतना आकस्मिक परिवर्तन हो गया है। वास्तव में हम इस आकस्मिकता को देख कर कुछ स्तम्भित से हो जाते हैं। इसी प्रकार तीसरे अंक में हमको यह नहीं मालूम होता कि किन परिस्थितियों के वशीभूत हो कर विरुद्धक मल्लिका की शुश्रूषा का अधिकारी हुआ। हमको यह भी नहीं मालूम कि उसको क्या कष्ट था। अब तो वह स्वस्थ है और टहलते टहलते मल्लिका की कुटी से 'इतनी दूर' तक चला आया है। दोनों की बातचीत मे अवश्य एक जगह थोड़ी सी सूचना मिलती है कि मल्लिका उसे रणक्षेत्र से उठा लाई थी। परन्तु यह सूचना हमें देर में मिलती है—उस समय जब कि दृश्य के आरम्भ में हमारी जिज्ञासा को आघात पहुँच चुकता है।

घटनाओं की द्रुतता में पाठक की आकांक्षा और जिज्ञासा को कहीं-कहीं परिपक्व नहीं होने दिया गया है। द्वितीय अंक के तृतीय दृश्य में हमें, अन्त में, प्रसेनजित के षड्यंत्र और बन्धुल के संकट की सूचना मिलती है, और चतुर्थ दृश्य की पहली ही उक्ति में हमें बतलाया जाता है कि बन्धुल की हत्या हो गई। इसी भाँति तीसरे अंक के छठे दृश्य की अन्तिम उक्ति मे वसन्तक श्यामा के नए परिवर्तन की सूचना देता

है, और सातवाँ दृश्य आरम्भ होते ही हम श्यामा को उसके परिवर्तित रूप में देख लेते हैं। वसन्तक की उक्ति का क्या अभिप्राय है? यह कि श्यामा का परिवर्तन सहसा हमारे सामने न आए? परन्तु उसकी सूचना से परिवर्तन की आकस्मिकता तो कम नहीं होती। इसके विपरीत, वसन्तक का भाषण ही दोष-मोचन की एक चेष्टा सा मालूम होता है जो आगामी दृश्य के प्रभाव को और भी विकृत कर देता है।

दृश्यो और परिस्थितियो की इस उच्छृंखल और नियमहीन योजना में वस्तु की जटिलता के अतिरिक्त एक और प्रवृत्ति का भी उत्तरदायित्व है। प्रसाद ने अपने आदर्श के अनुसरण में बहुत से पात्रों को प्रधान बना दिया है और उन सब का सुखान्त परिणाम दिखाने की चेष्टा की है। जब नाटक का विषय अजातशत्रु है तो क्या आवश्यकता थी कि प्रसेनजित, विरुद्धक, छलना, मागन्धी, मल्लिका, पद्मावती, सब के लिए पाठक की उत्सुकता को उत्तेजित किया जाता और उनकी अन्तिम परिणति तक की तमाम अवस्थाओं को दिखाया जाता? नाटक के अन्तिम तीन दृश्य, हम देखते हैं, मागन्धी छलना और अजातशत्रु के आदर्श परिवर्तनो को दिखाने के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं और तीनो उपसंहार के ढंग के हैं। उनसे पिछला, छठा दृश्य, प्रवेशक के ढग का है और चौथा तथा पाँचवाँ विरुद्धक के परिवर्तन और उसकी सुखान्तता से सम्बन्ध रखते हैं। विषय का इतना अधिक विस्तार कर लेने पर घटनाओं की विरलता के अतिरिक्त और क्या परिणाम हो सकता है? दूसरा अङ्क कष्ट झेलता है। उसे अपनी सीमा का ध्यान रखना है, और अपने भार का भी। फलतः उलट-पुलट वह परिस्थितियो को ढकेलता चलता है। जिन्हें वह नहीं सँभाल सकता वे तीसरे अङ्क के माथे पड़ती हैं।

वस्तु-योजना में प्रसाद को कुछ कठिनता इसलिए भी पड़ी है कि उन्होंने इतिहास के प्रति अपने कर्त्तव्य को बहुत महत्त्व दे दिया है और कल्पना के हस्तक्षेप को अलग रक्खा है। विकासमान बहुत सी

ऐतिहासिक घटनाओं के विवरण के लिए उनकी परिचालक ऐतिहासिक परिस्थितियों की गणना की आवश्यकता समझी गई, और ऐसी परिस्थितियों की संख्या अधिक होने के कारण या तो उनकी सूचनामात्र पर संतोष करना पड़ा या, अन्ततः विवश हो कर उनको छोड़ देना पड़ा। इसी इतिहासनिष्ठा के फलस्वरूप 'अजातशत्रु' में सूचनात्मक और व्यापारविहीन दृश्यों की भी कुछ अधिकता हो गई है। समस्त नाटक के अट्ठाईस दृश्यों में नौ या दस दृश्य इस प्रकार के हैं। पहले अंक के नौ दृश्यों मे साढ़े चार दृश्य ऐसे हैं। नाटक पढ़ते समय इन दृश्यों का पता लग जाता है। उदाहरण देने के लिए हम प्रथम अंक के चतुर्थ दृश्य का संकेत कर सकते हैं जिसमे व्यापार नाममात्र को भी नहीं है।

अतएव, सारांश रूप मे यह कहा जा सकता है कि लेखक की इतिहास-निष्ठा और वस्तु की अतिजटिलता के कारण घटनावली की व्यवस्था बहुत सुन्दर नहीं हो सकी है। वास्तव में 'अजातशत्रु' का प्लाट एक काफी बड़े उपन्यास का प्लॉट हो सकता था। परन्तु यदि पूरी वस्तु का विचार न कर उसके अलग-अलग अंगों पर विचार किया जाए तो, सूचनात्मक दृश्यों को छोड़ कर, हमें उसमे नाटकीय कुशलता के अधिकतर दर्शन होंगे। पहले अंक के सात, आठ, नौ, ये तीनों दृश्य पठन की दृष्टि से भी और अभिनय की दृष्टि से भी दोषरहित ही नहीं, कलापूर्ण भी हैं—प्रसेनजित की सभा वाला सातवाँ दृश्य तो विशेष रूप से। दूसरा अंक तो संघर्ष का है। इसलिए उसमें, जहाँ सूचना या परिस्थिति की आकस्मिकता नहीं है वहाँ सर्वत्र ही दृश्य सुन्दर और मनोहर हैं। बंधुल और विरुद्धक की, या विरुद्धक और श्यामा की, भेंट परम नाटकीय है। श्यामा के गृह में समुद्रदत्त की प्रतारणा वर्तमान और आगामी व्यापार की व्यञ्जक होने के साथ साथ और भी नाट्योपकरणों से विभूषित है। दृश्य के अन्तर्गत पाठक को इस बात का आभास मिल जाता है कि श्यामा समुद्रदत्त को विरुद्धक का स्थानीय बना कर

दण्डनायक के पास भेजना चाहती है। समुद्रदत्त इस बात को नहीं जानता। परन्तु जिस समय श्यामा छिपकर रत्नों की थैली दण्डनायक के पास पहुँचाने की उससे प्रार्थना करती है, तो वह वेश्या के विनोद के लिए उसमें स्वयं ही कह उठता है—"भला यह कैसी बात—सुन्दरी श्यामा, तुम मेरी हँसी उड़ाती हो। तुम्हारे लिए यह प्राण प्रस्तुत है। बात इतनी ही है कि वह मुझे पहचानता है"। इसके उपरान्त, श्यामा का अनुरोध रखने के लिए, वह अपना वेश-परिवर्तन करता और मोहरों की थैली ले कर अकड़ता हुआ जाता है। उधर, उसके चले जाने पर, श्यामा कहती है—"जाओ, बलि के बकरे, जाओ। फिर न आना। मेरा शैलेन्द्र, मेरा प्यारा शैलेन्द्र!" नाटकीय परिभाषा में इस प्रकार के प्रयोग को, जिसमें पात्र अपने दुर्भाग्य को न जानता हुआ कार्य में अग्रसर होता है परन्तु पाठक या दर्शक उसके परिणाम को समझते हैं, 'नाट्यापह्नुति' कहते हैं। इसके द्वारा दृश्य के प्रभाव में एक प्रकार का गुप्त विनोद सा आ जाता है और उसका प्रभाव अधिक तीव्र हो जाता है। पाठक को उसमें वैसे ही आनन्द की अनुभूति होती है जैसे किसी मित्र को दावत दे कर मज़ाक में मिठाई की थाली में साथ-साथ नीम की बर्फी खिला देने से प्राप्त हो सकती है।

वस्तु की अतिशय जटिलता का प्रभाव नाटक के पात्रों पर भी पड़ा है। हम देख चुके हैं कि 'अजातशत्रु' में बहुत से पात्रों ने प्रधानता ग्रहण कर ली है जिसके कारण वे सब विशकलित चित्रण के अधिकारी हो गए हैं। इससे सबसे पहली कठिनता जो उपस्थित होती है वह नेता के निर्धारण की है। नेता वह है जिसके प्रति हमारी सब से अधिक सहानुभूति हो और जिसकी परिणति के लिये हम सबसे अधिक जिज्ञासु हों। भारतीय शास्त्र के अनुसार नेता फलस्वाम्य का अधिकारी होता है। वह तमाम घटनावली का सूत्र होता है—तमाम वस्तु का आधार होता है। फलस्वामी का निश्चय करने के लिये हमको 'अजातशत्रु' में फल को ढूँढना होगा। लेखक के उद्देश्य को देखते हुए मालूम होता है कि

'अजातशत्रु' मे असत्प्रवृत्तियों से ऊपर सुप्रवृत्तियों की विजय ही नाटक का फल है। परन्तु इसको प्राप्त करने के लिए एक नहीं, अनेक पात्र चेष्टावान हैं और वे सब इसको प्राप्त करते हैं। सहानुभूति की दृष्टि से हम देखते हैं कि अजातशत्रु ही हमको सबसे अधिक आकर्षित करने का दावा नहीं कर सकता। बिम्बसार भी एक उम्मेदवार है। बल्कि बिम्बसार मे एक विशेषता है। उसका फल दूसरे पात्रों के फल से भिन्न और निराला है। वह अपने हाथ से निकले हुए पुत्र और छोटी रानी को अन्त मे फिर पा लेता है, जिनके कृत्यों से विचलित हो कर वह सदा दार्शनिक चिन्ताएँ करता रहता है। और जब हम एकसूत्रता का विचार करते हैं तो गौतम की मूर्ति हमारे सामने आ उपस्थित होती है। समस्त नाटक मे जिस विचारधारा का प्रवाह है, जो नाटक के उद्देश्य को निर्धारित करती है, गौतम उसका प्राकृत रूप है। उसकी करुणा की अन्त मे विजय होती है, सब कोई उसके प्रभाव को स्वीकार करते हैं। नाटक का अन्तिम दृश्य भी गौतम के बिना समाप्त नहीं होता। गौतम 'अभय-हाथ उठाते हैं'; तभी यवनिका-पतन होता है। हम तो समझते हैं कि एक रूप से नाटक की आत्मा होने के कारण और अन्तिम दृश्य में केवल अभय-हाथ उठाने के लिए प्रवेश करने के कारण गौतम ही 'अजातशत्रु' का नायक है, अजातशत्रु नहीं। अजातशत्रु का फलस्वाम्य तो दूसरे पात्रो के लिए भी साधारण है, परन्तु गौतम की जैसी विजय होती है वैसी और किसी की नहीं होती।

प्रधान पात्रो मे जिनकी सब से अधिक क्रियाशीलता देखने में आती है वे हैं—अजातशत्रु, विरुद्धक, छलना, मागन्धी शक्तिमती और वासवी। अन्य प्रधान परन्तु निर्व्यापार या कम व्यापार वाले पात्रों में बिम्बसार गौतम, प्रसेनजित, मल्लिका और पद्मावती हैं। चरित्र-विकास की दृष्टि से प्रथम श्रेणी वाले पात्र ही हमारे ध्यान को विशेष रूप से आकर्षित करते हैं।

अन्तिम परिणति को छोड़ कर अन्यत्र, चरित्र-विकास मे प्रसाद'

की पटुता को हम स्वीकार कर चुके हैं। उनके चरित्र-चित्रण में संस्कार और परिस्थिति का मंजुल योग रहता है—मूल संस्कार के आधार को वह कभी नहीं भूलते। केवल अन्तिम परिणति में वह सब चरित्रों को यथाशक्ति सुधार देते हैं और इस सुधार में प्रायः किसी महात्मा व्यक्ति का हाथ रहता है। हम कुछ मुख्य चरित्रों की विवेचना करेंगे।

नाटक के नाम के प्रभाव से अजातशत्रु कथा का नायक है। हम सब से पहले इसे कुमार कुणीक के रूप में देखते हैं। कुमार कुणीक केवल अपनी कुछ मूल वृत्तियों तथा कथारम्भ की परिस्थितियों का सामान्य परिचय देने के लिए हमारे सामने आता है। इसके बाद दूसरे अंक में हम उसे राजसिंहासन पर ही देखते हैं। कुमार के संस्कार क्रूर हैं। राजमाता की शिक्षा में उसने उसके भी कुछ गुण ग्रहण किए हैं। उसमें दुराग्रह, अहंभाव और उद्दण्डता है। उसकी जो कुछ भी ममता देखने में आती है वह या तो अपनी माता के लिए है या अपने दुर्बल सहचरों के लिए। अपनी बड़ी बहन पद्मावती की वह अवज्ञा करता है और उद्धतभाव से कहता है—'यह पद्मा बार-बार मुझे अपदस्थ किया चाहती है।' अपने पिता के प्रति उसका कोई आदरभाव तो है ही नहीं—वह उनके साथ शिष्टाचरण भी नहीं कर सकता। गौतम जब उससे पूछता है कि 'तुम राज्य का कार्य चला सकोगे?' तो वह अपने पिता के सामने ही मुस्तैदी से उत्तर देता है—'क्यों नहीं'।

यह कुणीक जब राज्यसिंहासन पर आता है तो अपने चरित्र के अनुरूप ही कार्य करता है। बिम्बसार और वासवी एक रूप में नजरबन्द से हैं। इसका परिणाम यह होता है कि काशी का प्रान्त मगध की वश्यता त्याग देता है और अजातशत्रु को वासवी के प्रति अपनी कटुता का उद्गार करने का अवसर मिलता है। वह कहता है—'इसमें हमारी विमाता का व्यंगस्वर है'। यह अहंभाव का एक रूप है। अहंभाव के दूसरे रूप में वह कहता है—'इसका प्रतिकार आवश्यक है। इस प्रकार अजातशत्रु को कोई अपदस्थ नहीं कर सकता।'

पहले में मत्सरता है, दूसरे में दर्प और प्रतिद्रोह। गौतम का प्रतिद्वन्द्वी, षड्यंत्रकारी देवदत्त उसका आदेशक है।

सम्राट् अजातशत्रु की मूलवृत्तियों के इस आरम्भिक विकास के बाद अब हम जटिल संघर्ष में उसकी तत्परता देखते हैं। काशी को हस्तगत करने के लिए उसने विरुद्धक के साथ षड्यंत्र किया और जैसा आगे चल कर हमको मल्लिका की उक्ति से पता चलता है, बंधुल के हत्या-काण्ड में प्रेरणा पहुँचाई। उसकी वृत्तियाँ अपनी चरमता को पहुँच गई हैं। इस चरमता का उद्गार प्रत्यक्ष रूप में हमारे सामने उस समय होता है जब अजातशत्रु प्रसेनजित को खोजता हुआ मल्लिका की कुटी में पहुँचता है। काशी प्रान्त को वापिस ले लेने के कारण प्रसेनजित अब उसका शत्रु है। अजातशत्रु के पहुँचने से कुछ क्षण पहले ही प्रसेन-जित मल्लिका की कुटी से चला गया है। अजात उसको न पा कर अपनी भयंकर प्रतिहिंसा के आवेग में तड़पता हुआ कहता है—"कहाँ गया? मेरे क्रोध का कन्दुक, मेरी क्रूरता का खिलौना, कहाँ गया!" यदि हमने अजातशत्रु को पहले कभी भी न देखा हो, तो भी उसका यह प्रत्यक्ष उसके सम्पूर्ण चरित्र को हमारे सामने व्यक्त कर देने के लिए पर्याप्त है। परन्तु प्रसाद की चित्रण-योग्यता के द्वारा हम समय समय पर पहले भी अजातशत्रु से मिलते रहे हैं और इस समय उसको पूर्ण परिचित की भाँति देखते हैं।

इसके बाद आवर्तन आरम्भ होता है। लेखक ने मल्लिका की इस भेंट को ही उसका साधन बनाया है और इसमें व्यक्तित्व के प्रभाव वाली सामान्य त्रुटि आ गई है। मल्लिका की प्रथम शान्त उक्ति को सुनते ही अजातशत्रु 'मुग्ध-सा बैठ जाता है' और उसकी दूसरी उक्ति समाप्त होते न होते वह कहने लगता है—"देवी आप कौन हैं? हृदय नम्र हो कर आप ही आप प्रणाम करने को झुक रहा है।" परन्तु अजातशत्रु के चरित्र में इतनी-सी आकस्मिकता को छोड़ कर, अन्य कोई त्रुटि नहीं है। प्रत्युत लेखक ने इस घटना को उसके परिवर्तन की प्रथम अवस्था बना कर

आगे स्वाभाविकता से ही काम लिया है। प्रसेनजित की भाँति, अजातशत्रु इस प्रथम परिस्थिति में ही सहसा परिवर्तित नहीं हो गया है। वह केवल मल्लिका के प्रभाव को अपने साथ ले जाता है जिसके कारण उसकी सदसत् प्रवृत्तियों में द्वन्द्व उपस्थित होता है। मल्लिका के प्रभाव से वह युद्ध से विरत हो गया है सही, परन्तु छलना की फटकारो के सामने अभी वह ठहर नहीं सकता। इसलिए, कोशल की सेनाओं का सामना करने के लिए उसे स्वीकृति देनी पड़ती है, यद्यपि उसके लिए अब वह अपनी माता के सामने भी, पूर्ण रूप से उत्साहित नहीं हो पाता। वह केवल कहता है—'जैसी माता की आज्ञा।'

परिवर्तन के विकास की तीसरी अवस्था में अजातशत्रु प्रेमी दिखाया गया है, जिससे उसकी कोमल वृत्तियों को उत्तेजना मिलती है, और चौथी में, जो तीसरी के तत्काल बाद ही उपस्थित होती है, उसकी विमाता उसे बंधनमुक्त कर अपने अङ्क मे भर लेती है। अन्तिम अवस्था वह है जब अजातशत्रु स्वयं पुत्रवान् होता है और पिता के स्नेह का मूल्य समझने लगता है। वास्तव में अजातशत्रु का चरित्र-चित्रण बडा सफल हुआ है। जो थोडी सी त्रुटि उसमे दिखाई देती है वह शायद लेखक की कमजोरी नहीं, बल्कि उसकी आदर्शनिष्ठा का परिणाम है।

विरुद्धक पात्र अजातशत्रु का समरूप मालूम होता है। विरुद्धक भी अपने पिता का विद्रोही है और उसकी माता भी अजातशत्रु की माता से मिलती-जुलती है। प्रसेनजित की सभा मे जब मगध के परिवर्तन का समाचार पहुँचता है तो विरुद्धक अजातशत्रु के आचरण का समर्थन करता है। परन्तु विरुद्धक और अजातशत्रु की परिस्थितियों में भेद भी है। सब से बडा भेद यह है कि दोनों को एक प्रकार के पिता प्राप्त नहीं हुए हैं। विम्बसार जितना निर्बल है प्रसेनजित उतना ही प्रबल। यदि विम्बसार गौतम के कहने से अजातशत्रु के लिए सहज ही में अपना राज्य छोड़ देता है तो प्रसेनजित अपने पुत्र को संदेहमात्र पर राज्य से निर्वासित कर देता। परन्तु, फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि समान

परिस्थितियाँ होने पर दोनों राजकुमार एक ही प्रकार से अपना विकास करते। उनकी मूल वृत्तियों में जहाँ कुछ समानताएँ हैं, वहीं कुछ प्रधा असमानताएँ भी हैं।

ऐसा मालूम होता है कि विरुद्धक के संस्कार अजातशत्रु की अपेक्ष अधिक तीव्र हैं। उसमें आत्मनिर्भरता और आत्मपौरुष अधिक है इसके विपरीत अजातशत्रु के मूल संस्कारों में उसकी माता का बहु बड़ा सहयोग है। अजातशत्रु को अपने कर्म के लिए पहले ए सलाहकार या निर्देशक की आवश्यकता पड़ती है और उसकी कर्त्तव्यत में उसके 'गुरुदेव' देवदत्त या उसकी माता छलना का यथेष्ट उत्तरदायि रहता है। अजातशत्रु को यदि डाकू बनना पड़ता तो वह शायद डाकुश का सरदार न बन सकता। परन्तु विरुद्धक बिलकुल अकेला है। कि सलाहकार या सहायक के बिना ही उसने चारों तरफ आतङ्क मचा रक्ख है—इतना कि, वह पावा वीर बन्धुल तक से कह सकता है—'अप चिन्ता करो। मैं ही शैलेन्द्र हूँ।' उसमें असीम आत्मविश्वास है उसकी साहसिकता का कारण और कार्य, दोनों, है। अजातशत्रु क है, परन्तु उसमें साहसिकता नहीं; और न वह आत्मनिर्भरता ही है।

यह सत्य है कि एक अवसर पर विरुद्धक कहता है—"माँ क कहती हो। हम आज एक तिरस्कृत युवक मात्र हैं। कहाँ का कोशल औ कौन राजकुमार।" परन्तु इस समय वह मल्लिका का ध्यान कर रहा था अपने प्रथम यौवन के प्रथम प्रेम की अप्रतिकार्य घोर निराशा के कार ही इस समय उसमें निरुत्साहिता दिखाई देती है। अतः जैसे ही उस माता उसे उत्तेजित करती हुई कहती है—"महत्त्वाकांक्षा के प्रदीप्त अग्नि कुण्ड में कूदने को प्रस्तुत हो जाओ, विरोधी शक्तियों को दमन करने लिए कालस्वरूप हो जाओ...इस पृथ्वी पर जियो तो कुछ हो कर जिय नहीं तो मेरे दूध का अपमान कराने का तुम्हें अधिकार नहीं"—वैसे उसकी स्वाभाविक प्रकृति अपनी क्षणिक कार्य-जड़ता को छिन्न-भिन्न करत हुई बोल उठती है—"बस माँ, !...आज से प्रतिशोध लेना हमा

कर्त्तव्य होगा'''मै प्रतिज्ञा करता हूँ कि तेरे अपमान के कारण इन शाक्यो का एक बार अवश्य संहार करूँगा और उनके रक्त में नहा कर इस कोशल के सिंहासन पर बैठ कर तेरी वन्दना करूँगा।" वह अजातशत्रु की भाँति अपनी माता से बहनो की शिकायत कर के मत्सरपूर्ण दीनता नहीं दिखाता। भविष्य में भी जब अवसर उपस्थित होता है तो, वह बराबरी की हैसियत से अजातशत्रु को पहले अपनी ही सहायता का निमत्रण देता है और उसका कार्य-साधक ही बनता है। एक निरादृत, असहाय और अकेले, युवक से लोकातंककारी भयानक डाकू बन कर साम्राज्यो की राजनीति मे एक बड़े अंश तक नियामक बन जाना—यह विरुद्धक जैसे ही का काम था।

विरुद्धक के चरित्र में कोमलता का यदि कुछ अंश है तो वह मल्लिका की स्मृति के रूप में। वह श्यामा के प्रेम का आदर नहीं कर सकता। श्यामा उसके प्राण बचाती है। पर वह उसकी हत्या करता है और धन की आवश्यकता से उसके आभूषण उतार कर ले जाता है। परन्तु मल्लिका की कुटी मे शुश्रूषा किए जाने के उपरान्त जब वह उससे अपनी अतीत कल्पनाओ की चर्चा करता है और मल्लिका उसका उपालम्भ करती है तो वह कहता है—"तब क्यो नहीं मर जाने दिया? क्यो कलङ्की जीवन बचाया—और अब''''''"

मल्लिका के ही प्रभाव से उसका उद्धार होता है। मल्लिका के व्यक्तित्व में वैसे ही उद्धार करने की सामर्थ्य है। परन्तु, विरुद्धक के लिए, कुछ कोमल संसर्गो के कारण, उसका प्रभाव और भी महत्त्वपूर्ण हो गया है। इसके साथ ही साथ जब वह यह भी देखता है कि अनेक प्रकार से मल्लिका का अपराधी होते हुए भी मल्लिका के द्वारा ही उसकी रक्षा होती है तो उसकी पशुता बरबस ढीली पड़ने लगती है। परन्तु धीरे धीरे—स्वाभाविक रूप से। कितने समय तक उसके यहाँ रह चुकने के बाद भी अच्छा होने पर वह एक बार मल्लिका से पुनः प्रणय-संकेत करने का धृष्ट साहस दिखाता ही है—अजात की तरह पहले ही दर्शन में मुग्ध-सा

नहीं बैठ जाता।

मागंधी, छलना और शक्तिमती, तीनों, राजमहिषियाँ हैं। छलना और शक्तिमती राजमाताएँ भी हैं। तीनों अनियंत्रित वृत्ति की स्त्रियाँ हैं और प्रतिष्ठित व्यवस्था से विरोध करने वाली हैं। मागंधी और शक्तिमती की पूर्व परिस्थितियों में कुछ साम्य है—दोनों निम्न श्रेणी की स्त्रियाँ थीं। छलना और शक्तिमती की वर्तमान परिस्थितियों मे साम्य है—ये दोनों अपने पुत्रों से षड्यन्त्र कराती हैं। इस साम्य में एक भेद भी है—उन्हें भिन्न भिन्न प्रकार के पति प्राप्त हुए हैं, जिसके परिणाम में शक्तिमती निगृहीत होती है और छलना अपना अभीष्ट तत्काल प्राप्त कर लेती है। परिस्थिति की अपेक्षा इनके संस्कार में अधिक समता है। यदि एक स्थान पर छलना वासवी से बातचीत करती हुई अपने मन में कहती है—"मैं छोटी हूँ यह अभिमान तुम्हारा अभी गया नहीं", तो शक्तिमती अपने पुत्र को समझाती है—"दासी की पुत्री हो कर भी मैं राजरानी बनी और हठ से मैंने इस पद को ग्रहण किया...विश्व भर मे छोटे से बड़ा होना यही प्रत्यक्ष नियम है...।" परन्तु इसके बाद दोनो की परिस्थितियाँ बदलने के कारण उनके चरित्र भिन्न-भिन्न दिशाओं मे विकसित होते हैं। छलना का पुत्र सम्राट् हो गया है, इसलिए प्रभुता और कुमन्त्रणा की समस्त शक्तियाँ लगा कर वह अजातशत्रु को निर्बाध रूप से क्रूरता और कुटिलता की शिक्षा दे सकती है। परन्तु शक्तिमती तिरस्कृता है और उसकी सामर्थ्य मल्लिका या कारायण को फुसलाने की चेष्टा तक ही परिमित रहती है। विरुद्धक से तो उसकी हमारे सामने कोई भेंट भी नहीं हो पाती। जो डाकू था उससे मिलने में सुभीते की कमी थी। इसीलिए शक्तिमती का अधिक विकास भी नहीं दिखाया गया। नाटक भर में तीन चार दृश्यों मे ही वह हमारे सामने आती है। मल्लिका के व्यवधान द्वारा अन्त में वह पुनः सम्मानित होती है और अपनी वृत्तियो को सुधार लेती है।

अजातशत्रु के सिंहासनारूढ़ होने के उपरान्त छलना की जिस प्रवृत्ति

का बहुत अधिक विकास होता है वह वासवी के प्रति सापत्न्य-द्वेष है, जो वास्तव में उसके एकान्त ममत्व का ही एक पक्ष है। यह बात नहीं है कि सापत्न्य-भाव उसमें पहले नहीं था। हम इसका कुछ आभास अभी पा चुके हैं। एक बार और भी अपने लिच्छिवी रक्त के अहंकार में उसे हम बिम्बसार से अपने पटरानी न होने की शिकायत करते देखते हैं। परन्तु पुत्र के अधिकार-प्राप्त होने पर उसका यह भाव प्रतिहिंसा की प्रवृत्ति से और भी विकट हो जाता है। अजात जब काशी पर अधिकार कर लेता है तो छलना किसी अनुचर द्वारा समाचार न भेज कर स्वयं ही वासवी के पास जाती है क्योंकि, वह कहती है,—"किन्तु वह मेरी जगह तो नहीं हो सकता था और संदेश अच्छी तरह से नहीं कहता। तुम्हारे मुख की प्रत्येक सिकुड़नों पर इस प्रकार लक्ष्य नहीं रखता, न तो वासवी को इतना प्रसन्न ही कर सकता।" अजात के बन्दी हो जाने पर तो वह और भी आगे बढ़ जाती है और कहती है—"मीठे मुँह की डाइन! अब तेरी बातों से मैं ठंडी नहीं होने की! ओह इतना साहस, इतनी कूट चातुरी! आज मैं उस हृदय को निकाल लूँगी, जिसमें यह सब भरे थे। वासवी सावधान, मैं भूखी सिंहनी हो रही हूँ।"

परन्तु वासवी के सौजन्योपचार से उसकी ये वृत्तियाँ विजित होती हैं। वासवी अजात को छुड़ाती है। और छलना अपनी भूल समझ कर बिम्बसार और वासवी, दोनों से क्षमा माँगती है।

मागन्धी की परिस्थितियों और उसके प्रारम्भिक आचरण में साम्य का आभास होते हुए भी, मागन्धी का छलना और शक्तिमती से बड़ा भारी विभेद है। सम्भव है, इसका एक कारण यह हो कि मागन्धी पुत्रवती नहीं है। इसलिए उसके ममत्व और विद्रोह-भाव का एकमात्र आधार उसका अपना पृथक् व्यक्तित्व ही है। वह भी उच्चाभिलाषिणी है। पर उसकी उच्चाभिलाषा का रूप दूसरा है, जिसकी पूर्ति उसका राजवैभव भी नहीं कर सकता। उसमें उद्दाम वासना है, रूप का घमण्ड है। उसमें उस स्वतंत्रता की भयंकर कामना है जो अराजकता के मूल

को देखना उचित नहीं।

मागन्धी के चित्रण का सौन्दर्य यही है कि महात्मा के सम्पर्क से वह स्वयं महात्मा नहीं बन गई है। उसने इस संपर्क का केवल आंशिक संस्कार लिया है। आम्रपाली की अवस्था में वह गौतम को अतिथिरूप में अपने सामने पा कर अपने पूर्व विकारों को फिर स्मरण कर लेती है और इस प्रकार कहती है—"अन्त में हमारी विजय हुई नाथ! हमने जीवन के प्रथम वेग में ही आपको पाने का प्रयास किया था। किन्तु वह समय नहीं था, वह ठीक नहीं था। आज मैं अपने स्वामी को, अपने नाथ को, अपना कर धन्य हो रही हूँ।"

बिम्बसार, मगध का सम्राट, गौतम की प्रेरणा से अपने पुत्र अजातशत्रु के लिए अपना राज्य छोड़ देता है और बाद में अपने मन को शान्ति पहुँचाने के लिए विराग और दर्शन का आश्रय लेता है। विराग और दर्शन सहसा उपार्जन करने की वस्तु नहीं; अतएव उसमें पहले से इनका संस्कार था यह कल्पनीय है। अन्यथा गौतम का इतना प्रभाव ही उसपर कैसे होता? इसीलिए उसकी उक्तियों में, तितिक्षा की शान्ति-चेष्टा और राज्यापहरण पर असन्तोष, दोनों, दिखाई देते हैं। वासवी उसकी अनुरूप पत्नी है। गम्भीर विचारणा और शान्ति-चेष्टा में वही उसकी एकमात्र सहचर है। वासवी पतिपरायणा है और अपने पति की सान्त्वना के लिए अधिकतर उसके विचारों में सहयोग देती है। बिम्बसार जब अपने असंतोष का पहला अस्फुट उद्गार करता हुआ मन बहलाने के लिए कहता है—"पुत्र को समस्त अधिकार देने में और वीतराग होने से कुछ भी असंतोष नहीं रह जाता" तो वासवी उत्तर देती है—"मुझे यह जान कर प्रसन्नता हुई कि आपको अधिकार से वञ्चित होने का दुःख नहीं।" जब बिम्बसार 'कुणीक के व्यवहार से अपने अधिकार का ध्यान' करने लगता है तो वासवी उससे काशी का राज्य लौटा लेने का प्रस्ताव करती है। एक प्रकार से वासवी के चरित्र में बिम्बसार की अपेक्षा अधिक धैर्य और संतोष है। बिम्बसार के चरित्र

का प्रधान लक्षण उसकी दुर्बल प्रकृति है जिसके कारण वह शान्ति की इच्छा करता हुआ भी शान्ति नहीं पा सकता है। इसके प्रतिकूल वासवी बिम्बसार की समशील होती हुई भी पति-सेवा के कवच द्वारा अपने असंतोष आदि की दुर्बलताओं को अलग रखती है—केवल छलना आदि के सामने कभी कभी अस्पष्ट रूप से उनका प्रकाश हो जाता है। छलना उसे काशी-विजय का समाचार सुनाने जाती है तो वासवी उससे कहती है—"तो राजमाता को कष्ट करने की क्या आवश्यकता थी। यह तो एक सामान्य अनुचर कर सकता था।" हम देख सकते हैं कि इसमें व्यंग्य की छाया है।

वासवी के चरित्र का एक प्रधान अंग उसकी स्नेहमयी प्रकृति भी है। अपनी परम अपकारिणी सपत्नी के पुत्र को भी वह अपने आत्मज की भाँति प्रेम करती है और जब वह बन्दी हो जाता है तो उसके लिये व्यग्र हो जाती है। वह छलना को भी गले लगाने के लिए तैयार है—छलना इसके लिए तैयार होनी चाहिए। परन्तु बिम्बसार इस प्रवृत्ति के लिए अन्त तक अननुकूल रहता है। यदि वह एक स्थान पर कहता है कि 'यदि मैं सम्राट् न हो कर...अधखिला फूल होता' आदि, तो संसार की प्रतारणाओं से घबड़ा कर—अपनी सहज दुर्बलता के कारण। अन्यथा, जब अन्त में, क्षमा-याचना के लिए आये हुए अपने पुत्र की सूचना उसको मिलती है तो वह पहले यही पूछता है—"कुणीक कौन? मेरा पुत्र, या मगध का सम्राट् अजातशत्रु!"

बिम्बसार के चित्रण का परम श्रेष्ठ गौरव इसी बात में है कि उसकी दुर्बलताओं का व्याकरण कर के वैराग्य वृत्ति के साथ उनका कुशल सामञ्जस्य किया गया है। जहाँ उसके चरित्र के विश्लिष्ट गुणों की संकरता दिखाई गई है वहाँ लेखक की सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति का अच्छा प्रकाश होता है। ऐसे स्थलों में एक स्थल परम मनोहर है जिसमें चित्रण की कुशलता द्वारा भावुक कवित्व की सुन्दर प्रतिष्ठा हुई है। अजातशत्रु प्रवेश करते ही अपने पिता के पैरों में गिर पड़ता है। तब पिता कहता

है—"नहीं नहीं, मगधराज अजातशत्रु को सिंहासन की मर्यादा नहीं भंग करनी चाहिए। मेरे दुर्बल चरण—आह छोड दो।" व्यंग्य, अभिमान, वात्सल्य, व्याकुलता आदि का एक साथ और इतने थोडे मे ऐसा संघर्ष बड़ा उज्ज्वल हो उठा है।

सेनापति बन्धुल की स्त्री, मल्लिका, पति के प्रेम और उसकी महिमा से अनुरञ्जित है। वह शक्तिमती से अपने पति के पावा-युद्ध का वर्णन बडे गौरव के साथ करती है। बन्धुल का मृत्यु-समाचार सुनने पर उसका "हृदय थरथरा रहा है, कण्ठ भरा आता है—एक निर्दय चेतना सब इन्द्रियों को अचेतन और शिथिल बनाये दे रही है।" परन्तु उसमें असीम धैर्य है, असीम भक्ति और असीम कर्तव्य-निष्ठा। वह ईश्वर से प्रार्थना करती है—"मुझे विश्वास दो कि तुम्हारी शरण जाने पर कोई भय नहीं रहता। विपत्ति और दुःख उस आनन्द के दास बन जाते हैं, फिर सांसारिक आतङ्क उसे नहो डरा सकते है।" जिस समय उसने अपने पति का समाचार सुना है उसके थोडी ही देर बाद सारिपुत्र उसके यहाँ भिक्षा के लिए आनेवाला है। सारिपुत्र के आने पर वह उसको यथाविध आतिथ्य-प्रदान करती है। सारिपुत्र उसके चरित्र की उच्चता को जानता है। वह आनन्द से स्वयं कहता है—"स्वामी के मारे जाने का समाचार अभी हम लोगो के आने के थोडी ही देर पहले आया है। किन्तु वह भी इन्हें अपने कर्तव्य से विचलित नहीं कर सका।" बाद में पैर पकड़ती हुई मल्लिका से वह कहता है—"उठो देवी! उठो। तुम्हे मै क्या उपदेश करूँ? तुम्हारा चरित्र धैर्य का—कर्त्तव्य का—आदर्श है। तुम्हे अखण्ड शान्ति है।"

तत्पश्चात् मल्लिका के धैर्य और उसकी शान्ति का एकमात्र आधार—कहना चाहिए, एकमात्र रूप—उसका सेवाधर्म हो जाता है। वह युद्ध मे घायल हुए व्यक्तियो की—अपने शत्रुओं तक की—सेवा-शुश्रूषा करती है और उन्हें मनोवाक्काय से चंगा बनाती है। उसके प्रभाव से पारस्परिक झगड़े शान्त होते है। नाटक में यही उसका केवल

उपयोग भी है।

गौतम के चरित्र में उसके विचार और उसका प्रतिष्ठित व्यक्तित्व ही अध्ययन की वस्तु है। वह क्रियमाण पात्र नहीं है और न उसमें भिन्न भिन्न वृत्तियों अथवा परिस्थितियों का द्वन्द्व है। वह परमोच्च महात्मा है, देवपुरुष है। उसके व्यक्तित्व में आकर्षण और प्रभाव की सामर्थ्य है। नाटक के तीनों राजमहलों में उसका प्रभाव देखा जाता है। मगध में बिम्बसार और वासवी उसके भक्त हैं, कौशाम्बी में पद्मावती और कोशल में मल्लिका। उसके माहात्म्य में चमत्कार की शक्ति है। मृत अथवा मृतप्राय श्यामा जी उठती है और बिम्बसार जब दुःख के भार से लड़खड़ा कर गिरने लगता है तो गौतम आ कर अभय हाथ उठाता है।

गौतम के विचार और सिद्धान्तों का मूलसूत्र करुणा है। वह कहता है—

"मानव का महत्त्व जगती पर फैला अरुणा करुणा से।"

दृश्यों की नश्वरता के सिद्धान्त का वह उपदेश करता है। सांसारिक सुख, सांसारिक आशाएँ, निस्सार हैं।—

"चञ्चल मानव क्यों भूला तू,
इस सीठी में सार कहाँ॥"

शुद्धबुद्धि के महत्त्व को उसने बड़ा ऊँचा स्थान दिया है। यह पाप और पुण्य से निर्लिप्त है। 'केवल साक्षी रूप से वह सब दृश्य देखा करती है। तब भी इन सांसारिक झगड़ों में उसका उद्देश्य होता है कि न्याय का पक्ष विजयी हो—यही न्याय का समर्थन है।' इस शुद्धबुद्धि की तटस्थ शुभेच्छा से ही समस्त सदाचारों की नींव विश्व में स्थापित होती है। यही शुद्धबुद्धि हमारे सामने यथार्थ सत्य का रूप भी उपस्थित करती है। सत्य सूर्य के समान है जिसे चलनी से नहीं ढका जा सकता। गौतम को उसी सत्य के लिए निरन्तर प्रेरणा है। इस सत्य की मर्यादा के लिए उसके जिस रूप के दर्शन हमको होते हैं उसमें बहुत बड़ा

इसके पिछले दृश्य में वासवी और छलना की भेंट है। छलना के सामने उसकी सपत्नी की स्नेह-शीलता और सद्भाव का प्रकाश होता है। दोनो में इस प्रकार बात-चीत होती है--

वासवी--"देखो, राज्य में आतङ्क न फैलने पावे। दृढ़ हो कर मगध का शासन करना। किसी को कष्ट भी न हो। और प्यारी छलना, यदि हो सके तो आर्यपुत्र की सेवा कर के नारी-जन्म सार्थक कर लेना।"

छलना--"वासवी, बहिन (रोने लगती है) मेरा कुणीक मुझे दे दो, मैं भीख माँगती हूँ। मैं नहीं जानती थी कि निसर्ग से इतनी करुणा और इतना स्नेह सन्तान के लिए, इस हृदय में संचित था। यदि जानती होती तो इस निष्ठुरता का स्वाँग न करती।"

वासवी--"रानी, यही जो जानती कि नारी का हृदय कोमलता का पालना है, दया का उद्गम है, शीतलता की छाया है और अनन्य-भक्ति का आदर्श है, तो पुरुषार्थ का ढोंग क्यों करती। रो मत, बहिन, मैं जाती हूँ, तू यही समझ कि कुणीक ननिहाल गया है।"

नाटक से इस प्रकार के अनेक स्थल उद्धृत किए जा सकते हैं। परन्तु वे इतने स्पष्ट और सुप्रभाव हैं कि पुस्तक पढ़ते समय वे पाठक से छिपे नहीं रह सकते। अन्तिम दृश्य मे अजातशत्रु और छलना का बिम्बसार से क्षमा माँगना इतनी तीव्र भावुकता से भरा हुआ है कि पाठक को पूरा दृश्य जल्दी समाप्त करना कठिन हो जाता है। क्षण-क्षण में उसे कुछ देर को अपना आवेग कम करने के लिए रुकना पड़ता है। तमाम दृश्य का वातावरण सुख और आनन्द का है। इसलिए उसमें यथेष्ट हास-विलास भी है। परन्तु यह हास-विलास भी हृदय में गुदगुदी उत्पन्न किए बिना नहीं रहता। जैसे ही छलना बिम्बसार के चरण पकड़ कर क्षमा माँगती है, वासवी का प्रवेश होता है और वह कहती है--"आर्यपुत्र! अब मैंने इसको दण्ड दे दिया है, यह मातृत्व-पद से च्युत की गई है, अब इसको आपके पौत्र की धात्री का पद मिला है। एक राजमाता को इतना बड़ा दण्ड कम नहीं है।" बिम्बसार पूछता है—

"वासवी ! तुम मानवी हो कि देवी ?" और वासवी उत्तर देती है—"बता दूँ ! मैं मगध के सम्राट् की राजमहिषी हूँ। और, यह छलना मगध के राजपौत्र की धाई है, और यह कुणीक मेरा बच्चा इस मगध का युवराज है और आपको भी···।"

इस प्रकार की भावुकता और रचना-विधि में हम रसात्मकता की किसी त्रुटि की शिकायत नहीं कर सकते। यथार्थ में 'अजातशत्रु' रस-प्रधान नाटक है और उसमें स्थल स्थल पर विविध रसों का सम्मिश्रण है। यद्यपि इस नाटक में कहीं कहीं जटिल अलङ्कारों का प्रयोग हुआ है, परन्तु सात्त्विक भावुकता के उद्गारों में उस जटिलता की सम्भावना नहीं रही है और भावुकता का गौरव अक्षुण्ण बना रहा है।

स्कन्दगुप्त

(राजेश्वरप्रसाद अर्गल)

स्कन्दगुप्त आर्य साम्राज्य के पतन-काल का चित्र है। अंतर्विद्रोह और स्वार्थपरता ने देश को अशक्त बना डाला था। गुप्त साम्राज्य की राजधानी, मगध, विलासिता का केन्द्र बन गई थी। पारसीक मदिरा और नर्तकियों का मान था। कुमारगुप्त "सिंहासन पर बैठे-बैठे राजदण्ड हिला देने से ही" राज्य करना चाह रहे थे। पश्चिमी भारत पर हूणों के आक्रमण होने प्रारम्भ हो गये थे और चन्द्रगुप्त द्वारा स्थापित गुप्त साम्राज्य अपने विनाश की ओर अग्रसर हो रहा था। भारत के उत्कर्ष का यह तीसरा प्रहर था। इस समय यदि आशा थी तो केवल स्कन्द से—वही गुप्त कुल का जगमगाता नक्षत्र था। सारा भारत केवल उसी की ओर देख रहा था। स्कन्दगुप्त नाटक ऐसे ही पतित होते हुए भारत का चित्र है जिसमें स्कन्द अपनी प्रतिभा से उसे उन्नति के पथ पर ले जाने का प्रयत्न करता है।

इस कारण स्कन्दगुप्त नाटक में ऐतिहासिक वातावरण के साथ ही साथ स्कन्द की महानता प्रदर्शित करने के लिए समकालीन भारत का जीता-जागता चित्र नाटककार को चित्रित करना आवश्यक था। इतिहास और साहित्य दोनों के नाते भारत के इस परिवर्तनकाल को जितने भी गहरे रंगों से भरा जा सके, जितना ही स्पष्ट रूप वह उसे दे सके उतनी ही नाटककार की कला और कल्पना सफल समझी जायगी। इसीलिए नाटककार ने भारत की उस दयनीय दशा के चित्रण का पूर्ण ध्यान रखा है। उसी के ऊपर ही साहित्य के नाते स्कन्द के नायकत्व का और इतिहास के नाते सत्यता का बोध हो सकता है।

स्कदगुप्त में पाँच अंक हैं। ऐसा मालूम होता है कि प्रत्येक अंक

संस्कृत की पाँच संधियों के आधार पर ही निर्मित किया गया है। नाटक का उद्देश्य स्कन्द को अपनी प्रतिकूल प्रत्येक बाधाओं पर विजयी बना कर चक्रवर्ती सम्राट् बनाना है और इसके लिए उसे हूणों का दमन करना, अन्तर्विद्रोह का अन्त करना और विलासिता में फँसी आर्य्य जाति को आदर्श पथ की ओर अग्रसर करना आवश्यक है। प्रथम अंक में ही बीजारोपण हो जाता है और स्कन्द मालव पर आक्रमण करने वाले शक और हूणों को परास्त करता है। हूणों की पराजय को सन्धि ही समझना चाहिये। इसके अनन्तर दूसरे अंक में स्कन्द सम्राट है और अन्तर्विद्रोह के प्रथम प्रयत्न को असफल करता है—स्कन्द अपने उद्देश्य की ओर ही बढ़ रहा है और यहाँ हमें बीज के क्रमशः विकास होने के लक्षण दिखाई देते हैं। इस तरह द्वितीय अंक के कुछ पूर्व ही प्रतिमुख सन्धि की समाप्ति हो जाती है। तृतीय अंक में परिस्थितियों का अधिक विकास हो रहा है।

आर्यावर्त्त से हूणों के आतंक को पूर्ण रूप से नष्ट करने के लिए, उन्हें एक बार ही भारतीय सीमा से दूर करने के लिए स्कन्द सभी सामन्तों को आमंत्रित कर अपने उद्योग में लगा हुआ है। प्रतिमुख संधि की परिस्थितियाँ तीसरे अंक की गर्भ-संधि में और भी अधिक विकसित हो गई हैं। परन्तु चौथे अंक में ही अवमर्श ने भयानक बाधाएँ उपस्थित कर दीं। भटार्क का षड्यन्त्र सफल हो गया और वही स्कन्दगुप्त जो "रमणियों का रक्षक, बालकों का विश्वास, वृद्धों का आश्रय और आर्य्यावर्त्त की छत्रच्छाया" था, वही आज "निष्प्रभ, निस्तेज उसी के मलिन चित्र सा" इधर-उधर मारा-मारा फिरता है। पर्णदत्त जिसके लोहे से आग बरसती थी अब सूखी लकड़ियाँ बटोर कर आग सुलगाता है। सूखी रोटियाँ और कुत्सित अन्न को अक्षय निधि के समान बटोर कर रखता है। सारा अंक निराशापूर्ण है। स्कन्द के सम्राट् होने की आशा असम्भवत् मालूम पड़ती है। पाँचवें अंक में भारत के भाग्य का उदय होता है। स्कन्द के बाहुबल और भटार्क वा पर्ण के प्रयत्नों से हूणों की

अन्तःपुर में अनंतदेवी महादेवी बनने की लालसा में, भटार्क अपने व्यर्थात्माभिमान में और प्रपंचबुद्धि सद्धर्म के उद्धार के लिए कुमारगुप्त की हत्या कर पुरगुप्त को सिंहासन पर बिठलाने का भयानक षड्यन्त्र रच रहे हैं। मगध में स्कन्दगुप्त की अनुपस्थिति षड्यन्त्रकारियों के लिए अमूल्य अवसर प्रदान कर देती है और अन्तःपुर का अन्तर्विद्रोह छठे दृश्य तक पूर्ण सम्पन्न हो जाता है। छठे और सातवें दृश्यों में स्कन्द हूणों पर विजय पाते हैं। दूसरा अंक देवसेना और विजया की प्रणय-लीला का है। स्कन्द मालव का सम्राट् बनता है और पुरगुप्त के प्रयत्नों पर पानी फेर देता है। कथानक का प्रवाह कहीं भी मन्द नहीं पड़ता। भिन्न भिन्न स्रोत आ कर उसकी धारा विस्तृत और गहन करते जाते हैं, उसके मार्ग में चट्टानें ला कर बाधाएँ उपस्थित नहीं करते।

तीसरा अंक दूसरे अंक की घटनाओं को और भी आगे बढ़ाता है। विजया और देवसेना के आन्तरिक द्वेष का परिणाम प्रपंचबुद्धि के निहत होने में होता है, जिसके फलस्वरूप "गुप्त परिषद्" के प्रभावशाली व्यक्ति की मृत्यु से षड्यंत्रकारियों की शक्ति को काफी क्षति पहुँचती है। फिर भी भटार्क का षड्यन्त्र सफल हो जाता है और आर्य्य साम्राज्य का विध्वंस चौथे अंक का कलेवर बनता है। विपत्तियाँ ही मनुष्य को सत्पथ पर प्रेरित करती हैं, आँखों का परदा वास्तविकता देखने पर ही हट जाता है। भटार्क में सद्बुद्धि जागती है, वह स्कन्द का क्षमाप्रार्थी होता है। कनिष्क के स्तूप के पास आर्य साम्राज्य के सभी बिखरे रत्नों को पर्णदत्त पहले से ही इकट्ठा कर लेता है। एक बार स्कन्द फिर अपनी शक्ति संकलित करता है और इस बार उसके स्वप्न साक्षात् हो जाते हैं।

नाटक का एक भी दृश्य ऐसा नहीं जो अपने आधिकारिक स्थान से हटा हुआ है। प्रत्येक दृश्य मूल कथानक से इस प्रकार सम्बद्ध है कि एक दृश्य की न्यूनता सारी शृंखला को विच्छिन्न कर देगी। प्रत्येक का अपना-अपना स्थान है और प्रत्येक अपने मूल कथानक के विकास

में पूर्ण सहयोग देता है। कुछ लोगों ने स्कन्दगुप्त के बौद्ध और ब्राह्मण वाले दृश्य को अनावश्यक बतलाया है। लेकिन जैसा हम लिख आये हैं कि स्कन्द के उत्कर्ष के लिए भारत की दयनीय दशा का चित्रण नितान्त आवश्यक है। यह दृश्य केवल नाटककार की इतिहासनिष्ठा का द्योतक नहीं और यद्यपि गुप्तकालीन परिस्थितियों के चित्रण करने में उसका सबसे प्रमुख स्थान है, लेकिन साहित्य और नाटक की दृष्टि से भी उसका कम महत्त्व नहीं। दण्डनायक का यह कथन—

"नागरिकगण! यह समय अन्तर्विद्रोह का नहीं। देखते नहीं हो कि साम्राज्य बिना कर्णधार का पोत हो कर डगमगा रहा है। और तुम लोग क्षुद्र बातों के लिए परस्पर झगड़ते हो!"

वास्तव में भारत की शोचनीय दशा का चित्रण है, जिसमें स्कन्द का कार्य और भी कठिन हो जाता है। इन्हीं आन्तरिक झगड़ों के कारण ही तो इस आर्यावर्त्त में हूण प्रवेश कर सके थे।

परन्तु यह वास्तव में सद्धर्म के उत्कर्ष की चेष्टा न थी। यह थी "एक युद्ध करने की मनोवृत्ति की प्रेरणा से उत्तेजित हो कर अधर्म करना और धर्माचरण की दुन्दुभी बजाना।" इसी प्रेरणा के कारण ही प्रपंचबुद्धि ने हूणों से संधि की थी, अन्तःपुर में विद्रोह की ज्वाला प्रज्वलित की थी और अपने धर्म को ऊपर उठाने के लिए अधर्म का रास्ता अपनाया था। यह उसका वास्तविक धर्मप्रेम न था, यह थी उसकी धर्मान्धता, "क्रूर कर्म की अवतारणा से भी एक बार सद्धर्म के उठाने की आकांक्षा।"

बौद्धों और ब्राह्मणों का दृश्य इसी धर्मान्धता और अदूरदर्शिता का परिचायक है। यदि केवल प्रपंचबुद्धि और महाश्रमण में ही अन्तर्विद्रोह की भावना होती तो स्कन्द के लिए उन्हें हटाना कठिन न होता। लेकिन पूरी बौद्ध जनता के ये भाव नायक के लिए एक विकट समस्या उपस्थित कर देते हैं। सनातन धर्म के इस अभ्युदयकाल में ब्राह्मणों की जो संकुचित मनोवृत्ति थी, वही बौद्धों की भी थी। साम्प्रदायिक-

झगड़ों ने एक दूसरे को कट्टर शत्रु बना दिया था, अतएव यह दृश्य ऐतिहासिक सत्यता का चित्र अंकित करने के साथ ही साथ नाटक में भी विशेष महत्त्व रखता है। इसे केवल कवि का इतिहास-प्रेम-दर्शन कहना भूल होगा।

वस्तु-सकलन में पूर्ण समाहार हुआ है। घटनाओं में प्रवाह है लेकिन इतनी द्रुतता नहीं कि पाठक की विचार शक्ति पिछड़ने लगे। आकांक्षा और जिज्ञासा की प्रत्येक दृश्य में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है और अन्त में उसका समाधान पाँचवें अंक में होता है। औत्सुक्य की चरम सीमा चौथे अंक में पहुँच जाती है जहाँ स्कन्द की सारी आशाएं निर्मूल हो जाती हैं। वह अकेला अपने भाग्य को कोसता हुआ इधर-उधर मारा मारा फिरता है। उसके हृदय में शान्ति नहीं, कुटुम्ब में शान्ति नहीं, राज्य में शान्ति नहीं। शर्वनाग, पर्णदत्त, भटार्क सभी "लुट गये हैं, अनाथ और आश्रयहीन"। आशा की किरण भी नहीं। पढ़ते पढ़ते हृदय घबड़ा उठता है। आगे क्या होगा? यही प्रश्न हमारे सामने नाचता रहता है। नाटककार धीरे-धीरे इस दयनीय दशा को घटाता ही गया है, अन्त में घटनाएँ चरमसीमा पर पहुँच कर पूर्ण शान्ति में समाप्त होती हैं।

कथानक की तरह स्कन्दगुप्त का चरित्र-चित्रण भी दोषरहित हुआ है। अन्तस्तल की उन निगूढ़ धाराओं पर भी कवि ने प्रकाश डाला है जिनको मनुष्य का दम्भ सदैव छिपाने का प्रयत्न करता रहता है। मानव-चरित्र इतना सरल नहीं है कि वह अच्छे और बुरे के दो वर्गों में बँट जावे। नीचे से मनुष्य के हृदय में कभी न कभी सद्भाव की प्रेरणा होती है और आदर्श चरित्र भी किसी न किसी दुर्बलता का शिकार बना रह जाता है। यदि मानव-चरित्र इतना जटिल न होता तो मानव मानव न रह कर या तो हिंसक पशु होता या उसमें देवताओं के ही गुण रहते, परन्तु मनुष्य मनुष्य ही है। उसमें जहाँ देवताओं के गुण विद्यमान हैं वहाँ हिंस्र पशुओं की क्रूरता और स्वार्थपरता भी उसमें है। इन दो

संसार का घटनाचक्र मनुष्य की इच्छाओं से स्वतंत्र चलता रहता है। मनुष्य उसे अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न करता है लेकिन मानो वह नियति का खिलौना ही है, जो उसे नित्यप्रति खेल खिलाती है। उसका और नियति का सदैव ही यह घात-प्रतिघात चला करता है। कभी नियति उसे किसी ऊँचे सिंहासन पर बैठाती है तो कभी उसे किसी मार्ग में भीख माँगते हुए फिराती है। स्कन्द भी अपने भाग्य के साथ खेला था "कल्पना कहती है कि तू राजा है और उत्तर में जैसे कोई कहता है कि तू खिलौना है।" स्कन्द ही क्यों? भटार्क, देवसेना, विजया इत्यादि प्रकृति के खिलौने मात्र ही रहे हैं। उनका बाह्यद्वंद्व घटनाचक्र के साथ चलता रहा और इस घात-प्रतिघात का प्रभाव उनके चरित्रों पर पड़ता गया। यही बाह्यद्वंद्व ही मानव-चरित्र में परिवर्तन करता है, जिसे हम नाटक में चरित्र का विकास कहते हैं। स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक चरित्र चित्रण का यह एक आवश्यक अंग है। सभी चरित्रों में हम यह विकास पाते हैं। अपने बीजरूप से धीरे-धीरे विकसित हो नाटक की समाप्ति तक चरित्र अपने वास्तविक रूप में दिखने लगते हैं।

अन्तर्द्वंद्व और चरित्रों के विकास के कारण ही स्कन्द के चरित्र बहुत ही स्वाभाविक हुए हैं। इसमें सन्देह नहीं कि नाटक में चरित्रों की संख्या अधिक है लेकिन नाटक विस्तृत होने के कारण प्रत्येक मुख्य चरित्र के आन्तरिक द्वंद्व और विकास की ओर नाटककार का ध्यान जाता रहा है। नाटक के मुख्य चरित्रों तक ही नाटककार का यह मनोवैज्ञानिक चित्रण सीमित रहा हो, यह बात भी नहीं है। उदाहरण के लिए हूणों के आक्रमणों से दुखी स्त्री-पुरुषों की यह दयनीय दशा देखिये। दुष्ट सेनापति की आज्ञा से बालकों को जलाया जाने वाला है। स्त्रियों के कोमल शरीर पर जलते हुए लोहों के दाग लगने वाले हैं। भला ऐसी दारुण विपत्ति में भगवान के सिवाय और कौन सहायक हो सकता है? भगवान तक अपनी करुण पुकार पहुँचाने के लिए, उनके हृदय में पीड़ित नागरिकों के लिए दया उत्पन्न करने के लिए

उ… पर न पड़े। यह सच है कि स्कन्द पुरगुप्त के समान नीच प्रकृति का … न होता, वह शायद साम्राज्य के विरुद्ध अन्तर्विद्रोह भी न … , परन्तु यह सोचना कि उसके हृदय में अभिलाषा की कोई यन्था नहीं … एक भूल कल्पना ही होगी। अस्तु।

स्कन्द इस आँधी को हटा देना चाहता है। लेकिन हटाये कैसे? वह तो हृदय की … अभिलाषा है। वैराग्य से? हो सकता है। स्कन्द इसी उद्देश्य से … करता है, "अधिकार-सुख कितना मादक और सारहीन है ……" इसमें सन्देह नहीं कि स्कन्दगुप्त अपने भावों को इतनी अच्छी तरह से दबाये हुए है कि उन्हें कोई जान भी नहीं सकता। वृद्ध पर्णदत्त सचमुच में स्कन्द को अपने अधिकारों के प्रति उदासीन समझता है। वह कहता है—"सन्देह दो बातों से है, सम्राट……अपने अधिकारों के प्रति आपकी उदासीनता और अयोध्या में नित्य नये-नये परिवर्तन।" स्कन्द पहली बात को टाल देता है और चट दूसरी पर आ जाता है। वह पूछता है—"क्या अयोध्या का कोई नया समाचार है?"

वृद्ध पर्णदत्त से भले ही यह बात छिपी हो लेकिन उसके साथ रहने वाला, उसका समवयस्क चक्रपालित उसकी उदासीनता का कारण जानता है। पर्ण के पूछने पर वह कितना स्पष्ट उत्तर देता है। मालव युद्ध के पश्चात् जब हम स्कन्द को चक्रपालित के साथ पाते हैं तो वह यही कहते हुए आता है, "चक्रपालित, संसार में जो सब से महान है, वह क्या है? त्याग। त्याग का ही दूसरा नाम महत्त्व है। प्राणों का मोह त्याग करना वीरता का रहस्य है" स्कन्द इसी त्याग की ओर बढ़ना चाहता है। अपने हृदय की उस मूक अभिलाषा को वह अब त्याग के नाम से बहला देना चाहता है। जहाँ पहले वह अधिकार नियम को तुच्छ और सारहीन बतलाता था—उससे विरक्त होने का प्रयत्न करता था—वहाँ उसी विचार के दूसरे पहलू से वह त्याग को महान समझता है। सचमुच में अपना सब कुछ दूसरे के लिए त्याग देना संसार में सब से महान है। स्कन्द उसी आदर्श की ओर जा कर अपनी

अपने ऊपर ले लिया है लेकिन वे परिस्थितियाँ कौन-सी हैं? कम से कम नाटककार ने यह कहीं भी नहीं बताया। अतएव स्कन्द का यह कथन कि "अधिकार सुख कितना मादक और सारहीन है" स्कन्द के अधिकारों के प्रति उदासीनता का परिचायक नहीं। अधिकार-प्रेम किसी न किसी अंश मे उनके हृदय मे विद्यमान था। और इसी कारण ही उन्होंने मालव का सम्राट होना भी अंगीकार किया था।

राजसिंहासन पर बैठने के पश्चात् स्कन्द फिर इसी विचार में लग जाता है। श्मशान मे घूमते हुए वह कहता है, "इस साम्राज्य का बोझ किसके लिए? हृदय मे अशान्ति, राज्य में अशान्ति, परिवार मे अशान्ति? केवल मेरे अस्तित्व से। मालूम होता है कि सब के—विश्व भर की—शान्ति रजनी मे मैं ही धूमकेतु हूँ, यदि मै न होता तो यह संसार अपनी स्वाभाविक गति से आनंद से चला करता। परन्तु मेरा तो निज का कोई स्वार्थ नहीं, हृदय के एक-एक कोने को छान डाला कहीं भी कामना की वन्या नहीं। बलवती आशा की आँधी नहीं चल रही है। केवल गुप्त सम्राट के वंशधर होने की दयनीय दशा ने मुझे इस रहस्यपूर्ण क्रिया-कलाप मे संलग्न रखा है। कोई भी मेरे अन्तःकरण का आलिंगन कर के न रो सकता है और न हँस ही सकता है। तब भी विजया......? ओह उसे स्मरण कर के क्या होगा।"

स्कन्द का यह स्वगत अन्य स्वगतों के ही अनुकूल है, अतएव यहाँ कुछ विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं। हाँ, वैराग्य उत्पन्न होने का एक कारण विजया का प्रेम भी है और इस कारण ठुकराये हुए प्रेम के प्रभाव से हृदय में अशान्ति हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। हृदय की आशाओं पर पानी फिरते ही—कल्पना के स्वप्नों के भग्न होने पर—यदि एक सम्राट साम्राज्य को बोझ मानने लगे तो वह साम्राज्य के प्रति उदासीनता नहीं।

पाँचवें अंक में कौमार्य व्रत धारण करने के पश्चात् स्कन्द पुरगुप्त को युवराज ही घोषित करता है, उस समय भी स्कन्द साम्राज्य

का भार पुरगुप्त को दे कर सन्यास का मार्ग नहीं लेता। अतएव स्कन्द-गुप्त के हृदय में सम्राट् बनने की अभिलाषा थी अवश्य, परन्तु वह प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण उन झंझटों से विलग रहने का ही प्रयत्न करता है; कभी अधिकार सुख को मादक और सारहीन बता कर तो कभी त्याग को संसार में सब से अधिक महत्व दे कर। तब क्या स्कन्द पाखण्डी था? क्या वह अपने हृदय में दूसरे भाव रख कर दूसरों को धोखा देने की चेष्टा करता था? नहीं। अन्तर्विद्रोह के विरुद्ध होने के कारण, सिंहासन के लिए अपनी इच्छा प्रगट कर वह अपने साथियों को विद्रोह के लिए नहीं भड़काना चाहता। इसी लिए वह सभी को अपनी उदासीनता से परिचित करा देना चाहता है। इस मनोवृत्ति को वह अपने हृदय तक से निकाल देने का प्रयत्न करता है। इसी कारण वह चक्रपालित पर क्रोधित होता है।

राष्ट्र की समस्या इस समय बड़ी विकट है। बन्धुवर्मा के ये भाव स्कन्द के भावों को अधिक व्यक्त कर रहे हैं "आर्य्यावर्त पर विपत्ति के प्रलय की मेघमाला घिर रही है। आर्य्य साम्राज्य के अन्तर्विरोध और दुर्बलता को आक्रमणकारी भली-भाँति जान गये हैं। शीघ्र ही देश-व्यापी युद्ध की सम्भावना है।" इसीलिए साम्राज्य की सुव्यवस्था के लिए आर्यावर्त की स्वाधीनता के लिए वह अन्तर्विरोध की अग्नि नहीं भड़काना चाहता। इसीलिए वह अपने अधिकारों के प्रति उदासीन है। इसी अन्तर्विरोध को बचाने के लिए ही तो देशभक्त पृथ्वीसेन महाप्रतिहार ने अपना बलिदान दिया था।

"महाप्रतिहार! सावधान! क्या करते हो? यह अन्तर्विद्रोह का समय नहीं है। पश्चिम और उत्तर से काली घटाएँ उमड़ रही हैं, यह समय बलनाश करने का नहीं है......परन्तु भटार्क जिसे तुम खेल समझ कर हाथ में ले रहे हो उस काल-भुजंगी राष्ट्रनीति की प्राण दे कर भी रक्षा करना। एक नहीं, सौ स्कन्दगुप्त उस पर न्यौछावर हैं।"

मगध का षड्यंत्र परिपक्व न होने पाया था कि अचानक स्कन्द-

वहाँ पहुँच गया। षड्यंत्र टूट गया, भटार्क और अनन्तदेवी की इच्छा पूर्ण न हो पाई। वे मनमाना द्वारा स्कन्द का सामना न कर सके, अतएव स्कन्द के सम्राट होने में कुछ भी रक्तपात का स्थान न रह गया। स्कन्द ने इसी लिए अपने को सम्राट घोषित कर दिया। बन्धुवर्मा का राज्य भी वह अपने साम्राज्य मे मिला लेता है क्योंकि वह तो पूरे आर्यावर्त का सम्राट होना चाहता था। स्कन्द का यह कथन कि "मैं केवल एक सैनिक बन कर रह सकूँगा सम्राट नहीं" केवल शिष्टाचार मात्र ही है।

स्कन्द की अन्तर्विद्रोह मे यह घृणा उसके देश प्रेम का परिचायक भी है और स्कन्द का केवल साम्राज्य का एक सैनिक होने की इच्छा करना उस प्रेम का प्रत्यक्ष प्रमाण है। देश की चिन्ता उसके जीवन की सब से बड़ी चिन्ता है। आर्यावर्त की दयनीय दशा उसके हृदय को व्यथित किये है। लेकिन वह साधारण सैनिक ही नहीं आत्मत्याग, उदारता और बलिदान की वह साक्षात् मूर्ति भी है। कर्तव्यनिष्ठ होना कर्मण्य होने की प्रथम सीढ़ी है। केवल संधि नियम ही नहीं शरणागत-रक्षा भी क्षत्रिय का धर्म है। अतएव यदि समस्या कठिन भी है तो क्या? "अकेला स्कन्दगुप्त मालव की रक्षा करने के लिए सन्नद्ध है। जाओ निर्भय निद्रा का सुख लो। स्कन्दगुप्त के जीते जी मालव का कुछ न बिगड़ सकेगा।" सचमुच मे "आर्य्य साम्राज्य के भावी शासक के उपयुक्त ही यह बात है" अन्यथा सम्राट का कार्य ही क्या—यदि वह भीषण परिस्थितियों में पड़ कर केवल अपना ही भला देखे और अपने अधीनस्थ राजाओं की समस्या सुलझाने मे असमर्थ रहे। स्कन्दगुप्त की यह उक्ति सचमुच वीरोचित ही है। ऐसे शासक को पा कर सचमुच मे ही गुप्त साम्राज्य की लक्ष्मी प्रसन्न होगी। अपने वचन के समान ही वह कर्म करने में भी साहसिक और वीर है। थोड़ी-सी सेना को ले कर हूणों और शकों की विजय को पराजय में परिणत करना उसी का काम है। कूट मंत्रणाओं और राजनैतिक कुचक्रों से भी स्कन्दगुप्त खूब परिचित

है। प्रत्येक परिस्थिति का धैर्य और विवेक से सामना करना ही नायक का काम है। चन्द्रगुप्त के समान वह थोड़ी-सी कठिनाइयों से घबड़ा नहीं जाता। गान्धार की घाटी और कुभा रणक्षेत्र में उसकी कार्यपटुता देखते ही बनती है। चक्रपालित और स्कन्दगुप्त समवयस्क होते हुए भी अपने चरित्रों में कितने भिन्न हैं? चक्रपालित में यौवन का जोश है, विवेक नहीं, वह परिस्थितियों से पूर्ण परिचित भी नहीं हो सकता है। यदि स्कन्द-गुप्त के स्थान पर कहीं चक्रपालित होता तो शायद कुभा रणक्षेत्र में युद्ध होने के पूर्व ही भटार्क विद्रोही बन बैठता। लेकिन स्कन्दगुप्त परिस्थितियों को देख कर कार्य करता है और इसी कारण वह किसी सीमा तक सफल हो सका है। "मैं भटार्क पर विश्वास तो करता ही नहीं परंतु उस पर प्रकट रूप से अविश्वास करने का भी समय न रहा" में "नहीं सम्राट उसे बन्दी कीजिये" की अपेक्षा कितनी विवेकशीलता है। स्कन्द और भटार्क का वार्तालाप भी सम्राट और उसके सेनापति का ही वार्तालाप है। स्कन्द अपने अधिकार और स्थिति का पूर्ण ध्यान रख कर ही सम्राटो-चित वार्तालाप करता है। भटार्क की अवहेलना करने पर भी—"तुम अभी बालक हो" वह उसे क्षमा ही कर देना चाहता है। लेकिन चक्र? उसमें इतना विवेक कहाँ? भटार्क यद्यपि स्कन्द को बालक ही समझता है, लेकिन उसके वाक्-चातुर्य के सामने उसे भी नतमस्तक हो जाना पड़ता है। भटार्क की निकलती हुई तलवार म्यान में ही रह जाती है। भटार्क के प्रस्थान के पश्चात् उसकी कार्य-प्रणाली उसकी दूरदर्शिता का बहुत सुन्दर परिचय देती है।

स्कन्द का प्रेम भी उसके स्वभावानुकूल गंभीर है। उसमें उच्छृङ्खलता या चंचलता नहीं। मालव युद्ध में विजया से मिलते ही उसके वीर हृदय में उस सुन्दरी के लिए प्रेमोदय हो गया था, लेकिन भावी सम्राट के लिए प्रेम के भाव अपने हृदय में ही बाँध रखना शोभा देता है—(विशेषकर जब देश की परिस्थिति शृंगार के लिए अनुकूल न हो)। विजया—उसकी प्रेयसी भी वह न जान पाई—खैर उसकी अज्ञानता

क्षमा भी है परन्तु देवसेना ? वह तो सन्देह के गर्त में ही रही आई। सम्राटाभिषेक के समय विजया जब भटार्क को वरण कर चुकी तो स्कन्द के हृदय में एक हलचल मच गई—वह अशान्त हो गया—लेकिन उसकी गंभीरता ने उसे मौन ही रखा। स्कन्द की प्रेमवंचित अशांति के परिचायक के साथ ही साथ उसकी गंभीरता और सम्राटोचित भाव-प्रदर्शन का दृश्य बड़ा सुन्दर है।

स्कन्द का देवसेना के प्रति प्रेम कर्त्तव्य के रूप में ही है। और इस रूप में उसका चरित्र अधिक आदर्शमान् है। आगे चल कर यह कर्त्तव्य-प्रेम अवश्य ही सच्चा प्रेम बन जाता, और उससे उसके हृदय की उच्छृंखलता नहीं मालूम होती।

देवसेना का चरित्र प्रसाद की एक अलौकिक भेंट है। प्रकृति की गोद में पली हुई वनदेवी के मूक प्रणय की यह करुण कहानी है। देश और प्रेम के लिए जिसका उत्सर्ग पारिजात के फूल से भी कोमल, हिमालय से भी महान् और वेदना से भी कठोर रहा हो, जिसने कोयल के मधुर संगीत में अपनी वेदना का स्वर मिला कर हृदय में क्रन्दन मचाने वाले संगीत की रचना की हो, आई हुई थाती को—वर्षों के मीठे स्वप्नों के साकार स्वरूप को—कल्पना की मीडों द्वारा पाली हुई आकांक्षाओं के सुफल को—वापिस लौटा दिया हो, उसी बाला का यह सौम्य सुन्दर चित्र है। पति-परायण सती जयमाला के मधुर प्रेम से आलोकित, उदार हृदय बंधुवर्मा के सुखी कुटुम्ब में ही इस बालिका का चरित्र निर्मित हुआ था। जिसे प्रकृति के संगीत ने अपने जीवन को संगीत की तान बनाने की शिक्षा दी थी, उस बालिका का—उस देवसेना का—चरित्र हिमकिरणों से भी उज्ज्वल, शिशु से भी सरल, सावित्री सा आदर्शमान् और प्रकृति सा ही नियामक होना स्वाभाविक है। उसमें विजया के हृदय की उच्छृंखलता नहीं, जो महत्त्वाकांक्षी का पुजारी रहे; उससे विजया की भीरुता नहीं, जो कटारी को हृदय पर रखने में भयानकता समझे; उसमें विजया का स्वार्थ नहीं, उथला देश-

प्रेम नहीं, प्रेम क्रय करने की इच्छा नहीं। देवसेना का चरित्र विजया के चरित्र के विरोधी उपकरणों की संसृति है। देवसेना की निर्मल ज्योति को और भी अधिक दीप्तमान् करने के लिए ही विजया के चरित्र के गहन अंधकार का सृजन हुआ है। पाप के समकक्ष ही पुण्य का आलोक पूर्ण रूप से विकसित होता है—रात्रि में ही शशि राका के शीतल सौंदर्य से हम चकित होते हैं। विजया और देवसेना का सम्पर्क भी आलोक को और भी अधिक दीप्तमान् करने को है।

प्रथम अंक के अन्तिम दृश्य में जब पहली बार हमें इस प्रेम-प्रतिमा के दर्शन होते हैं तो उसका सच्चा चरित्रत्व हमें मुग्ध कर लेता है। युद्ध के समय भी गान? जिसका पूर्ण जीवन ही संगीतमय हो गया हो, जो प्रकृति की प्रत्येक क्रियाओं में एक तान, एक लय सुना करती है उसे युद्ध क्या? और प्रेम क्या? जब प्रकृति ही संगीतमय है तो उसके दो रूप युद्ध और प्रेम दोनों संगीतमय हैं। जिसने यह संगीत न सुना, जिसने उस लय में अपना स्वर न मिलाया उसका जीवन भी सार्थक न हुआ। जिसने इस विश्ववीणा के स्वर से अपना स्वर विकृत रखा वह क्या प्रकृति का अनुगामी है? वह प्राकृतिक हो कर भी कृत्रिम है। "बिना गान के कोई कार्य्य नहीं। विश्व के प्रत्येक कम्प में एक ताल है" जिसने सुना नहीं उसका दुर्भाग्य। देवसेना कल्पना लोक की देवी है जिसे प्रत्यक्षवाद कभी भी क्रूर दृश्यों की ओर नहीं ले जाता। वह दूर आकाश में एक स्वर्ण रश्मि के समान, मूक प्रेम का मादक गान करती हुई हमारे सामने से निकल जाती है। हम उसे देखते हैं, सुनते हैं, देख कर सुन कर चकित होते हैं और फिर उसे इहलोक का वासी जान उसके सामने श्रद्धा से सिर झुका लेते हैं। उसने अपना जीवन ही प्रकृति के परमाणुओं मे मिला दिया है—भयंकर प्रलयकारिणी प्रकृति के रूप में नहीं—सौम्य सरल सुखदा प्रकृति माँ के स्वरूप में। उसने अपना स्वर उसी की वीणा में मिला दिया है। अतएव प्रकृति के समान ही हमारी पूजा की—श्रद्धा की—देवी बन जाती है। वनदेवी

के समान ही वह अपने अस्तित्व को मानवी जगत से भिन्न रखे हैं।

लेकिन देवसेना कोई वनदेवी नहीं, कोई सुरबाला नहीं। वह भी इसी संसार की एक सरल हृदय रमणी है। उसने प्रेम करना भी सीखा है परन्तु उसका प्रेम मानवीय स्वार्थ का प्रेम नहीं, जो अपने प्रेमी को अपने अन्तराल मे छिपाने का प्रयत्न करता है। यदि प्रेम सचमुच मे परमात्मा है तो वह प्रेम के उत्सर्ग, बलिदान और त्याग मे ही वास करता है क्रय करने वाले प्रेम मे नहीं—अपने को बेच कर उसके बदले मे कुछ रखने की इच्छा मे नही। जब हमने ही अपना सारा अस्तित्व तुम्हीं को अर्पित कर दिया, जब हमारा स्वय ही कुछ न बचा तो तुमसे किसके लिए कुछ मॉगूॅ। तुमको पाना भी तो व्यर्थ है। प्रेम की चरम सीमा शरीर का नहीं आत्माओं का मिलन है। उसी को भक्त लोग मोक्ष और प्रेमी प्रेम कहता है। आत्मसमर्पण ही यदि प्रेम है तो फिर उसमें स्वार्थ कहॉ, अपनत्व कहॉ? इसी कारण प्रेम सदैव एक के लिए होता है। दो से होने वाला प्रेम, प्रेम न रह कर वासनामात्र ही रह जाता है। विजया और देवसेना के प्रेम में यही अन्तर है। एक प्रेम परमात्मा का स्वरूप है और स्वर्ग की सृष्टि करता है। दूसरा अपनी भौतिक और शारीरिक अभिलाषाओं को पूर्ण करने का साधनमात्र ही है।

प्रेम की केवल एक इच्छा होती है। वह चाहता है कि उसका देवता उसकी पूजा को—उसकी भेट को स्वीकार कर ले। अन्य पुजारियों से उसे कोई द्वेष नहीं। परन्तु यदि उसकी भेट की उपेक्षा होती है—यदि उसकी भेट ठुकरा दी जाती है तो उसका हृदय कॉच के समान ही थोडे से आघात से टुकडे-टुकडे हो जाता है। उसकी सारी अभिलाषाऍ, सारी इच्छाऍ ही विलीन हो जाती हैं। उसका जीवन से और उसके सुख से फिर कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता। उसे सिद्धि से ही क्या और ईश्वर से ही क्या?

"परन्तु मुझे सिद्धि से क्या प्रयोजन? जब मेरी कामनाऍ विस्मृति

के नीचे दबा दी गई हैं तब वह स्वयं चाहे ईश्वर ही हो तो क्या ?"

"विस्मृति" की इसी वेदना ने देवसेना के जीवन में करुणता ला दी है। मीठी संगीत की तान जब करुण रस की धारा बहाती है तो हमारे हृदय को हिला देती है। हमारे अस्तित्व को ही कुछ क्षणों के लिए भुला देती है। इसी कारण से ही शायद वागेश्वरी इतनी सर्वप्रिय है। वागेश्वरी की करुणता भले ही उतनी लोकप्रिय न हो, लेकिन जब वह देवसेना के रूप में प्रगट होती है तब कोई भी ऐसा नहीं जो उसके सामने अपने को विस्मृत न कर दे। देवसेना के सर्वप्रिय होने का यही रहस्य है।

तृतीय अंक मे जहाँ देवसेना और उसकी सखियों का परिहास हम उपवन में देखते हैं, वहाँ देवसेना का दारुण दुख फूट कर निकल पड़ता है। हँसमुख चेहरे पर उदासी की झलक दिखाई दे जाती है। जयमाला कहती है—

"तू उदास है कि प्रसन्न, कुछ समझ में नहीं आता। जब तू गाती है तब तेरे भीतर की रागनी रोती है और जब हँसती है तब जैसे विषाद की प्रस्तावना होती है।"

हास्य और करुण के इस सम्मेलन ने इस दृश्य को और भी अधिक करुण बना दिया है। इसी कारण से ही देवसेना की पीड़ा इतनी अधिक बढ़ जाती है कि उसकी आँखों से आँसू बहने लगते हैं, फिर भी हृदय के उफान को दबाने का प्रयत्न कितना सुन्दर है।

त्याग तो मानो उसके चरित्र में मूर्तिमान् हो कर ही आ गया है। विजया के लिए तक वह अपने सर्वस्व को लुटा देना चाहती है। विजया स्कन्द को प्रेम करती है तो अच्छा है, भगवान के तो अनेकों पुजारी होते हैं। सच्ची पूजा से ही तो भगवान प्रसन्न होते हैं। विजया के कारण ही देवसेना अपने प्रेम को अपने अन्तरतल मे ही छिपाये रही। प्रेम तो हृदय की मनोवृत्ति है, उसे स्पष्ट करने से क्या लाभ ? फिर भी आशा और निराशा की हिलोरें मुख पर सुख और दुख की रेखाएँ

अंकित कर ही देती है। विजया चक्र की ओर आकृष्ट हुई। देवसेना की आशा में फूल लगना प्रारम्भ हो गया। उसका स्वर्ग शायद उसे मिल जावे, फिर भी कितना अस्पष्ट उल्लास है। विजया बेचारी देवसेना के सुख को कैसे जान सकती है? वह तो उसके हृदय का स्रोत था, जो हृदय मेरु में मँडराता हुआ सगीत के छोटे से झरने से बाहर निकल पड़ा था।

आत्मसमर्पण ही तो मोक्ष है। त्याग से ही तो ईश्वर मिलता है। देवसेना इसी त्याग की कितनी सुन्दर व्याख्या करती है—उसकी संगीत-रुचि ने त्याग को भी संगीतमय बना दिया है। "भाभी, सर्वात्मा के स्वर में, आत्मसमर्पण के प्रत्येक ताल में अपने विशिष्ट व्यक्तित्व का विस्मृत हो जाना एक मनोहर संगीत है। क्षुद्र स्वार्थ, भाभी, जाने दो, भइया को देखो—कैसा उदार, कैसा महान् और कितना पवित्र!"

उसे सबसे अधिक दुःख इस बात का है कि विजया उसके प्रेम को इतना साधारण समझती है। वह विजया के स्थान को मोल लेना नहीं चाहती थी, इसी कारण कापालिक के समीप अपनी मृत्यु जान कर वह कहती है—

"परन्तु कापालिक, एक और भी इच्छा मेरे हृदय में है वह पूर्ण नहीं हुई है। मैं डरती नहीं हूँ। केवल उसके पूर्ण होने की प्रतीक्षा है। विजया के स्थान को मैं कदापि ग्रहण न करूँगी। उसे भ्रम है यदि वह छूट जाता।"

देवसेना के दुख को पूर्ण विरह-दुख समझना भूल ही होगा। उस आत्माभिमानिनी को अपने प्रेम का मूल्य हलका होना सबसे अधिक खटकता है। जिसके भाई ने देश-प्रेम के कारण अपने देश को निःस्वार्थता से त्याग दिया हो उसके त्याग को स्वार्थ के रूप में देखना उसे असह्य था। वह अपने प्रेम का मूल्य नहीं रखना चाहती थी। वह प्रेम क्रय न करना चाहती थी।

कुछ लोगों के विचार से प्रेम और विरह ही लोगों को कवि बना

देते हैं। दूसरे कवियों के उदाहरण में यह बात भले ही सच न हो परन्तु देवसेना की भावव्यक्ति किस कविता से कम रह जाती है? वह स्वयं एक काल्पनिक लोक की रमणी है, कल्पनामय उसका जीवन है। क्षण-क्षण पर उसकी कल्पना सुन्दर चित्रों की व्यवस्था करती जाती है। मूक प्रणय की निष्ठुर पीड़ा ने उसके भावों को और भी अधिक तीव्र कर दिया इसलिए ये भाव बिना कल्पना के सहारे शायद स्पष्ट ही न हो सकते। इसी कारण ही देवसेना का वार्तालाप काव्य रूप में प्रवाहित होता है। उसका सारा जीवन ही कवितामय हो गया है। वह सोचती है लेकिन उसके भाव काव्य के अनंत स्रोत में बह रहे हैं।

"संगीत सभा की अन्तिम लहरदार और आश्रयहीन तान, धूपदान की एक क्षीण गंध धूम-रेखा, कुचले हुए फूलों का म्लान सौरभ और उत्सव के पीछे का अवसाद, इन सबों की प्रतिकृति—मेरा क्षुद्र नारी जीवन? मेरे प्रिय गान? अब क्यों गाऊँ और क्या सुनाऊँ? इस बार-बार के गाये हुए गीतों में क्या आकर्षण है—क्या बल है जो खींचता है? केवल सुनने की ही नहीं प्रत्युत उसके साथ अनतकाल तक कंठ मिला रखने की इच्छा जग जाती है।" अस्तु।

देवसेना का त्याग विजया की उच्छृङ्खलता से कितना भिन्न है—कितना गौरवपूर्ण है। अपने स्वार्थ के लिए वह अपने कर्तव्य से नहीं हटना चाहती—"आपको अकर्मण्य बनाने के लिए देवसेना जीवित न रहेगी।" देवसेना का यह त्याग कितना प्रेमपूर्ण है, कितना ऊँचा है। जिसके लिए वह अपने जीवन भर स्वप्न देखती रही—उसी द्वार पर आये हुए भिखारी को वह लौटा रही है। विजया के समान इसमें प्रतिहिंसा नहीं। यह प्रेम की ही चरम सीमा है जहाँ अपने प्रेमी के सुख और आदर्श के लिए अपने सर्वस्व की तिलांजलि दे दी जाती है।

"सम्राट् क्षमा हो। इस हृदय में''' आह कहना ही पड़ा। स्कन्दगुप्त को छोड़ कर न तो कोई दूसरा आया और न वह जायगा। अभिमानी भक्त के समान निष्काम हो कर मुझे उसी की उपासना करने दीजिये, उसे

कामना के भँवर मे फँसा कर कलुषित न कीजिये। नाथ! मैं आपकी ही हूँ, मैंने अपने को वचन दे दिया है अब उसके बदले कुछ लिया नहीं चाहती।"

कर्तव्य करने मे महान् सुख है, परन्तु वह आदर्श सुख इस लोक मे नहीं, उस लोक में मिलता है। जीवन भर की आकांक्षाओं का त्याग कर देना महान् बलिदान है। जहाँ सब कुछ अपने देवता को अर्पण कर दिया जाता है, जहाँ अपना निज का कुछ नहीं, वहाँ स्वयं वैराग्य की भावना-सी जागृत हो जाती है।

"हृदय की कोमल कल्पना! सो जा। जीवन में जिसकी संभावना नहीं जिसे द्वार पर आये लौटा दिया था, उसके लिए पुकार मचाना क्या तेरे लिए अच्छी बात है? आज जीवन के भावी, सुख, आशा और आकांक्षा सबसे में विदा लेती हूँ।" इसी वैराग्य भाव से उत्पन्न देवसेना की यह उक्ति क्या किसी महात्मा की उक्ति से कम है।

"कष्ट हृदय की कसौटी है, तपस्या अग्नि है। सम्राट्, यदि इतना भी न कर सके तो क्या! सब क्षणिक सुखों का अन्त है जिसमें सुखों का अन्त न हो इसलिए सुख करना ही न चाहिए। मेरे इस जीवन के देवता! उस जीवन के प्राप्य! क्षमा!"

देवसेना के चरित्र के इसी विकास के कारण नाटक की समाप्ति शान्त रस में होती है। प्रारंभ में जो कुछ भी स्वार्थ का अंश था परिस्थितियों की महान् अग्नि मे तप कर वह परमार्थ के रूप मे पूर्ण रू‍ से चमकने लगा। जहाँ केवल विजया का प्रश्न था वहाँ वह बन्धुवर्मा, देश और प्रियतम के प्रति कर्तव्य का प्रश्न बन गया।

भटार्क का चरित्र स्कन्द और देवसेना के चरित्रों के समान जटिल नहीं है, वह एक कर्तव्यनिष्ठ देश-प्रेमी, स्वामिभक्त और सत्यप्रति‍ -व्यक्ति है। यदि उसमे कोई दोष था तो वह थी उसकी महत्त्वाकांक्षा महत्त्वाकांक्षा तो संसार के सभी व्यक्तियों मे पाई जाती है क्योंकि उस 'पर उन्नति की लालसा अवलम्बित है। परन्तु यदि अपने स्वार्थ के

लेते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि कुमारगुप्त की हत्या के समय उसने खूब होशियारी से काम लिया है, लेकिन इसमें उसकी वीरता नहीं कार्य-पटुता ही मालूम होती है।

दम्भ के साथ ही साथ भटार्क की महत्वाकाक्षाओं ने उसको मनुष्य से पशु बना दिया। उसकी अभिलाषा साम्राज्य के सर्वोच्चपद पर पहुँचने की है। कुमारगुप्त के सामने भी उसने सौराष्ट्र के सेनापति बनने की इच्छा प्रगट की थी, परन्तु वह फलवती नहीं हुई। उसी पद को पाने के लिए वह सदैव प्रयत्न करता रहा। वीरता के दम्भ ने उसे और भी अन्धा बना दिया। अपने ही प्रयत्नों से वह उच्चपदासीन होना चाहता है। कभी-कभी यह लालसा उसे सत्पथ से भी अलग कर देती है—"मैं सज्जनता का स्वाग नहीं ले सकता, मुझे यह नहीं भाता। मुझे जो कुछ लेना है, वह जैसे मिलेगा लूँगा। साथ दोगे तो तुम भी लाभ में रहोगे।" शर्व को भी वह अपने कुचक्रों में भविष्य के सुखों को सामने रख कर घसीटना चाहता है। भविष्य के भौतिक सुखों के लिए वह समझता है कि प्रत्येक मनुष्य अपने कर्तव्य से विचलित हो जावेगा।

यदि भटार्क में ये दोष न होते तो सम्भव है वह स्वामिभक्त, चरित्र-वान् और गुणसम्पन्न व्यक्ति होता। वह गम्भीर है और सद्गुणों का पुजारी। पृथ्वीसेन महाप्रतिहार और दण्डनायक की मृत्यु के बाद जहाँ पुरगुप्त उन्हें पाखण्डी समझ कर तिरस्कार से देखता है वहाँ भटार्क को इन स्वामिभक्त सेवकों की मृत्यु से दुःख होता है। वह सोचता है उससे कुछ भूल हो गई है।

"पुरगुप्त—पाखंड स्वयं विदा हो गये। अच्छा ही हुआ।

भटार्क—परन्तु भूल हुई। ऐसे स्वामिभक्त सेवक...।"

अच्छे गुणों को परखनेवाला, उनकी सराहना करने वाला स्वयं गुणी होता है। वह भी कभी उस आदर्श को अपनाने का प्रयत्न करता है। यही चरित्र में सुधार होने की आशा रहती है। उपर्युक्त दोषों से शून्य होने पर वह भी इन्हीं अमर आत्माओं के समान स्वामिभक्त होता,

परन्तु भविष्य के काल्पनिक सुखों की आशा ने उसे घृणित और निंदनीय कार्य करने का साधन बनाया। पुरगुप्त के जाने के एक क्षण पश्चात् ही वह कह उठता है—"तो आर्य सब जायें, गुप्त साम्राज्य के धीरों से उज्ज्वल हृदय वीर युवकों का शुद्ध रक्त सब मेरी प्रतिहिंसा राक्षसी के लिए बलि हो।"

इसी तरह प्रत्येक कुकर्म करने के पूर्व भटार्क की सद्बुद्धि उसे सजग करती है। वह कुचालों से दूर रहने का यथाशक्ति प्रयत्न करता है, परन्तु दम्भ और महत्वाकांक्षा के कारण वह सदैव विचलित हो जाता है। महादेवी देवकी के वध करने के प्रस्ताव का उसने समर्थन किया परन्तु उसका विवेक इसके विरुद्ध है। वह शर्वनाग के समान कर्तव्य-निष्ठ भले ही न हो, परन्तु उसके समान उसके हृदय में भी पाप करने के पूर्व एक घृणा पैदा होती है। वह प्रपंचबुद्धि के प्रस्ताव से स्वयं चकित होता है। वह उससे पूछता है—"परंतु महास्थविर, क्या इसकी अत्यंत आवश्यकता है?" लेकिन प्रपंच उसका धर्मगुरु है जिसकी आज्ञा का पालन वह कर्तव्य से भी अधिक महान् समझता है। प्रपंच इसकी नितांत आवश्यकता समझता है और भटार्क भी इसमें अपना भावी सुख देख कर तैयार हो जाता है।

"भटार्क—क्या वह टल गई? (आश्चर्य से देखता है)

शर्व—क्यों सेनापति टल गई?

प्रपंच—उस विपत्ति का निवारण करने के लिए ही मैंने यह कष्ट सहा। मैं तुम लोगों के भूत, भविष्य और वर्तमान का नियामक, रक्षक और द्रष्टा हूँ। जाओ अब तुम लोग निर्भय हो।

भटार्क—धन्य गुरुदेव!

शर्व—आश्चर्य!"

भटार्क में एक मिथ्या अहंकार अपनी सत्यनिष्ठा का भी है। सन्मार्ग में वही पवित्र आचरण बन जाता। अनंतदेवी और पुरगुप्त से प्रतिश्रुत

होने के कारण उसने बुरा मार्ग अपनाया। फलतः अन्त में वह हूणों से सधि कर आर्यावर्त का पतन करता है। वास्तव में वह साम्राज्य के विरुद्ध कोई कार्य नहीं करना चाहता था।

भटार्क का यह दोष काल और परिस्थति के बीच दुराचरण ही समझा जावेगा। लेकिन वह अपनी बुद्धि के अनुसार सत्कार्य में ही लगा था। जो हो भटार्क का चरित्र सुन्दर और घृणित कर्मों का सम्मिश्रण है। प्रारंभ में दुराचरण का ही प्रभाव उसकी प्रकृति पर मुख्य है। क्रमशः नित्य की भूलों ने उसकी दुर्वृतियों का नाश कर डाला और उसकी आन्तरिक चेतना जागृत होने लगी—उसे अपनी भूल मालूम होने लगी। जो पहिले स्कन्द का शत्रु था, अब उसका सेवक बन गया। जिसने अपने कर्मों से देश को म्लेच्छों के हाथ सौंप दिया था, वही अपने ही धन से सेना संकलित कर देशोद्धार में लग गया।

चन्द्रगुप्त मौर्य्य

(विश्वंभर मानव)

'चन्द्रगुप्त मौर्य्य' ऐतिहासिक नाटक है। तक्षशिला के महाराज आम्भीक ने ३२६ ई० पू० तक्षशिला में आक्रमणकारी सिकन्दर का स्वागत किया और द्वेष के कारण पोरस का विरोधी बन कर शत्रु का साथ दिया। पोरस परास्त हुआ, पर उसकी वाणी में राजोचित गरिमा के दर्शन से मुग्ध हो सिकन्दर ने उसका राज्य उसे लौटा दिया। प्लूटार्क का कहना है कि चन्द्रगुप्त की सिकन्दर से भेंट हुई थी और जस्टिनस ने तो बालक चन्द्रगुप्त के उद्दण्ड व्यवहार पर अप्रसन्न हो कर सिकन्दर द्वारा उसके वध की आज्ञा तथा भाग कर उसके बच आने की चर्चा भी की है। नन्द को अप्रसन्न कर के मगध से भाग आने की बात भी यही लेखक कहता है। ई० बी० हैवेल ने तक्षशिला के प्रसिद्ध विद्यालय में चाणक्य के रहने, उस विद्यालय के विद्रोह का केन्द्र बनने और चन्द्रगुप्त के चाणक्य का शिष्य होने का उल्लेख किया है। मालवों से युद्ध करते समय सिकन्दर एक बार घायल भी हुआ। भारत से लौटने पर उसने फिलिप को यहाँ का क्षत्रप नियुक्त किया। ३२३ ई० पू० में सिकन्दर की मृत्यु हो गई। इसके उपरान्त ३२२ ई० पू० में चन्द्रगुप्त ने पञ्जाब पर आधिपत्य जमाया और चाणक्य तथा पर्वतेश्वर को ले कर वह मगध पहुँचा। नन्द की हत्या के उपरांत ३२१ ई० पू० मे वह वहाँ का शासक हुआ और दक्षिण विजय करने चल पड़ा। ३०५ ई० पू० में सिल्यूकस निकैटर ने भारत पर आक्रमण किया। इस आक्रमण में सिल्यूकस पराजित हुआ और सिन्धु के पश्चिम का ग्रीक-राज्य तथा काबुल, कन्धार, हिरात और गैड्रोशिया के प्रान्तों को चन्द्रगुप्त को दे कर तथा महाराज को अपना जामाता बना कर एण्टीगोनस का सामना करने के लिए वह

लौट गया। चन्द्रगुप्त ने प्रसन्न हो कर ५०० हाथी सिल्यूकस को दिए तथा मेगस्थनीज को अपने दरबार में यूनानी राजदूत बन कर रहने की आज्ञा दी।

ये ऐतिहासिक घटनायें हैं जिनके आधार पर 'चन्द्रगुप्त' का प्रणयन हुआ है। अपनी ओर से नाटककार ने बहुत कम घटाया बढ़ाया है, इतिहास की रेखाओं के भीतर ही रंग भरा है। नाटक के पुरुष पात्रों में सिकन्दर, सिल्यूकस, फिलिप्स, आम्भीक, पर्वतेश्वर, चन्द्रगुप्त, चाणक्य, नन्द, राक्षस, वररुचि, शकटार सभी ऐतिहासिक पात्र हैं। यवनदूत साइबर्टियस भी काल्पनिक नहीं है। प्रथम अङ्क के छठे दृश्य में मालविका ने उद्भांड में मानचित्र बनाने की अलका से बात कही है। सिकन्दर के समय में सिंधु नदी का घाट अटक से १६ मील उत्तर उद्भांडपुर में ही था। ऐसी छोटी बातों के ग्रहण करने से प्रसाद की सतर्कता की ओर भी प्रशंसा करनी पड़ती है। पाटलिपुत्र की स्थिति के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है। यह आधुनिक पटना के स्थान पर ही मगध की राजधानी थी और गंगा और सोन के संगम पर बसा हुआ था। अब तो वहाँ खुदाई होने से बहुत सी नवीन बातों का पता चला है। कल्याणी के मुख से प्रसाद ने कहला दिया है, "मगध के राजमंदिर उसी तरह खड़े हैं; गंगा शोण से उसी स्नेह से मिल रही है।"

नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करने के लिए ही उन्होंने थोड़े से परिवर्तन किये हैं जिनका उन्हें पूर्ण अधिकार है। इतिहास इस बात का साक्षी नहीं है कि फिलिप की मृत्यु चन्द्रगुप्त के हाथों द्वन्द्वयुद्ध में हुई, पर दोनों के जीवन में कार्नेलिया के आने पर प्रेम में प्रतिद्वन्द्वी की मृत्यु करा के कथा को रोचकता प्रदान की गई है। स्त्री-पात्रों के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। वे हो सकती हैं, पर नामों की यथार्थता का दावा नहीं किया जा सकता। सिल्यूकस की कन्या का नाम राय महोदय ने 'हैलन' दिया है, प्रसाद ने कार्नेलिया। दोनों नाम काल्पनिक प्रतीत होते हैं। कुछ इतिहासकार तो इस वैवाहिक सम्बन्ध पर शंका भी प्रकट करते हैं।

प्रसाद ने अपने 'मौर्यवंश' लेख में इस बात पर बहुत जोर दिया है कि चन्द्रगुप्त क्षत्रिय था। उन्होंने चंद्रगुप्त को पिप्पलीकानन (बस्ती जिले में नैपाल की सीमा पर) के क्षत्रियों का वंशज ही माना है। ग्रीक इतिहासकारों ने जो यह भ्रम फैलाया है कि वह मुरा नाम की शूद्रा नाइन के गर्भ से उत्पन्न हुआ था, उसका निराकरण उन्होंने किया है। उनका कहना है कि मुरा से मौर और मौरेय बन सकता है, न कि मौर्य्य। इसके लिए उन्होंने इधर उधर के बहुत से प्रमाण दिये हैं, पर मुख्य आधार बौद्ध-ग्रंथ 'महावंश' है जिसका उपयोग प्रसाद ने और बहुत से इतिहासकारों ने किया है। 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री आव इण्डिया' में चन्द्रगुप्त को शूद्रत्व से मुक्त किया गया है। विंसेण्ट स्मिथ भी उसके शूद्र होने पर शंका प्रकट करते हैं।

मेरे कहने का तात्पर्य्य यह न समझा जाय कि प्रसाद ने जिस सामग्री का उपयोग 'चन्द्रगुप्त' नाटक में किया है, वह क्योंकि सरलता से इतिहास-ग्रंथों में मिल जाती है, अतः उनके अध्यवसाय का कोई मूल्य नहीं। उन्होंने अपनी भूमिका अपने ढंग पर विशेष रूप से भारतीय ग्रंथों के आधार पर अत्यन्त परिश्रम से लिखी है और उसका मूल्य है। डी. एल. राय ने ऐतिहासिक खोज में अपना सर नहीं खपाया। मुरा के नाम पर ही मौर्य्य राज्य के स्थापित करने की बात उन्होंने कही है और इसे चन्द्रगुप्त की मातृ-भक्ति का प्रमाण माना है। मुद्राराक्षसकार ने भी चन्द्रगुप्त के लिए 'वृषल' शब्द का प्रयोग किया है जो भाव से हीनता का द्योतक ही प्रतीत होता है; पर प्रसाद चन्द्रगुप्त के क्षत्रित्व के प्रचार के लिए इतने उत्सुक थे कि नाटक में उन्होंने अवकाश निकाल कर उसकी व्याख्या की है—

पर्वतेश्वर—हाँ, तो इस मगध-विद्रोह का केन्द्र कौन होगा? नन्द के विरुद्ध कौन खड़ा होता है?

चाणक्य—मौर्य्य-सेनानी का पुत्र वीर चन्द्रगुप्त जो मेरे साथ यहाँ आया है।

होता है, सच्ची बात सुनाने पर अपमान होता है, उसे कारागार में डाल दिया जाता है और विदेशियों के आक्रमण तथा स्वदेशियों की फूट और अत्याचार से देश के छिन्नभिन्न होने की आशंका उसे सामने दिखाई देती है, तब वह अपना कर्म-पथ बदल देता है। जो कुछ उसने किया उसे वह करना न चाहता था, इस बात को चन्द्रगुप्त से उसने स्वीकार किया है—

"मैं ब्राह्मण हूँ। मेरा साम्राज्य करुणा का था, प्रेम का था। धार्मिक विनोद कर्म था। सन्तोष धन था। उस अपनी, ब्राह्मण की जन्मभूमि को छोड़ कर कहाँ आ गया! मेरा जीवन राजनीतिक कुचक्रों से कुत्सित और कलंकित हो उठा है। किसी छाया-चित्र, किसी ऐन्द्रजालिक महत्त्व के पीछे, भ्रमपूर्ण अनुसन्धान करता दौड़ रहा हूँ। शान्ति खो गई, स्वरूप विस्मृत हो गया!"

कुटिल राजनीतिज्ञ होने के कारण ही चाणक्य का दूसरा नाम कौटिल्य है। सफल नीतिज्ञ की पहली पहचान यह है कि उसे मनुष्यों और परिस्थितियों की खरी परख होनी चाहिये। चाणक्य को मनुष्य के स्वभाव, उसकी शक्तियों और दुर्बलताओं का जैसा ज्ञान था वैसा शायद ही किसी को हो। चन्द्रगुप्त को देखते ही उसने पहचान लिया था कि वह राजा होने योग्य है। पर्वतेश्वर से उसने कहा था, "पौरव! जिसके लिए कहा गया है कि क्षत्रिय के शस्त्र धारण करने पर आर्तवाणी नहीं सुनाई पड़नी चाहिए, मौर्य चन्द्रगुप्त वैसा ही क्षत्रिय प्रमाणित होगा।" पर्वतेश्वर से बातें करते ही उसने क्षुब्ध हो कर कहा था, "शौर्य गर्व से तुम पराभूत होगे।" नन्द के आचरण से उसने निष्कर्ष निकाल लिया था कि उसका विनाश निकट है। सिंहरण को समझता था कि वह विश्वस्त मित्र सिद्ध होगा। सिकन्दर-पौरव युद्धकाल में जब कल्याणी मगध की सेना को ले कर लौट जाना चाहती है, तब वह उसे केवल यह कह कर उलझाने का प्रयत्न करता है, "परन्तु राजकुमारी, उसका (चन्द्रगुप्त का) असीम प्रेमपूर्ण हृदय भग्न हो जायगा।" और मालविका के प्रेम की दुर्बलता को पहचान कर तो उसने चन्द्रगुप्त के लिए

नन्द की हत्या करा दी।

मनुष्यों के अध्ययन के उपरान्त स्थितियों का अध्ययन उसका बहुत स्पष्ट है। वह जानता था कि विदेशियों की बाढ़ भारत को निगलने के लिए आ रही है, वह जानता था कि देश के शक्तिशाली व्यक्तियों में राष्ट्राभिमान नहीं है, वह जानता था कि गणतन्त्रों और राज्यों मे एकता का भाव नहीं है—सारा देश द्वेष से जर्जर हो रहा है। इसीसे वह कभी आम्भीक को समझाता है, कभी पर्वतेश्वर के पास दौड़ा जाता है, कभी नन्द को चेतावनी देता है—जैसे सारे राष्ट्र के कल्याण का भार बिना किसी के सौंपे ही उसने अपने ऊपर ले लिया है। उसकी बात न कोई सुनता है और न समझता है। पर वह हताश नहीं होता। उसकी सी उद्यम-शीलता के उदाहरण कम मिलेंगे।

चाणक्य के सामने दो विकट कार्य थे (१) विदेशियों को निकालना, (२) चन्द्रगुप्त को सम्राट् बनाना। सिकन्दर के आक्रमण के समय मालव, क्षुद्रक आदि गणतन्त्रों को छोड़ कर उस समय तीन वैभवशाली राज्यों के तीन प्रभावशाली राजा थे—नन्द, पोरस और आम्भीक। ये तीनों ही मिल कर खड़े नहीं हो सकते थे। पर्वतेश्वर ने अकेले सिकन्दर का सामना किया। आम्भीक उसका इसलिए विरोधी था कि पर्वतेश्वर ने उससे अपने लोक-विश्रुत कुल की कुमारी का विवाह नहीं किया। नन्द इसलिए अप्रसन्न था कि उसने उसे शूद्र समझ कर उसकी पुत्री कल्याणी से परिणय करना अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार दोनों ओर से विवाह विरोध का कारण हुआ। चाणक्य की यह विशेषता है कि जितनी उलझनमय स्थिति होती है उतने ही अधिक कौशल से वह काम करता है। एक उदाहरण लीजिये। पोरस की पराजय के उपरान्त जब आम्भीक के साथ ही पोरस भी एक प्रकार से सिकन्दर का अविरोधी बन जाता है और यूनानियों द्वारा मगध के कुचले जाने की आशङ्का है, उस समय चाणक्य इस भयंकर परिस्थिति को केवल अपने बुद्धिबल से सँभालता है। गणतन्त्रों की युद्ध-परिषद् चन्द्रगुप्त को

के उपरान्त सिल्यूकस आ धमका। उस समय तक चन्द्रगुप्त की शक्ति को चाणक्य ने इतना दृढ़ कर दिया था कि सिल्यूकस के छक्के छूट जाते हैं।

चन्द्रगुप्त को मगध के सिंहासन पर बिठाने में भी चाणक्य ने विस्मयकारिणी प्रतिभा का परिचय दिया है। पर्वतेश्वर को राज्य का लोभ देना और उससे काम लेना, मालविका के द्वारा नन्द के हाथ में जाली पत्र पहुँचाना और राक्षस सुवासिनी को बन्दी बनवाना, अपने आदमियों को भीड़ में मिला कर नगर में सनसनी फैलाना, फिर राज-सिंहासन के पास जा कर अपने भाषण से नागरिकों को उत्तेजित करना और उस उत्तेजना के क्षण में नन्द का वध करवाना, राक्षस के बीच में बोलने पर बड़े धैर्य से उसकी बात को सुनना और फिर इस प्रकार तर्क उपस्थित करना जिससे जनता स्वयं यह अनुभव करने लगे कि मगध के लिए एक शक्तिशाली शासक की आवश्यकता है, स्वयं चुप रहना, पर शकटार का चन्द्रगुप्त का नाम लेना था कि एक क्षण का विलम्ब न करते हुए उसे सिंहासन पर बिठा देना और राक्षस से ही उसका अभिषेक कराना, क्या चाणक्य के अतिरिक्त और किसी राजनीतिज्ञ से सम्भव था? इस कुटिल राजनीतिज्ञ की चालों को कोई भाँप तक नहीं सकता और अपने कार्यों की सफलता के लिए यह उचित-अनुचित तथा पाप-पुण्य का कोई ध्यान नहीं रखता। चाणक्य, जैसा उसने स्वयं कहा है, 'केवल सिद्धि देखता है, साधन चाहे कैसे ही हो!' इसी से यह पाषाण-हृदय व्यक्ति मालविका के प्राण ले लेता है और बिलकुल नहीं हिचकता। कल्याणी आत्महत्या करती है तो एकदम सहज-भाव से कहता है, "चन्द्रगुप्त! आज तुम निष्कंटक हुए।"

अपनी क्रूरता में भी चाणक्य महान ही प्रतीत होता है। मस्तिष्क के सामने हृदय चाहे दब गया हो, पर मिट नहीं गया। बाल्यकाल की सहचरी सुवासिनी को वह भूल नहीं सका और उसका नाम हृदय से उमड़ कर चाणक्य की जिह्वा तक भी कभी-कभी आ जाता है। पर क्या

हम इसे उसकी दुर्बलता कहें ?

एकाध बार सुवासिनी से उसका साक्षात्कार भी होता है। जीवनभर का संचित अनुराग उस समय उसकी आँखों में झलक उठता है। पर वह तुरन्त सँभल जाता है। कहता है, "क्या ? मेरी दुर्बलता ? नहीं।" वहीं वह दुःख को पी जाता है। देवताओं का पता नहीं, पर मानवों में इसी को महानता कहते हैं।

यह दृढ़, उद्यमी, निर्भीक, हठी, कठोर, कोमल, सतत सजग, दूरदर्शी, कूट राजनीतिज्ञ, ब्राह्मणत्व का अभिमानी, आर्य-राष्ट्र की एकता का स्वप्न सत्य में परिणत करने वाला, विचित्र प्रतिभासम्पन्न प्राणी, सैनिक न होकर सेनापतियों को रण-सञ्चालन की नीति बताने वाला, दरिद्र हो कर सम्राटों पर शासन करने वाला व्यक्ति, विधाता की एक आश्चर्य सृष्टि था। सब से अधिक चकित वह हमें उस समय करता है जब अपना मंत्रिपद राक्षस के लिए सौंपता है। उसने सुवासिनी से कहा था, "मुझे चन्द्रगुप्त को मेघमुक्त चन्द्र देख कर इस रङ्गमञ्च से हट जाना है।" चाणक्य ने यही किया। भारत को ही अपने शिष्य के अधीन नहीं किया, सिल्यूकस की कन्या कार्नेलिया को भारत की सम्राज्ञी बना कर विदेशी आतङ्क को भी शान्त कर गया। क्या उसका त्याग सुवासिनी के लिए था अथवा निष्काम कर्म का उदाहरण था ? उसके कर्म-पादप को यद्यपि अपमान की प्रतीकार-भावना और 'दिव्य यश' के अर्जन का खाद्य भी मिला है; पर राष्ट्र-प्रेम की रसधारा के सतत सिञ्चन से क्रूरता के काँटों में रक्षित निस्पृहता का पुष्प और देश-गौरव का फल जो उसने भेंट किया वह वर्णनातीत है।

चन्द्रगुप्त नाटक का नायक है और नायक के सभी गुण उसमें हैं—उच्चकुल में जन्म ले कर निरभिमानिता, निर्भीकता के साथ विनम्रता, वीरता के साथ कोमलता और सङ्कट में धैर्य-प्रदर्शन। इस बात को देख कर बहुत बड़ा सन्तोष होता है कि प्रसाद ने चन्द्रगुप्त को चाणक्य के हाथ की कठपुतली मात्र नहीं रखा। मुद्राराक्षस नाटक की यह बहुत

को इतना विकट संघर्ष करना पड़ता है कि उसका अन्तर निरन्तर भूखा रहने से विद्रोह करने लगा है। मालविका को एक स्थान पर उसने हृदय खोल कर दिखलाया है, "युद्ध देखना चाहो तो मेरा हृदय फाड़ कर देखो, मालविका!" प्रेम के सम्बन्ध में चन्द्रगुप्त वैसे बहुतों से अधिक सौभाग्य-शाली है। तीन तीन प्राणी उसे प्रेम करने को प्रस्तुत हैं। उसके हृदय में किसी के प्रति विरक्ति अथवा उदासीनता का भाव नहीं है। पोरस-सिकन्दर युद्ध में कल्याणी की प्रणय-चर्चा पर चन्द्रगुप्त का 'राजकुमारी समय नहीं' कहना अनुपयुक्त वातावरण का संकेत मात्र है, तिरस्कार अथवा खीझ का द्योतक नहीं। मालविका को वह अत्यन्त अनुग्रह की दृष्टि से देखता है। कल्याणी, मालविका और कार्नेलिया में से चन्द्रगुप्त को कौन सब से अधिक प्रेम करती है, यह कहना कठिन है। कल्याणी घोषित करती है, "कल्याणी ने वरण किया था केवल एक पुरुष को— वह था चन्द्रगुप्त, कार्नेलिया सिल्यूकस से कहती है; "मुझे भारत की सीमा से दूर ले चलिए, नहीं तो मैं पागल हो जाऊँगी," और मालविका चुप-चुप सोचती है, "जाओ प्रियतम, सुखी-जीवन बिताने के लिए और मैं रहती हूँ चिरदुःखी जीवन का अन्त करने के लिए।" पर तीनों के आचरण से यही सिद्ध होता है कि मालविका का आत्म-समर्पण ही पूर्ण था। कार्नेलिया छुरी निकाल कर आत्मघात करने के लिए उद्यत होती है पराजय के अनुमान पर और कल्याणी आत्मघात कर ही डालती है चन्द्रगुप्त के अपने पिता नन्द के विरोधी होने के कारण; पर माल-विका सचमुच प्राण दे देती है चन्द्रगुप्त के प्यार के लिए। माल-विका को चन्द्रगुप्त से प्यारा कुछ नहीं था। कल्याणी और कार्नेलिया को चन्द्रगुप्त ही केवल प्यारा न था। सम्राज्ञी बनती है कार्नेलिया, यह चाणक्य की इच्छा थी अथवा विधाता की। चन्द्रगुप्त भी आसक्त है कार्नेलिया पर। मालविका के अन्तर को तो वह कभी पहचान ही न सका। कल्याणी के आकर्षण को वह जानता था, पर वह उसे पतिरूप से प्राप्त करना चाहती थी, इसका उसे ध्यान

"तो चाणक्य से फिर टक्कर होगी।" षड्यन्त्रकारियों का नेता बन कर वह चन्द्रगुप्त के प्राण लेने का प्रयत्न करता। यह अपराध राजनीति की दृष्टि से चाहे क्षम्य हो, पर देश के विनाश के लिए वह विदेशियों का सहायक बनता है इस पाप का मार्जन तो किसी प्रकार नहीं हो सकता। कार्नेलिया ने ठीक ही कहा था, "मेरे यहाँ ऐसे लोगों को देश-द्रोही कहते हैं।"

इस नाटक में चाणक्य और राक्षस की कोई समानता नहीं है, न राजनीतिक दाव-पेंचों में और न चरित्रबल में। डींग तो वह बहुत मारता है। चाणक्य से क्रुद्ध कर अपने आप कहता मात्र है, "चन्द्रगुप्त सम्राट हो सकता है तो दूसरे भी इसके अधिकारी हैं"; पर कर के कुछ नहीं दिखाता। मुद्रा वाली बात को भी वह नन्द के सामने स्पष्ट नहीं कर सका। सच बात यह है कि प्रसाद ने ही राक्षस के चरित्र को कुछ हल्का चित्रित किया है। मुद्राराक्षस में भी तो राक्षस है। वहाँ वह परास्त होता है; पर दैव की प्रतिकूलता ही वहाँ प्रमुख है। वहाँ उसकी पराजय में भी एक गौरव है। प्रसाद का राक्षस एक शृङ्गारी वृत्ति का ब्राह्मणद्रोही, देशद्रोही बौद्ध है। वह सचमुच राक्षस है।

सिंहरण छोटा चन्द्रगुप्त है—वैसा ही वीर, वैसा ही निर्भीक, वैसा ही आर्य-राष्ट्र का प्रेमी और वैसा ही आत्मसम्मान पर चोट न सहने वाला। चाणक्य से प्रारम्भ में ही वह कहता है, "मालवों को अर्थशास्त्र की उतनी आवश्यकता नहीं, जितनी अस्त्र शास्त्र की।" युद्धक्षेत्र में चन्द्रगुप्त के कन्धे से कन्धा भिड़ा कर उसने सदैव अपनी वीरता और सच्ची मित्रता का परिचय दिया है। आम्भीक को जिस निर्भीकता से वह व्यंग्य-भरे तीखे उत्तर देता है, वे सुनने योग्य हैं। उसकी इसी निर्भीकता पर तो अलका अपना मन न्यौछावर कर गई थी। प्रेम में सिंहरण मृगछौना सा भोला और सौम्य बन जाता है। अपने को किसी को सौंपने के उदाहरण में आवश्यकता पड़े तो सिंहरण का नाम लिया जा सकता है।

नन्द एक विलासी अत्याचारी राजा है जिसे न उचित-अनुचित का

है, "मेरा देश मालव ही नहीं गांधार भी है। यही क्या, समग्र आर्यावर्त्त है" तब अलका के हृदय का तार भी इस मृदु आघात से झनझना उठता है—"मै भी आर्यावर्त्त की बालिका हूँ।" विचारो की यह एकता बहुत स्वाभाविक रूप से उन्हें स्नेह के चिरबन्धन में बाँध देती है। प्रेम मे नित्य नवीनता के लिए जिस शरारत और उसके मार्ग की बाधाओं को पार करने के लिए जिस तुरत-बुद्धि की अपेक्षा होती है वे दोनों गुण अलका में है। वन में सिल्यूकस और जीवन मे पर्वतेश्वर दोनों को वह चकमा देती है और सिंहरण के भावों के साथ जो वह एक स्थान पर खेली है वह निर्मम प्रेम-प्रदर्शन नाटककार के शब्दों में ही दर्शनीय है—

सिंहरण—अलका, तब क्या करना होगा ?

अलका—यदि मै पर्वतेश्वर से ब्याह करना स्वीकार करूँ तो सम्भव है कि तुमको छुड़ा दूँ।

सिंहरण—मैं...अलका ! मुझसे पूछती हो !

अलका—दूसरा उपाय क्या है ?

सिंहरण—मेरा सिर घूम रहा है। अलका ! तुम पर्वतेश्वर की प्रणयिनी बनोगी। अच्छा होता है कि इसके पहले ही मै न रह जाता !

अलका—क्यो मालव इसमें तुम्हारी हानि है ?

सिंहरण—कठिन परीक्षा न लो अलका ! मैं बड़ा दुर्बल हूँ।

अलका—मालव, देश की स्वतंत्रता तुम्हारी आशा में है।

सिंहरण—और तुम पंचनद की अधीश्वरी बनने की आशा में। तब मुझे रणभूमि में प्राण देने की आज्ञा दो।

अलका—(हँसती हुई)—चिढ़ गये !

सिंहरण—यह भी कोई हँसी है।

अलका—बंदी ! जाओ सो रहो, मै आज्ञा देती हूँ।

देश-प्रेम में सराबोर यह सुन्दर वीर बालिका सिंहरण की आवश्यकता से अधिक उपयुक्त जीवन सहचरी है।

'सुन्दरियों की रानी', कला मर्मज्ञ सुवासिनी शकटार की कन्या है और राक्षस की अनुरक्ता। वह बौद्धमत की अनुयायिनी है। राक्षस के प्रति अपनी अनुरक्ति की दृढता और अस्थिरता दोनों का परिचय उसने अपने जीवन मे दिया है। नद के यह कहने पर कि राक्षस उसका प्रणयी हो कर पृथ्वी पर नहीं जी सकता, सुवासिनी का यह दृढ़ उत्तर कि तब वह उसे खोजने स्वर्ग जायगी, हमारे हृदय में उसके प्रति जैसे श्रद्धा उत्पन्न करता है उसी प्रकार चाणक्य और राक्षस की तुलना मे चाणक्य की ओर उसका मुड़ना हमे एक प्रकार की विरक्ति-भावना से भर जाता है। यह सत्य है कि चाणक्य से उसका बाल्यकाल का परिचय था, पर जब एक व्यक्ति उसके जीवन मे पूर्णरूप से आ गया था तब उसे हृदय से निकाल फेंकना कुछ अस्वाभाविक लगता है। किसी व्यक्ति को स्वीकार करने से पहिले सोच लेना चाहिये। पर स्वीकार करते समय तो हम उसकी दुर्बलताओं और अभावों के साथ उसे ग्रहण करते हैं। चाणक्य ने उसे सॅभाल लिया, नहीं तो वह राक्षस को छोड़ बैठती। अच्छा यह होता कि लेखक चाणक्य और सुवासिनी के हृदय में एक टीस उठा देता और बस! चाणक्य के प्रति संयत अतर्द्वन्द्व राक्षस के प्रति अन्तर्द्वन्द्व से अधिक मार्मिक होता। अन्त मे यूनानियों के हाथ से राक्षस की आत्मा का उद्धार कर सुवासिनी फिर एक बार हमारी प्रशसा का पात्र बनती है।

सिंहरण की सहचरी और राक्षस की प्रेमपात्री के अतिरिक्त नाटक मे जो स्त्री पात्र हैं उनका जीवन और मन चन्द्रगुप्त से गुम्फित है। चन्द्रगुप्त और उन्हें ले कर 'यदि एक अनार और सौ बीमार' की कहावत शब्दशः चरितार्थ नहीं होती तो एक अनार और तीन बीमार की तो होती है। कल्याणी चन्द्रगुप्त को चाहती है, मालविका उसे प्रेम करती है और कार्नेलिया उस पर आसक्त है। किसी कहानी के लिए यह एक जटिल समस्या हो सकती थी और इसे उठा कर सुलझाने मे लेखक की प्रतिभा परखी जा सकती थी। पर प्रसाद ने इसे सरलता से

सुलझा दिया है—सुलझा क्या गुत्थी को काट दिया है। कल्याणी आत्मघात कर लेती है और मालविका की चाणक्य हत्या करा देता है; अतः कार्नेलिया का मार्ग स्वच्छ हो जाता है। चाणक्य के समान प्रसाद ने इन दो हत्याओं के उपरान्त संतोष के साथ कार्नेलिया से कहा होगा, "कार्नेलिया! आज तुम निष्कण्टक हुईं।" द्विजेन्द्र बाबू ने भी अपने चन्द्रगुप्त नाटक में सम्राट की दो प्रणयिनी रक्खी हैं—सिल्यूकस की कन्या हैलन और वनबालिका छाया पर उन्होंने किसी की भी मृत्यु न करा कर बड़े मार्मिक कौशल से नाटक का अंत किया है।

कल्याणी के हृदय मे केवल तीन भावनाएँ काम करती हैं—चन्द्रगुप्त के प्रति आकर्षण, पर्वतेश्वर के प्रति प्रतिशोध-भावना और पिता के प्रति अगाध-प्रेम। पराजय के समय सहायता द्वारा पर्वतेश्वर को नीचा दिखाने के लिए वह सिकन्दर-पोरस युद्ध में सम्मिलित होने जाती है; पर कृतकार्य नही होती। वहाँ जाने में उसका एक उद्देश्य चन्द्रगुप्त से मिलना भी था। चन्द्रगुप्त के तक्षशिला से लौटते समय सब से प्रथम कल्याणी के हृदय का आकर्षण प्रकट होता है। धृष्ट पर्वतेश्वर का वध करते हुए पिता के विरोधी के प्रेम को कुचलना और प्रेम की प्यास में तड़प कर मर जाना कल्याणी के हृदय का मर्म-स्पर्शी अंतर्द्वन्द्व है। ऐसे अंतर्द्वन्द्व का परिचय और भी प्रभावशाली और सूक्ष्म रूप में प्रसाद ने 'आकाशदीप' कहानी की 'चम्पा' के चरित्र में भर दिया है।

मालविका सरलता और कोमलता की स्वर्गीय प्रतिभा है। चन्द्रगुप्त को प्रेम करती है; पर उस भाव का आभास तक उसे नहीं देती। वह कभी कुछ पूछ लेता है, उसके लिए किसी आदरसूचक शब्द का प्रयोग कर देता है और गान सुनाने का उससे अनुनय करने लगता है, तो मालविका गद्‌गद हो जाती है और इसी को अपना बहुत बड़ा सौभाग्य समझती है। एक बार मालविका ने कहा था, "स्नेह से हृदय-चिकना हो जाता है, परन्तु बिछलने का भय भी रहता है।" बिछलन का भय

हो नहीं, मरण का मूल्य भी कभी-कभी उसके लिए चुकाना पड़ता है विशेष रूप से ऐसी स्थिति में जैसी स्थिति में मालविका थी और ऐसी भोली बालिका को जैसी भोली मालविका थी और ऐसी संयत प्रेमिका को जैसी संयत प्रेमिका मालविका थी। उसकी हत्या बहुत देर तक पाठकों के हृदय को बहुत विक्षुब्ध और व्याकुल करती है।

सिल्यूकस की कन्या कार्नेलिया का शरीर यूनान का है, हृदय भारत का। वह भारतीय संगीत, भारतीय काव्य, भारतीय दर्शन और भारतीय संस्कृति को इस ममता से अपनाती है, भारत भूमि के प्रति अपना स्नेह इस आवेग के साथ उड़ेलती है कि विधाता ने उसे यूनान में जन्म दे कर भूल की है, यही कहना पड़ता है। चन्द्रगुप्त की प्रेमिकाओं में वही सफल प्रेमिका है। उसका शरीर सुन्दर है, हृदय सात्विक है और चरित्र उदार है। भारत-भूमि को वह रक्त-रञ्जित नहीं देखना चाहती इसमें उसके हृदय की कोमलता और चन्द्रगुप्त की हित-कामना दोनों निहित हैं। सिल्यूकस की महत्त्वाकांक्षा को वह इसी से दबाती रहती है। उसे वह कभी उत्साहित नहीं करती। आत्म-सम्मान की भावना भी उसमें प्रबल है। कार्नेलिया के हृदय में भी एक बार इस भावना की प्रेम से टक्कर होती है: "चिन्ता नहीं, ग्रीक-बालिका भी प्राण देना जानती है। आत्म-सम्मान—ग्रीस का आत्म-सम्मान जिए!" (छुरी निकालती है)—पर उसी क्षण मन रोता है, "तो अन्तिम समय एक बार नाम लेने में कोई अपराध है?" चन्द्रगुप्त को प्राप्त कर के कार्नी का प्रथम गान मानो सार्थक हो गया।

अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा॥

प्रसाद ने जब 'चन्द्रगुप्त मौर्य' का प्रणयन किया उससे पहिले दो प्रसिद्ध नाटक चाणक्य के चरित्र को ले कर हिन्दी में थे—एक विशाखदत्त का 'मुद्राराक्षस' नाटक जिसका अनुवाद भारतेन्दु ने किया और दूसरा द्विजेन्द्रलाल राय का चन्द्रगुप्त मौलिक नाटक जिसका

अनुवाद भी हिन्दी में हुआ। मुद्राराक्षस केवल राजनीतिक नाटक है। प्रसाद के नाटक की वह समता नहीं कर सकता। पर हिन्दी के कुछ आलोचकों ने प्रसाद की प्रतिभा से अत्यधिक आतङ्कित होने के कारण राय के नाटक को भी तुच्छ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है जो न्याय-संगत नहीं है। कोई माने अथवा न माने, पर सच बात यह है कि प्रसाद ने विशाखदत्त और डी. एल. राय दोनों से पूरा-पूरा लाभ उठाया है, मुद्राराक्षस से तो कम, पर राय महोदय के नाटक से अत्यधिक। शकटार के बन्दी होने और उसके सात पुत्रों के प्राण-विसर्जन तथा पर्वतक को चन्द्रगुप्त की सहायता के लिए लोभ दे कर मगध में लाने की कथा का संकेत चाहे भारतेन्दु की 'पूर्व-कथा' से न मिल कर किसी अन्य स्थल से मिला हो, पर मुद्रा और जाली पत्र द्वारा राक्षस का अनिष्ट-चिन्तन मुद्राराक्षस की प्रमुख घटना है जिसका प्रयोग प्रसाद के नाटक में भी है। सँपेरा बनने का भाव भी मुद्राराक्षस नाटक से लिया गया है। द्विजेन्द्र बाबू के नाटक को पढ़ने के उपरांत यदि प्रसाद का नाटक पढ़ें तो बहुत-सी छोटी-मोटी बातें ताजी होती जाती हैं। इतर जाति की अवहेलना राय का चाणक्य भी नहीं सहन कर सकता और जिस प्रकार नन्द के सभासदों को वह कुत्तो के दल के नाम से पुकारता है; उसी प्रकार प्रसाद का चाणक्य भी प्रतिहार को कुत्ता कहता है। सिंहरण राय के चन्द्रकेतु का रूपान्तर है और चन्द्रगुप्त से रूठ जाने पर भी दोनों नाटकों में यह पात्र ग्रीकों के आक्रमण के समय बिना बुलाये अकस्मात् चन्द्रगुप्त की सहायता को पहुँच जाता है। प्रसाद का फिलिपस राय के एण्टीगोनस का प्रतिरूप है—एक उद्धत अशिष्ट सैनिक, सिल्यूकस की कन्या को स्पर्श कर के अप्रसन्न करने वाला, प्रणय में चन्द्रगुप्त का प्रति-द्वन्द्वी। पर राय ने ऐण्टी के चरित्र का जो मार्मिक विकास दिखाया है, उसकी छाया भी प्रसाद के फिलिपस में नहीं। प्रसाद की कार्नेलिया ने अपने पिता की मखौल उड़ाना भी राय की हैलन से सीखा है। सिल्यूकस कुछ विद्वान न था। उसके विचार से पढ़ने से मौलिकता नष्ट होती है।

सैनिकों को अध्ययन से अधिक रुचि भी नहीं होती। इसी से राय के नाटक में बात का माहात्म्य बनाने के लिए अपनी बात के साथ वह कभी 'एरिष्टफेनिस' और कभी 'सफोक्लिस' का नाम जोड़ देता है जिससे वह अपनी विदुषी कन्या द्वारा पकड़ा जाता है और परिहास का कारण बनता है। कार्नेलिया उसकी असफल नकल है। वह हास्य उत्पन्न करने में असमर्थ सिद्ध होती है। राय के कात्यायन का स्थान राक्षस लेता है। वह भी सिल्यूकस को भड़काता है और हैलन जिस प्रकार उनकी प्रवृत्ति को पहचान कर उसे राजद्रोही, देशद्रोही और धर्मद्रोही कहती है, उसी प्रकार प्रसाद की कार्नी भी राक्षस को 'देश-द्रोही' कह देती है। अपने क्रूर कर्म पर चाणक्य के पश्चात्ताप की वाणी दोनों नाटकों में बहुत कुछ एक सी है और भारत-भूमि के सुखद सौन्दर्य का वर्णन भी एक ही ढङ्ग से लिखा है। जिन्होंने राय के बँगला नाटक को नहीं पढ़ा है वे प्रसाद के नाट्यकला-कौशल पर एक स्थान पर बहुत मुग्ध होंगे। प्रथम अङ्क के बिलकुल अन्त में 'चन्द्रगुप्त आश्चर्य से कार्नेलिया को देखने लगता है।' वहाँ एक शब्द भी न कहला कर नाटककार ने आकर्षण को जन्म दिया। पर इस कौशल का प्रयोग भी राय के चन्द्रगुप्त नाटक में हुआ है। निदाघ से समुज्ज्वल सध्यालोक में सिन्धुनद तट पर हैलन को सर्वप्रथम हम सिल्यूकस के पार्श्व में मौन भाव से उपस्थित पाते हैं जहाँ सूर्य की रश्मियाँ उसके मुख पर फिसल कर स्वयं उज्ज्वल हो रही हैं। थोड़ी देर में वहीं उसने सिकन्दर के समक्ष युवक चन्द्रगुप्त के कठोर वार से ऐण्टीगोनस की तलवार गिरती देखी। यद्यपि नाटककार ने उससे कुछ कहलाया नहीं है और न उसके किसी हाव का संकेत किया है; परन्तु हम विश्वासपूर्वक कह सकते हैं कि वह चन्द्रगुप्त की वीरता, निर्भीकता एवं सरल सत्यता पर चकित हुई होगी, क्योंकि आगे चल कर एकान्त में वह सिन्धुनद तीर के गरिमामय सूर्यास्त का स्मरण कर विकल हो जाती है। इतना लिखने का तात्पर्य यह नहीं कि 'चन्द्रगुप्त मौर्य' लिखते समय प्रसाद राय महोदय के सामने पट्टी ले

कर बैठ गये थे, पर छोटी-छोटी बातो के लिए किसी व्यक्ति के नाम 'प्रतिभा' 'प्रतिभा' की रट लगाना हास्यास्पद है।

चन्द्रगुप्त नाटक का कथानक अभिनय की दृष्टि से बहुत लम्बा है। आधे से भी अधिक पृष्ठों मे सिकन्दर का बखेड़ा है। नाटक में चार अङ्क हैं और तीसरे अङ्क के मध्य में वह विदा होता है। चन्द्रगुप्त मे जितना कथानक है वह दो नाटकों के लिए पर्याप्त है। द्विजेन्द्रलालराय ने इस सम्बन्ध में संयम से काम लिया है। फिर भी कथानक में कहीं शिथिलता नहीं है। नन्द का वध इस नाटक की तीव्रतम घटना है, क्योंकि चन्द्रगुप्त का राज्य-स्थापन ही इस नाटक का मुख्य उद्देश्य है जिसकी भूमिका यद्यपि कुछ पहिले से बँधती है; पर समारंभ राज्यारोहण से ही होता है। सिकन्दर के झमेले में उस घटना तक पहुँचने में आवश्यकता से अधिक देर लगती है। इस दृष्टि से इस नाटक में सिकन्दर का आक्रमण और चन्द्रगुप्त का पञ्जाब में रुकना चुनी हुई दो-चार नाटकीय घटनाओं के दृश्य उपस्थित न कर जीवन-गाथा के अध्याय से खोलते हैं जो नाटक की सीमित भूमि के लिए अनावश्यक हैं। कहीं-कहीं काल और स्थान सम्बन्धी दोष भी बड़े विकृत रूप में आया है। चतुर्थ अंक के पाँचवें दृश्य में चाणक्य चन्द्रगुप्त से अप्रसन्न हो कर चला जाता है और आगे के दृश्य में ही वह सिन्धु तट पर कात्यायन के साथ बातचीत करता दिखाया गया है। इतनी जल्दी पाटलिपुत्र से सिन्धु तट पर चाणक्य उछल कर कैसे पहुँच गया? विपत्तिग्रस्त प्राणी के त्राण के लिए सहायक को तुरन्त ही अस्वाभाविक रूप से पहुँचाना इस नाटक मे भी बना हुआ है। सिंहरण सिल्यूकस की छीनाझपटी से अलका को, चन्द्रगुप्त फिलिपस की धृष्टता से कार्नेलिया को और राक्षस नन्द के अत्याचार से सुवासिनी को--तात्पर्य यह है कि प्रत्येक प्रेमी अपनी प्रेमिका को बचाने के लिए कहीं न कहीं से कूद ही पड़ता है। भाषा में सरलता अवश्य आ गई है। केवल भावावेश में ही भाषा संस्कृतगर्भित निकली है, पर व्याकरण की भूलें रह गई हैं जैसे 'कहीं ठोकर मार दिया' और कहीं 'इसके स्वतन्त्रता

प्रसाद के नारी पात्र

(हरप्रसाद शास्त्री)

प्रसाद आधुनिक हिन्दी-साहित्य की विकासोन्मुखी प्रगति एवं मौलिक चिन्तनात्मक चेतना के अग्रदूत हैं। उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी, उन्होंने कविता, कहानियाँ, नाटक, उपन्यास, निबन्ध, आलोचनादि सभी साहित्यिक अंगो पर समान रूप से लिखा है। मौलिकता उनकी प्रमुख विशेषता है, इतिहास उनका सर्वप्रिय विषय रहा, पुरातत्त्व सम्बन्धी विषयो में उनकी विशेष रुचि थी, भारतीय दर्शनशास्त्र का उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया था, बौद्ध-दर्शन का उनकी विचारधारा पर विशेष प्रभाव था, मानव-विज्ञान के वे पण्डित थे।

प्रसाद का लगभग सभी साहित्य भारत के उज्ज्वल गौरवमय अतीत से सम्बन्ध रखता है। वर्तमान की समस्याओं का समाधान उन्होंने अतीत के गर्भ में छिपी हुई समस्याओं के सुलझाव से दिया है। उनके कलापक्ष पर अवश्य पाश्चात्य-साहित्य का प्रभाव लक्षित होता है किन्तु भावपक्ष में वे पाश्चात्य-प्रभाव से विहीन एक स्वतन्त्र विचारक थे।

प्रसाद-साहित्य की अन्य विशेषताओं के अतिरिक्त सबसे प्रमुख विशेषता पात्रों में प्राण फूँक देने वाली प्रतिभा की अद्वितीय सजीवता है। यों तो प्रसाद ने अपने सभी पात्रो का सवाक् एवं सरूप चित्रण किया है, किन्तु नारी-चित्रांकन में उन्हें सर्वाधिक सफलता मिली है। उनकी नारी भावुक भी है, स्नेह करना भी जानती है और उस स्नेह के लिए बड़े से बड़ा त्याग करना भी जानती है। उसका प्रेम विषय-वासनाओं की उद्दीप्ति तक ही सीमित नहीं रहता वरन् त्याग और बलिदान की ऊँची से ऊँची सीढ़ी पर चढ़ कर मानव का पथ-प्रदर्शक बनता है। वह मध्ययुगीन भारतीय नारी की भाँति केवल पुरुष की इन्द्रिय

(ङ) कर्तव्य सम्बन्धी आदर्श।

यद्यपि ये आदर्श नीर-क्षीर की भाँति एक दूसरे से नितान्त अलग नहीं किये जा सकते, उनके बीच कोई विभाजन-रेखा नहीं खींची जा सकती, किन्तु स्थूल एवं सदसद्गुणों की न्यूनाधिक मात्रा के दृष्टिकोण से उनका विभाजन सुविधाजनक होगा।

(क) प्रेम सम्बन्धी आदर्श-पूर्ण पात्र—इस कोटि के अन्तर्गत देवसेना, मालविका, कोमा, कार्नेलिया आदि नारी पात्र आते हैं। देवसेना प्रसाद की अमर कल्पना है। उसका जीवन त्याग, उदारता, सहिष्णुता एवं प्रेम के चरमोत्कर्ष से परिपूर्ण है। संगीत उसके जीवन का अभिन्न अंग है। उसका प्रिय स्कन्दगुप्त पहिले विजया की ओर आकृष्ट होता है किन्तु देवसेना सामान्य नारी की भाँति द्वेष और ईर्ष्या से प्रेरित नहीं होती, वह अपनी प्रणय-प्रतिद्वन्द्विनी विजया के प्रति अशिष्टता एवं अनुदारता का व्यवहार नहीं करती, वह अपने आराध्य के मार्ग में रोड़ा नहीं अटकाना चाहती। उसका प्रेम वासना की दुर्गन्धि से कोसों दूर है। विजया के अधिकार एवं ऐश्वर्यजन्य प्रेम के मोह से छूट कर स्कन्दगुप्त पुनः देवसेना के प्रति अपना ममत्व अर्पित कर उसके साथ एकान्तवास की इच्छा प्रकट करता है, तो वह कितने मार्मिक शब्दों से उसको उत्तर देती है—"इस हृदय में......आह! कहना ही पड़ा, स्कन्दगुप्त को छोड़ कर न तो कोई दूसरा आया और न वह जायगा। अभिमानी भक्त के समान निष्काम हो कर मुझे उसी की उपासना करने दीजिये, उसे कामना के भँवर में फँसा कर कलुषित न कीजिये।" वह इसलिए भी स्कन्दगुप्त से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित नहीं करती कि उसके दिवंगत भाई बन्धुवर्मा ने स्कन्दगुप्त को मालव का राज्य समर्पित किया था। वह कहती है—"लोग कहेंगे कि मालव देकर देवसेना का ब्याह किया जा रहा है।" वह ऐसा करके अपने दिवंगत भाई की आत्मा को कष्ट नहीं देना चाहती। वह प्यार का उच्चतम आदर्श स्थापित करती है।

पिता को चन्द्रगुप्त के राज्य पर आक्रमण करने से विरत करने की चेष्टा करती है। युद्ध के समय वह बड़े साहस से काम लेती है, प्राण विसर्जन से भी वह नहीं हिचकिचाती।

(ख) राष्ट्र एवं जाति सम्बन्धी आदर्श-पूर्ण पात्र—प्रसाद की नारियों का राष्ट्रीय एवं जातीय महत्त्व भी कुछ कम नहीं है। वे अपने सक्रिय सहयोग द्वारा बड़े-से-बड़े राष्ट्रीय हित-सम्पादन में सहायक बनी हैं। अलका, कमला, मनसा, मल्लिका—ऐसे ही नारी पात्र हैं।

अलका राष्ट्र-प्रेम की सजीव मूर्ति है। वह देशद्रोही अपने भाई आम्भीक का विरोध करती है। आर्य-पताका स्वयं हाथ में ले कर देश-भक्ति की लहर नर-नारियों में फैला देती है। उसका देश-प्रेम का यह गीत हमारी राष्ट्रीय निधि है—

"हिमाद्रि तुंग श्रृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती—
स्वयंप्रभा समुज्ज्वला स्वतन्त्रता पुकारती—
अमर्त्य वीर-पुत्र हो, दृढ़प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य पंथ है—बढ़े चलो, बढ़े चलो।"

वह त्याग और देशानुराग द्वारा अपने भाई आम्भीक का हृदय परिवर्तित कर देती है।

कमला भटार्क की माता है। यद्यपि वह 'स्कन्दगुप्त' नाटक की गौण पात्र है किन्तु अपने त्याग और उदारता के आदर्श मे किसी भी मुख्य पात्र से कम नहीं है। यह उसका दुर्भाग्य है कि वह भटार्क जैसे नीच देशद्रोही पुत्र की माँ है। वह उत्तम गुणो की उपासिका है। वह अपने कुचक्री, कृतघ्न, राष्ट्र-द्रोही पुत्र के अमानवीय दुष्कृत्यों का तीव्र विरोध करती है। भटार्क को अपना पुत्र कहने में भी उसे लज्जा का अनुभव होता है—"भटार्क! तेरी माँ को एक ही आशा थी कि पुत्र देश का सेवक होगा, म्लेच्छों से पद-दलित भारत-भूमि का उद्धार करके मेरा कलंक धो डालेगा—मेरा सिर ऊँचा होगा। परन्तु हाय!" कमला के विपय में गोविन्दगुप्त के ये शब्द स्मरणीय हैं—"धन्य हो देवि! तुम

सरमा का चरित्र जीवन की ऊँची-नीची विषमताओं से परिपूर्ण है। उसे सब ओर से अपमान और घृणा ही मिलती है किन्तु वह अपने स्वाभिमान और साम्य भाव का अवलम्बन नहीं छोड़ती। वह वपुष्टमा और मनसा के विषाक्त व्यंग्य-बाणों से बिद्ध हो कर भी अपना मानसिक सन्तुलन नहीं खोती। वह अपने पुत्र के माणवक के गुप्त हत्या प्रस्ताव का विरोध करती है। सरमा स्वाभिमानवश अपने पति से अलग हो जाती है, किन्तु आपत्ति के समय उसका नारी हृदय स्वाभिमान की परिधि को लाँघ देता है। वह अपने पति की हित-कामना से वपुष्टमा की दासी बनती है। वह सर्वत्र विश्व मैत्री एवं समत्व भाव के आदर्श का अनुसरण करती है और अन्त में उसके विरोधी तत्त्व भी उसका महत्त्व स्वीकार करते हैं।

वासवी अपने सौतेले पुत्र अजातशत्रु की कुटिलताओं से दुःखित एवं क्षुभित नहीं होती, वह क्षमा और वात्सल्य के द्वारा उसका हृदय जीतती है। अन्त में अजातशत्रु को वासवी की निश्छल वात्सल्यमयी गोदी में ही शान्ति मिलती है। वासवी अपनी सपत्नी छलना के प्रति भी कितनी सहिष्णु एवं उदार है—"बहिन! जाओ, सिंहासन पर बैठ कर राज्य-कार्य देखो! व्यर्थ झगड़े से तुम्हें क्या सुख मिलेगा और अधिक तुम्हें क्या कहूँ, तुम्हारी बुद्धि!"

महादेवी देवकी अपनी सौत अनन्तदेवी, उसके पुत्र पुरगुप्त के षड्यन्त्रों के प्रति तनिक भी दुर्भाव नहीं दिखाती। वह अपनी हत्याओं की चेष्टा करने वाले शर्वनाग और भटार्क को क्षमा प्रदान करती हैं।

प्रसाद के अमर महाकाव्य 'कामायनी' की नायिका श्रद्धा भी इसी कोटि की नारी है। वह श्रद्धा, अगाध विश्वास, त्याग, औदार्य एवं विश्व-बन्धुत्व का मूर्तिमान प्रतीक है। वास्तव में श्रद्धा के रूप में प्रसाद ने अपने नारी विषयक दृष्टिकोण को विशद रूप से अंकित किया है। 'कामायनी' के ये शब्द हिन्दी साहित्य की अक्षय निधि हैं—

अपने सुख को विस्तृत कर तुम,
सब को सुखी बनाओ।"

श्रद्धा प्रसाद की नारी-कल्पना का सजग और सबल रूप है।

(घ) **नैतिक आदर्श-पूर्ण पात्र**—कल्याणी, पद्मावती, राज्यश्री और ध्रुवस्वामिनी अपने सतीत्व, पतिव्रत-धर्म एवं चरित्र-सबलता के द्वारा एक देवी आदर्श प्रस्तुत करती हैं। नारी का सतीत्व और आत्मसम्मान उसकी सबसे बड़ी सम्पत्ति है। कल्याणी पशु के समान विलासी, मद्यप पर्वतेश्वर का वध कर के अपने सतीत्व और सम्मान की रक्षा करती है। वह पितृ-भक्त है। इसी कारण वह अपने पिता नन्द के विरोधी चन्द्रगुप्त से प्रेम करती हुई भी विवाह न कर के आत्महत्या कर लेती है। इस प्रकार वह पितृ-भक्ति और सतीत्व का अद्वितीय आदर्श प्रस्तुत करती है। राज्यश्री क्षत्रियोचित साहस वाली और सती महिला है। वह देवगुप्त के अधीनस्थ होने पर भी निर्भीक हो कर उसके समस्त राजकीय ऐश्वर्य को ठुकरा देती है और अपने सतीत्व की रक्षा करती है। वह विपत्तियों और कष्टों में भी अपना साहस नहीं खोती, वह देवगुप्त को चुनौती देती है—"मैं तुम्हारा वध न कर सकी, तो क्या अपना प्राण भी नहीं दे सकती?" वह क्षमाशील है। उसका हृदय हिमाद्रि की भाँति उदार और सागर के समान गम्भीर है। पद्मावती आदर्श सती-साध्वी स्त्री है। उसका पति उदयन मागन्धी के षड्यन्त्र के कारण उसके प्रति शंकालु और असन्तुष्ट हो जाता है। खिड़की से गौतम के दर्शन करती हुई उसे देख कर उदयन उसे पापाचारिणी समझता है और उसकी हत्या के लिए शस्त्र उठाता है। साध्वी के प्रताप से वह अपने इस दुष्कृत्य में सफल नहीं हो पाता, उसके सतीत्व के सामने उदयन की दानवीय प्रवृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं किन्तु वह पति की इस इच्छा-पूर्ति के लिए भी तैयार रहती है। वह हत्या के लिए उठे हुए हाथ के रुकने पर उसे सीधा कर देती है और कहती है कि "नसें चढ़ गई होगी"। वह हृदय से कोमल और स्वभाव से उदार हैं।

आचरण ! वह मेरा पति क्या, स्वयं ईश्वर भी हो, तो भी नहीं कर पायेगा।"

मन्दाकिनी ध्रुवस्वामिनी-नाटक की सामान्य स्त्री पात्र है। वह ध्रुवस्वामिनी को नैतिक साहस के साथ सहयोग देती है, न्यायपक्ष की विजय के लिए वह बड़ी निर्भीकता एवं कुशलता के साथ ध्रुवस्वामिनी को कठोरतम परिस्थितियों में हतसाहस नहीं होने देती। वह ध्रुवस्वामिनी के हृदय में चन्द्रगुप्त के प्रति स्नेह जाग्रत करती है। यह सब वह किसी स्वार्थ-भावना एवं उच्च पद की प्राप्ति के प्रलोभन से नहीं करती वरन् कर्तव्यबाधित हो कर। वह कितनी निर्भीकता के साथ परिषद् के सामने सिंह-गर्जना करती है—"राजा का भय, मन्दा का गला नहीं घोट सकता। तुम लोगों को यदि कुछ भी बुद्धि होती तो इस अपनी कुल-मर्यादा नारी को, शत्रु के दुर्ग में यों न भेजते।" कमला भी कर्तव्य-प्रेरणा से ही अपने पुत्र भटार्क को राज्य के अधिकारियों के सुपुर्द करती है। वास्तव में ऐसे पात्र हमारी सर्वाधिक श्रद्धा और सम्मान के भाजन हैं।

[प्रसाद कविता तथा नाटकीय क्षेत्र में आदर्शवादी और औपन्यासिक क्षेत्र में यथार्थवादी रहे हैं। उन्होंने अपने उपन्यासों में निर्भय हो कर सामाजिक संस्थाओं का गर्हित खोखलापन दिखाया है। उनके अधिकांश औपन्यासिक पात्र पतनोन्मुख हैं, किन्तु नारी-पात्रों में तितली और तारा की सृष्टि अद्वितीय है। ये दोनों नारी-पात्र त्याग और बलिदान का उच्चतम आदर्श स्थापित करती हैं। संसार का बड़े-से-बड़ा भय और संकट उन्हें अपने कर्तव्य मार्ग से विचलित नहीं करता, उन्होंने केवल कर्तव्य के लिए ही मरना और जीना सीखा है। तितली ग्राम-सुधार का दुर्वह भार अपने कन्धों पर लेती है और वह कार्य कर दिखाती है जिसे बड़े-से-बड़ा पुरुष सुधारक जीवन भर नहीं कर पाता। उसके इस सब कार्य-कलाप में केवल कर्तव्य-बाधित उत्सर्ग ही झलकता है, स्वार्थ एवं आत्मश्लाघा का दुर्भाव नहीं। तितली के जीवन में स्वावलम्बन और

जाती हूँ।" ममता अपने कर्तव्य का ऋण चुकवाना नहीं चाहती, उसने हुमायूँ को शाहंशाह समझ कर किसी उपकार कामना से आश्रय नहीं दिया था। ममता की कर्तव्य-निष्ठा बड़ी ही स्तुत्य है।

'पुरस्कार' कहानी की नायिका मधूलिका वाराणसी-युद्ध के अन्यतम वीर सिंहमित्र की एकमात्र कन्या है। उसकी परम्परागत एकमात्र सम्पत्ति उसका क्षेत्र है। वह कृषि-उत्सव के लिए चुन लिया जाता है और राज्य की सम्पत्ति बन जाता है। क्षेत्र के पुरस्कार-स्वरूप मधूलिका को कुछ स्वर्ण-मुद्राएँ दी जाती हैं, किन्तु वह उन मुद्राओं को महाराज पर ही न्यौछावर करके बिखेर देती है। ऐसा करके वह राजकीय पुरस्कार का अपमान नहीं करती वरन् अपनी पैतृक भूमि का बेचना निन्दनीय कार्य समझती है। वह कहती है—"देव! यह मेरे पिता-पितामहों की भूमि है, इसे बेचना अपराध है। इसलिए मूल्य स्वीकार करना मेरी सामर्थ्य के बाहर है।" मन्त्री उसका अपमान करता है। वह मगध के राजकुमार अरुण का आश्रय लेती है, उसे आत्मसमर्पण करती है। अरुण विद्रोह करके कोशल के राजसिंहासन को उलटना चाहता है। वह मधूलिका को राजरानी बनाने का सुन्दर स्वप्न दिखा कर कोशल-नरेश से दुर्ग के पास की भूमि को माँगने के लिए भेजता है। सिंहमित्र की कन्या का आग्रह राजा नहीं टालता और उसे दुर्ग के पास की भूमि दे दी जाती है। अरुण इसी पथ से दुर्ग पर रात्रि के समय आक्रमण करता है, किन्तु मधूलिका अपने पूर्वजों की आन का ध्यान करके आक्रमण से पहले ही राजा को समस्त वृत्त से अवगत करा देती है और इस प्रकार कोशल को एक बार पुनः पदाक्रान्त होने से बचाती है। पुरस्कार रूप में वह केवल अरुण के साथ प्राण-दण्ड चाहती है। मधूलिका कर्तव्य-मार्ग पर चल कर कोशल की रक्षा करती है और प्रणय-पंथ पर चल कर अरुण को आत्मसमर्पण। वह कर्तव्य के लिए प्रेम की भी बलि दे देती है। वह न्याय के प्रति, कर्तव्य के प्रति एवं अपनी प्रणय सम्बन्धी भावनाओं के प्रति समान रूप से जागरूक है।

(ख) प्रसाद के नारी-पात्रों का दूसरा वर्ग वह है जो अपने संस्कारों तथा परिस्थितियों के प्रभाव से आरम्भ में आदर्श एव सतोगुणी प्रवृत्तियों का विरोध करता है किन्तु अन्त में घटनाओं के घात-प्रतिघात एवं सत्संग से उसमें सद्गुणी प्रवृत्तियों का जागरण होता है और आदर्शोन्मुख मार्ग का अवलम्बन करता है। ऐसे पात्रों को 'आदर्शोन्मुख'—पात्र कहेंगे। छलना, मागन्धी (श्यामा), शक्तिमती (महामाया), दामिनी, सुरमा आदि ऐसे ही नारी-पात्र हैं जो वैभव एवं काल्पनिक सुख-लिप्सा की मोह निद्रा से जाग कर अपने खोये सौम्य नारीत्व को पुनः प्राप्त करते हैं। छलना मगध की राजसत्ता को शस्त्रबल से विद्रोह के द्वारा प्राप्त करना चाहती है। वह स्वाभिमान और प्रतिहिंसा की प्रतिमूर्ति है। अपनी दुर्बलताओं में भी वह सबल होने का कृत्रिम स्वांग भरती है। वह नारी हृदय की स्वाभाविक करुणा, दया, ममता, क्षमा आदि सद्वृत्तियों के विरुद्ध दर्प, क्रूरता, उग्रता आदि का आलम्बन लेती है, यही उसकी असफलता का कारण है। अन्त में वासवी के निरन्तर कोमल व्यवहार एवं सहिष्णुता से उसके हृदय में आदर्श भावनाओं का सात्विक आलोक होता है और वह अपने किये के प्रति पश्चात्ताप एवं ग्लानि प्रकट करती है। इस प्रकार वह खोये हुए नारी गौरव को पुनः प्राप्त करने में समर्थ होती है।

मागन्धी की वासनाओं की अतृप्ति का तूफान उसे विभिन्न दिशाओं में ले जाता है और वह विवश-सी उसका अनुसरण करती है। वासना और ऐश्वर्य की कीचड़ में उसे शान्ति और सन्तोष नहीं मिलता। वह अपने रूप के जाल में न जाने कितने वासना-कीटों को फँसाती है, यहाँ तक कि कौशाम्बी नरेश उदयन जैसे प्रतापी महाराजा भी उसके चरण चंचरीक बन जाते हैं। समुद्रदत्त उसकी रूप-शिखा पर मुग्ध हो शलभवत् जीवन-लीला समाप्त कर देता है। विरुद्धक जैसा आतंकवादी व्यक्ति भी उसके चंगुल से नहीं बचता। गौतम ही अकेले ऐसे व्यक्ति निकले हैं जो उसके सौरूप्य के भिखारी नहीं बनते। मागन्धी जैसी रूपगर्विता-

नारियाँ अपने रूप और यौवन की उपेक्षा कैसे सहन कर सकती हैं। वह कहती है—"दिखला दूँगी कि स्त्रियाँ क्या कर सकती हैं।" साहस और दृढ़ता उसकी दो प्रधान विशेषताएँ हैं। वह अपनी इच्छा-पूर्ति के लिए उचित अथवा अनुचित सभी काम करने को तत्पर रहती है। अपनी वासनाओं की अतृप्ति के कारण वह काशी की सुप्रसिद्ध वेश्या श्यामा बन जाती है। विरुद्धक ही एकमात्र ऐसा व्यक्ति उसके जीवन में आता है जो उसके सच्चे प्रेम का अधिकारी बनता है, विरुद्धक के प्रति उसका प्रेम निःस्वार्थ, विश्वस्त एवं बलिदानपूर्ण है। विरुद्धक उसके इस सच्चे प्रेम का स्वागत नहीं करता, वह उसकी हत्या का प्रयास करके उसका समस्त धन ले कर चम्पत हो जाता है। यह घटना मागन्धी (श्यामा) के जीवन-क्रम को ही बदल देती है। यह उसे एक ऐसी ठोकर लगती है जिसे खा कर वह सब-कुछ सीखती है। उसकी विवेक की आँखें खुल जाती हैं—"ओह! जिसके लिए मैंने अपना सब छोड़ दिया, अपने वैभव पर ठोकर लगा दी, उसका ऐसा आचरण!" वह कुमार्ग पर जाती हुई नौका की भाँति लहरों के प्रबल थपेड़ों से सन्मार्ग पर आ जाती है। वह अपने हृदय की समस्त दुर्भावनाओं को पश्चात्ताप की अग्नि में जला कर कनकवत् निर्मल एवं शुद्ध हो जाती है। उसके वासना-तप्त हृदय को गौतम की वरद हस्त-छाया में ही शान्ति मिलती है। उसका चरित्र मानव के मनोवैज्ञानिक उतार-चढ़ाव के अनुसार चित्रित हुआ है।

शक्तिमती (महामाया) विद्रोही पुत्र विरुद्धक की माँ है। वह अपने पुत्र की विद्रोही भावनाओं को भड़काती है। वह भाग्य के भरोसे नहीं, पौरुष के भरोसे अपना भविष्य-निर्माण करना चाहती है। महत्त्वाकांक्षाओं की वह अनुचरी है, वह राजनैतिक क्षेत्र में पुरुषों से प्रतिद्वन्द्विता करना चाहती है। दीर्घ कारायण से वह कहती है—"यदि पुरुष इन कामों को कर सकते हैं तो स्त्रियाँ क्यों न करें?" वह राज्य-प्राप्ति के लिए अपने पति प्रसेनजित् के विरुद्ध भी षड्यन्त्र रचने से नहीं चूकती, किन्तु

परिस्थितियाँ उसका साथ नहीं देतीं। मल्लिका के सम्पर्क से वह मनुष्यता का अवलम्बन करती है।

दामिनी वासनाओं के प्रवाह का नगण्य तिनका बन कर हमारे सामने आती है और अन्त में हिमालय की भाँति अडिग और महान् बन जाती है। वह गुरुपत्नी है आचार्य वेद की धर्म-पत्नी है, अपने पति के शिष्य उत्तंक पर वह अनुरक्त हो जाती है। 'कामातुराणां न भयं न लज्जा' के अनुसार वह अपने पद और मर्यादा का तनिक भी ध्यान नहीं रखती। मनोनिग्रह उसके लिए आत्मघात के समान है। उत्तंक से प्रेम का प्रतिदान न पा कर दामिनी प्रतिशोध की भयंकर आँधी बन जाती है। वह तक्षक को, जनमेजय के यहाँ उत्तंक के जाने का रहस्य बता कर उसके विनाश के लिए भड़काती है। अन्त में नागों की कुटिलता और कठोरता के थपेड़े उसे वास्तविक स्थिति में ला देते हैं, उसका विवेक जाग्रत हो जाता है, वह कहती है—"मनुष्य जब एक बार पाप के नागपाश में फँसता है, तब वह उसी में और भी लिपटता जाता है। उसी के गाढ़े आलिंगन, भयानक परिरम्भ में सुखी होने लगता है। पापों की शृंखला बन जाती है। उसी के नए-नए रूपों पर आसक्त होना पड़ता है।" वह जितनी तीव्रता के साथ पतन के मार्ग पर अग्रसर हुई थी विवेक जाग्रत होने पर उससे दूने साहस और निर्भीकता के साथ आत्मोद्धार और आत्मसंयम के मार्ग पर प्रवृत्त होती है। अश्वसेन की कामुक चेष्टाओं का वह कितनी दृढ़ता के साथ प्रतिषेध करती है—"हटो, अश्वसेन, मेरा मानस कलुषित हो चुका है, पर अभी तक मेरा शरीर पवित्र है। उसे दूषित न होने दूँगी—चाहे प्राण चले जायें।" अन्त में उत्तंक भी दामिनी के सामने अपना मस्तक झुका देता है और क्रूर हिंसापूर्ण कृत्यों से विरत हो जाता है।

'राज्यश्री' नाटक में सुरमा एक साधारण मालिनी होते हुए भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। वह रूप और यौवन की चंचल लहरों में इतनी दूर तक बह जाती है कि अपने वास्तविक रूप को नहीं पहिचान

पाती। वह तनिक से विश्वास में आ जाने वाली महत्त्वाकांक्षिणी रमणी है। तनिक सी चाटुकारिता उसे आत्म-विस्मृत बना देती है। कामुक एवं ऐश्वर्य-कामनाओं की तृप्ति के लिए वह देवगुप्त के कृत्रिम विलास-युक्त अनुराग में आ जाती है। वह रानी होने का मधुर स्वप्न देखती है। देवगुप्त उसकी इस कमजोरी का लाभ उठा कर उसे अपने विलास एवं वासनाओं की सामग्री बनाता है और एक बालू की भीत की भाँति वह सुखी जीवन भूमिसात् हो जाता है। वह पुनः शान्ति भिक्षुक का आश्रय लेती है और उसके दस्यु-जीवन तथा अमानुषिक कार्यों से सुरमा की मानसिक दशा में परिवर्तन होता है। यहीं से उसका जीवन आदर्शोन्मुखी पुनीत भावनाओं की ओर उन्मुख होता है और वह काषाय वस्त्र धारण कर के जीवन के श्रेय-पथ की पथिक बन जाती है।

(III) [प्रसाद के नारी-पात्रों का तीसरा वर्ग वह है जो आरम्भ से अन्त तक आदर्श के प्रतिकूल आचरण करता हुआ ही अपनी जीवन-लीला समाप्त करता है। उनके दुर्संस्कार उन्हें इस पाप-पंक से निकलने ही नहीं देते। ऐसे पात्र 'आदर्श-विरोधी' कहे जा सकते हैं। ये पात्र आरम्भ से अन्त तक छल, हिंसा, घृणा, द्वेष, क्रूरता, पाखण्ड आदि का आचरण करते हुए ही इस संसार से विदा होते हैं। विजया और अनन्त देवी इन नारी-पात्रों में शीर्ष स्थान रखती हैं] विजया में मोहान्धता एवं विवेकशून्यता अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच गई है। उसकी दृष्टि में सुख के मापदण्ड हैं विलास, कामना, अधिकार-भावना एवं अतुल धनराशि। धनकुबेर की पुत्री होने से क्षत्रियोचित साहस एवं औदार्य उसमें नहीं है। प्रेम को भी वह ऐश्वर्य और अधिकार की तुला पर तोलती है। विजया के हृदय में स्कन्दगुप्त के प्रति प्रणय अंकुरित होता है। किन्तु स्कन्दगुप्त को राज्याधिकार से विमुख एवं उपेक्षित देख कर वह उसे आगे पल्लवित नहीं होने देती। देवसेना के यह पूछने पर कि 'क्या कहीं तुम्हारा हृदय पराजित नहीं हुआ?' वह कहती है—"मुझे तो आज तक किसी को देख कर हारना नहीं पड़ा। हाँ, एक युवराज के

सामने मन ढीला हुआ, परन्तु मैं उसे कुछ राजकीय प्रभाव ही कह कर टाल दे सकती हूँ।" वह प्रेम को मन-बहलाव का साधन समझती है। स्कन्द की अधिकार-निरपेक्ष-भावना से उसके प्रति उदासीन हो कर वह चक्रपालित के वीरत्व एवं दर्पयुक्तत्व पर रीझ जाती है। कुछ काल पश्चात् भटार्क को पा कर चक्रपालित उसकी दृष्टि से निकल जाता है। भटार्क में वह स्वाभिलषित महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति देखती है अतः उसी को पति रूप में वरण कर लेती है। भटार्क का महत्त्व कम होने पर वह पुनः स्कन्द को अपनी वासना के जाल में फँसा लेने के लिए सयत्न होती है। वह अपनी व्यापारिक मनोवृत्ति के कारण स्कन्द को अतुल धनराशि से क्रय करना चाहती है। वह स्कन्द को अपने वासना-जाल में फँसा लेने के लिए ही देश-सेवा की प्रवंचना रचती है—"मैंने देश-वासियों को सन्नद्ध करने का संकल्प किया है, और भटार्क का संसर्ग छोड़ दिया है। तुम्हारी सेवा के उपयुक्त बनने का उद्योग कर रही हूँ। मैं मालव और सौराष्ट्र को तुम्हारे लिए स्वतन्त्र करा दूँगी; लोभी हूण दस्युओं से उसे छुड़ा लेना मेरा काम है। केवल तुम स्वीकार कर लो।"

अपने इस प्रवंचन-शस्त्र के असफल होने पर वह वासना का अमोघ अस्त्र फेंकती है—"रहने दो यह थोथा ज्ञान। प्रियतम! यह भरा हुआ यौवन और प्रेमी हृदय विलास के उपकरणों के साथ प्रस्तुत है। उन्मुक्त आकाश के नील-नीरद मण्डल में दो बिजलियों के समान क्रीड़ा करते-करते हम लोग तिरोहित हो जायँ।" भटार्क की भर्त्सनाओं से वह आत्महत्या कर लेती है और घृणित जीवन से छुटकारा पाती है। विजया मे प्रतिशोध और ईर्ष्या की भावना इतनी प्रबल है कि वह अपनी बाल-सखी देवसेना को श्मशान मे बलि के लिए बहका कर ले जाती है। विजया आकाश से टूटे हुए उल्का-पिण्ड की भाँति वासना, ईर्ष्या, प्रतिशोध एवं मिथ्याभिमान की परिधि मे खण्ड-खण्ड हो कर विलीन हो जाती है।

अनन्त देवी ऐसी ही दूसरी नारी है जो वैभव और वासना की उद्दाम पिपासा से व्याकुल हो कर अतृप्ति की मृग-मरीचिका में आजीवन भटकती रहती है। भटार्क के शब्दों में—'उसकी आँखों में काम-पिपासा के संकेत उबल रहे हैं, अतृप्ति की चंचल प्रवंचना कपोलों पर आरक्त हो कर क्रीडा कर रही है। हृदय में श्वासों की गरमी विलास का संदेश वहन कर रही है।' अनन्त देवी अपने निर्वीर्य एवं अनधिकारी पुत्र को राज्य-सिंहासन पर बैठाने एवं स्वयं राजमाता के गौरवमय पद की अधिकारी बनने की अनधिकार चेष्टा से गुप्त साम्राज्य के लिए धूम्रकेतु बन जाती है। अपनी इच्छा-पूर्ति के लिए वह नीच-से-नीच दुष्कृत्य करने के लिए प्रस्तुत रहती है। अपने पति के लिए वह मृत्यु का कारण बनती है, सपत्नी की वध-चेष्टा में वह कुछ भी उठा नहीं रखती। साम्राज्य के विरुद्ध विदेशियों को वह सहायता देती है। इस वासना और अधिकार की आँधी में वह अपने गौरवमय राजमहिषी पद को भी भूल जाती है। वह अपने पुत्र पुरगुप्त के समक्ष ही निर्लज्ज हो कर मदिरा-पान एवं भटार्क के साथ कामुक चेष्टाएँ करती है। पुरुषत्व की होड़, राज्य-प्राप्ति की महत्त्वकांक्षा, वासनाओं की अदम्य लालसा उसे नारीत्व की निम्न कोटि में पहुँचा देती है। जहाँ प्रसाद जी ने देवसेना, कल्याणी, सुवासिनी के रूप में नारीत्व का देवी रूप प्रस्तुत किया है वहाँ विजया और अनन्त देवी में दानवी रूप।

प्रसाद के नारी-पात्रों के उपर्युक्त श्रेणी-विभाजन कर लेने तथा उनके चारित्रिक उत्थान-पतन की कड़ियों का अध्ययन कर लेने के पश्चात् एक विचार हृदय में प्रतिष्ठा पाता है कि प्रसाद ने दोनों (आदर्श-पूर्ण एवं आदर्श-विरोधी) ही प्रकार के नारी-पात्रों में कुछ अत्युक्ति एवं परिसीमा से काम लिया है। उनके आदर्श पात्र कमजोरियों से बिलकुल अछूते मानवत्व की कोटि से ऊपर देव प्रतीत होते हैं, उनमें आदर्श मानव बिलकुल मूर्त्त बन कर आ बैठा है। इसी प्रकार आदर्श-विरोधी पात्रों में निम्न मनोवृत्तियाँ सीमा का उल्लंघन कर गई हैं, उनके

हृदय में कहीं भी सत्प्रवृत्तियाँ जाग्रत होती ही नहीं। जिन पात्रों को उन्होंने आदर्श चित्रित किया है वे आदर्श की जड मूर्ति बन बैठे हैं और जिन्हे अधम चित्रित किया है उनका अधमत्व उन्हें दानवीय कोटि में पहुँचा देता है। अधम-से-अधम व्यक्ति में भी कोई-न-कोई ऐसा गुण होता है जो उसके व्यक्तित्व को सजीव रखता है और महान्-से महान् व्यक्ति में कोई ऐसी कमजोरी छिपी होती है जो उसके मानवत्व को सुरक्षित रखती है, किन्तु प्रसाद के पात्रों में ऐसी बात नहीं है। वे सब एक-सी ही लकीर को पीटते चलते हैं, एक ही पथ के वे सब पथिक हैं। यही कारण है कि उनके पात्रों में व्यक्तित्व की विविधता और अनेकरूपता नहीं है। सद्भाव-सम्पन्न सभी पात्रों में उन्होंने गुणों एवं वृत्तियों का एक-सा ही साम्य रखा है जिससे उनके बहुत से पात्र एक ही कोटि में रखने योग्य हैं। सत्पात्रों में वही त्याग, औदार्य, निश्छलता और समष्टि के प्रति व्यष्टि का निर्मम आत्मसमर्पण। इसके विरुद्ध असत्पात्रों में वही स्वार्थपरता, कामुकता, क्रूरता और अनौदार्य। एक पुनरावृत्ति-सी प्रतीत होती है, मानव-हृदय की विभिन्न वृत्तियों एवं व्यक्तित्व की विविधता की व्यञ्जना उसमें बहुत कम है। यही कारण है कि उनके नारी के वर्गीकरण की कोई निश्चित रेखा नहीं खींची जा सकती। उनके बहुत से पात्र ऐसे हैं जो प्रेम सम्बन्धी आदर्श, राष्ट्र सम्बन्धी आदर्श, विश्वात्म-सम्बन्धी आदर्श, नैतिक एव कर्तव्य सम्बन्धी सभी आदर्शों में समान रूप से आ सकते हैं, उन्हें किस कोटि में रखा जाये—यह बडी विचिकित्सा का विषय बन जाता है।

'अस्तु एको हि दोषो गुण-सन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः'। प्रसाद के नारी पात्र हमारे जीवन को एक नवीन सन्देश देते हैं, भूखे मन को विचार खाद्य-सामग्री प्रस्तुत करते हैं। वे मानवीय जीवन के लिए प्रकाश-स्तम्भ हैं।

कंकाल

(गंगाप्रसाद पाण्डेय)

साहित्य में प्रसाद सदैव अतीत के सम्पन्न आँचल की ओट से अभिव्यक्त हुए हैं, यहीं तक वे जीवन के कवि हैं। कवि की कल्पना चिर संगिनी है किन्तु द्रष्टा को कल्पना का साथ छोड़ कर अनुभूति (वास्तविक) का साथ देना पड़ता है। समाज के लिए साहित्य की यही सब से बड़ी देन है। वास्तविकता का अर्थ इन्द्रिय-ग्राह्य सांसारिक सत्य होगा इसे स्मरण रखना चाहिए। जिसे हम आँखों से देख कर उसका दर्शन लाभ कर सकते हैं, उसके कोमल-कठोर स्पर्श का अनुभव कर सकते हैं, तर्क और बुद्धि से परीक्षित प्रामाणिकता का आरोप कर सकते हैं—वही हमारे लिए वास्तविक है।

इसके परे भी एक स्थिति है, चाहे हम उसे मानसिक कहें, आध्यात्मिक कहें या मनोवैज्ञानिक कहें, उसका अस्तित्व अक्षुण्ण है। यथार्थ और आदर्श की सीमाएँ भी इसी सत्य से अनुप्राणित हैं। आदर्श की सम्भावनाएँ जीवन को गति देती हैं और यथार्थ की जीवन को दौड़ (व्यायाम)। आज का सारा संसार जैसे मार-मार कर सैनिक बनाया गया है। जीवन में चलने, दौड़ने दोनो की आवश्यकता है, ऐसे ही यथार्थ और आदर्श की।

साहित्य का मर्मी परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के विश्लेषण से उतनी ममता नहीं रखता जितनी उनके समन्वय की सुरुचि से। प्रसाद साहित्य की इसी श्रेणी के मनीषी हैं। आध्यात्मिक दर्शन और भौतिक दर्शन के समीकरण से जीवन की जिस दिशा का उन्होंने संकेत किया है, उसे अवास्तविक कहना संभव नहीं। आदर्शोन्मुख साहित्य जीवन को गति और उत्कर्ष दोनो देता है, इस विचार से प्रसाद आदर्शवादी हैं।

उन्होंने साहित्य में यथार्थ की स्थिति का मानसिक संस्कार किया है। जमीन पर पैर टेक कर आकाश का कवि-अवलोकन किया है। यथार्थवादियों की अदूरदर्शिता जब जीवन की गति की तीव्रता में स्थिति की उपेक्षा कर जाती है तब भी आदर्शवादी की साधनाशील सम्भावनाएँ गति के साथ स्थिति का समर्थन करने की शक्ति रखती हैं। ऐसी सम्भावनाओं को असत्य नहीं कहा जा सकता, अन्यथा जीवन, जीवन न रह कर यंत्र मात्र रह जावेगा। साहित्य न तो आध्यात्मिक दर्शन—न केवल जगत् वरन् जगत् ही सत्य का—सम्बल ग्रहण कर सकता। उसे तो दोनों के बीच की सचाई ग्रहण करनी है।

'कामायनी' में प्रसाद की इस चेतना का दर्शन हमें काव्य के माध्यम से होता है और 'कंकाल' में सामाजिक निरूपण से। प्रसाद दोनों जगह आधुनिक युग में अकेले हैं। 'कंकाल' का सामाजिक दृष्टिकोण भारत का ही नहीं विश्व-मानवता का भावी दृष्टिकोण है। द्रष्टा को इसी कारण त्रिकालदर्शी कहा गया है, यों भी व्यतीत (अतीत) और व्यक्त (वर्तमान) की स्थिति भविष्य में अपना विकास करेगी, भाव-योगियों से यह छिपा नहीं। भारतीय संस्कृति और अध्यात्म के आधार से व्यक्ति और समाज का, यथार्थ और आदर्श का, स्थूल और सूक्ष्म का जो सुन्दर स्वरूप 'कंकाल' के द्वारा संसार के सामने रखा गया है वह व्यक्ति और समाज को दूध और पानी की तरह अपने में मिलाये हुए है। उनके चरित्र, शरीर कम और शक्ति अधिक हैं। देश की सामाजिक स्थिति और विकृति का ही चित्रण 'कंकाल' में नहीं है, धार्मिकता की भी धज्जियाँ उड़ाई गई हैं। सब से बड़ी विशेषता उसका भारतीय वातावरण है। समाज के एक विशेष स्थिति के पात्र इस विचार-धारा के वाहन हैं, उन्हीं के द्वारा इस सत्य की प्रतीति पुष्टि पाती है।

'कंकाल' के सामाजिक विचार, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध पर एक गहरा अध्ययन उपस्थित करते हैं। इसका कारण है। प्रसाद जीवन में आनन्द के उपासक और उद्भावक हैं और प्रेम उनका आधार है।

अतः प्रेम का स्वस्थ उष्ण स्पन्दन उनकी कृतियों में अवश्यंभावी रहता है। 'कंकाल' में प्रेम के दो सामाजिक विभाग हैं; विवाहित और अविवाहित। इसके प्रायः पात्र जारज (वर्णसंकर) हैं।

उपन्यास की नायिका तारा और नायक विजय दोनों ही जारज हैं और तारा का पुत्र भी जारज है। पात्रों का चुनाव बहुत ही प्रगतिशील है, सन्देह नहीं। समाज में विवाह एक समझौता है, यदि वह अपना स्वरूप बदल कर जीवन को पंगु बना देने वाला बन्धन बन जाय तो क्या व्यक्ति उसे तोड़ देने के लिए तैयार न हो जायगा? भारतीय समाज में विवाह की यही स्थिति है। विजय के माध्यम से नवयुग की चेतना जैसे बोल उठी है--"घन्टी! जो कहते हैं अविवाहित जीवन पाशर्व है, उच्छृंखल है, वे भ्रान्त हैं। हृदय का सम्मिलन ही तो ब्याह है। मैं सर्वस्व तुम्हें अर्पण करता हूँ और तुम मुझे, इसमें किसी मध्यस्थ की आवश्यकता क्यों? मन्त्रों का महत्त्व कितना? झगडे को विनिमय की यदि सम्भावना रही तो वह समर्पण ही कैसा? मैं स्वतंत्र प्रेम की सत्ता को स्वीकार करता हूँ, समाज न करे तो क्या?" आज का समाज-वादी भी तो यही कहता है।

व्यक्ति स्वातंत्र्य की इस सामाजिकता के साथ प्रसाद उसका राजनीतिक पहलू भी सामने रखते हैं। "प्रत्येक समाज मे सम्पत्ति, अधिकार और विद्या ने भिन्न देशों में जाति-वर्ण और ऊँच-नीच की सृष्टि की। जब आप उसे ईश्वरकृत विभाग समझने लगते हैं तब यह भूल जाते हैं कि इसमें ईश्वर का उतना सम्बन्ध नहीं जितना उसकी विभूतियो का। कुछ दिनों तक उन विभूतियो के अधिकारी बने रहने पर मनुष्य के संस्कार भी वैसे ही हो जाते हैं और वह प्रमत्त हो जाता है। प्राकृतिक ईश्वरीय नियम विभूतियों का दुरुपयोग देख कर विकास की चेष्टा करता है, वह कहलाती है, उत्क्रान्ति। उस समय केन्द्रीभूत विभूतियाँ मानव-स्वार्थ के बन्धनो को तोड़ कर समस्त भूतहित बिखरना चाहती हैं। यह समदर्शी भगवान की क्रीड़ा है।" इसीलिए 'भारतसंघ'

स्वाधारण के लिए मुक्त है, वह वर्गवाद, धार्मिक पवित्रतावाद, अभिजात्यवाद इत्यादि अनेक रूपों में फैले हुए सब देशों के भिन्न-भिन्न प्रकार के जातिवादों की अत्यन्त उपेक्षा करता है। यही व्यक्ति की राजनीतिक स्वतन्त्रता है।

व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के इस उद्बोधन मे स्त्री-पुरुष का भेद-भाव नहीं पाया जाता। उपन्यास की मूल धारणा का आधार स्त्री-पुरुष सम्बन्ध ही है। इसके द्वारा लेखक ने सुन्दर-असुन्दर सत्य के दोनों स्वरूपों का विशद विवेचन किया है। उपन्यासों के पात्र केवल आदर्श की आकुलता से संचालित नहीं होते, वे यथार्थ का भी स्पर्श करते हैं। सभी पात्र हमीं-आप में से लिये गये हैं, उनमे साधारण मनुष्यों की महानता और हीनता दोनो के दर्शन होते हैं। यदि अपवादों को छोड़ दिया जाय तो आज का सामाजिक प्राणी पतन की ओर अधिक उन्मुख है। भारतीय स्त्री अपनी हृदय की दुर्बलता और पुरुष स्वार्थ की क्रीडा का शिकार है। इसके उद्घाटन में प्रसाद नितान्त यथार्थवादी हैं किन्तु अल्ट्रारियलिस्ट की भाँति वे मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते। नाटकों में प्रसाद ने प्राचीन भारत की महत्ता का निदर्शन किया है और उपन्यासो में अर्वाचीन भारत की सामाजिक विपन्नता का।

प्रसाद के नाटकों की समालोचना करते हुए प्रेमचन्द ने लिखा था कि इन पुरानी बातों से देश का क्या लाभ होगा? गड़ा मुर्दा उखाड़ने से क्या कल्याण? इन प्रश्नों का उत्तर प्रसाद ने अपने उपन्यासों के द्वारा दिया है। उनके उपन्यासों के सभी पात्र समाज के अभिशाप से संतप्त और व्यक्ति के विकास की आस्था से आश्वस्त हैं। पात्रों की जीवनलीला का परिवेक्षण करने के पश्चात् सामाजिक कुरीतियों के प्रति घृणा का भाव उभाड़ने में लेखक ने कमाल हासिल किया है। उपन्यासों के निष्कर्ष नवयुग के पोषक हैं। पात्रों की बातचीत में नवयुग के अन्तःकरण से निकली हुई वाणी की प्रतिध्वनि प्रत्यक्ष हो उठती है। जिसमें प्रेम को व्यवसाय के ऊपर स्थान दिया गया है और व्यापारिक

विवाह की भावना पर जिसने हमारे जीवन को मृतक-सा बना दिया है कुठाराघात किया गया है। स्वतन्त्र प्रेम की सम्भावना तभी हो सकती है जब स्त्री-पुरुष दोनो स्वतन्त्रता का अनुभव करेंगे। स्वतन्त्रता का आधार उच्छृंखलता नहीं, संयम है।

इसी के सुदृढ़ आधार पर खड़ा हो कर 'कंकाल' में समाज से विद्रोह के साथ लेखक, व्यक्ति की निवृत्ति-साधक संस्कृति की अव्यावहारिकता पर भी अपना आक्रोश प्रकट करता है। इस प्रकार 'कंकाल' स्त्री-पुरुष सम्बन्ध की व्यावहारिक स्वतन्त्रता और व्यक्तिगत विकास की कर्मठ प्रेरणा का शक्तिशाली आयोजन करता है। उसका कला-पक्ष सौंदर्यमय और निर्माण-पक्ष व्यक्तिमय है। किसी भी सामाजिक संस्था, प्रणाली या अवस्था में उसकी आस्था नहीं है। उसका दृष्टिकोण एकान्त व्यक्तिवादी या एनार्किस्ट है। प्रसाद और प्रेमचन्द के समाज में मूलतः कोई अन्तर नहीं किन्तु प्रेमचन्द ने उसकी ऊपरी सतह का विवेचन अधिक किया है और प्रसाद ने उसकी अन्तरात्मा को स्पर्श करने की चेष्टा की है। प्रेमचन्द की गति वहाँ नहीं, वे सामाजिक व्यवस्था के आगे नहीं बढ़ सके किन्तु उनके बहुत आगे जा कर समाज की रूढ़ पद्धति को तोड़ कर नवीन विचार स्वातंत्र्य और मानवीयता का प्रसाद ने उद्‌घाटन किया है। जनसत्तात्मक भावों की स्थापना प्रसाद के साहित्य में है। प्रेमचन्द यदि आधुनिक भारतीय समाज के चित्रकार हैं तो प्रसाद आधुनिक मानवता के उद्‌बोधक।

अंग्रेज़ी-साहित्य में गाल्सवर्दी के नाटक, व्यक्ति पर समाज के बोझ का दुष्परिणाम दिखाते हैं किन्तु अर्थ-कष्ट की समस्या से आगे उनका क्षेत्र नहीं है। प्रसाद जिस समाज-पीड़ा का उल्लेख करते हैं वह हमारे जीवन की प्रत्येक संधि में समाई हुई है। उसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया व्यक्ति के मन में समाजोच्छेदन के अतिरिक्त कुछ और हो ही नहीं सकती। व्यक्ति, अपनी शक्ति से समाज-पीड़ा को पार करने का उपक्रम करता है। एनार्किस्ट बेकुनिन भी शासन-सत्ता का सर्वथा विनाश करना

चाहता था, प्रिन्स क्रोपाटकिन की भी कुछ ऐसी ही मंशा थी। प्रसाद भी सामाजिक तथा राजनीतिक कुसंस्कारों का प्रतिकार करने के लिए व्यक्ति-स्वातंत्र्य का प्रतिपादन करते हैं। यह स्वातन्त्र्य बुद्धिजन्य होते हुए भी हृदय के संस्कारों का विरोधी नहीं है, अधिकार-पक्ष और कर्तव्य-पक्ष दोनों का निर्वाह उसमें है। चरित्रों की सृष्टि स्वयं समाज के प्रति व्यंगमय और व्यक्ति के प्रति कर्तव्यमय है। जातीयता की दृष्टि से वे सब वर्ण-संकर हैं, व्यक्ति के हिसाब से सब उच्छृङ्खल।

'कंकाल' की सब से भारी विशेषता यह है कि इस पश्चिमी सभ्यता से आकण्ठमग्न युग में भी इसका सम्पूर्ण वातावरण और विचार-पद्धति शुद्ध भारतीय है। इसी कारण उसका उद्देश्य सुधार नहीं, क्रान्ति है। वर्ण-व्यवस्था, जाति-व्यवस्था, जन्म-जात अभिमान व्यवस्था आदि सभी प्रभावों में 'कंकाल' क्रान्ति की लहर फैलाना चाहता है। सामन्ती दर्शन, त्याग और संतोष का उसमें आभास नहीं है। 'कंकाल' हृदय-परिवर्तन और समाज-सुधार के लिए तर्क नहीं देता बल्कि एक संघर्ष का आयास करता है। प्रमुखतः स्त्री-पुरुष सम्बन्ध के माध्यम से कथानक को गति मिलती है। उपन्यास के प्रारम्भ में तारा की उक्ति इसके औचित्य का अन्यतम उदाहरण है। "भगवान् जानते होंगे कि तुम्हारी शैय्या पवित्र है। कभी मैंने स्वप्न में भी तुम्हें छोड़ कर इस जीवन में किसी से प्रेम नहीं किया और न ही मैं कलुषित हुई।" यद्यपि वह, समाज का सार्टीफिकेट विवाह के रूप में नहीं प्राप्त कर सकी थी किन्तु उसका जीवन प्रथम प्रेम की उपासना में अटल था। विवाह-बन्धन में इसकी अनुभूति कहाँ है?

जहाँ एक ओर हमें प्रेम की स्वतन्त्रता को स्वीकार करना पड़ता है वहाँ दूसरी ओर किशोरी और श्रीचन्द के विवाहित जीवन में विवाह-संस्था की अपूर्णताओं का अध्ययन करने का अवकाश भी मिलता है। पुत्र-कामना से प्रेरित किशोरी को निरंजन जैसे महान् धूर्त महात्मा की शरण लेनी पड़ती है। उपर्युक्त विवशताओं के प्रदर्शन, चित्रण से प्रसाद का उद्देश्य सामाजिक जीवन में अनियम फैलाने और वर्णसंकरता को प्रश्रय

देने का नहीं है। वे तो प्रेम को अपने उच्च आसन पर बैठाने के पश्चात् जीवन को संयमित तथा नियमित देखने की आकांक्षा रखते हैं। इसी कारण मंगल और गाला को प्रेम-सूत्र मे बाँध कर एक सामाजिक रूप देने की उन्होने चेष्टा की है, जहाँ न कोई बाह्य आडम्बर है और न व्यवसाय। व्यक्तियो का यह निरूपण सम्पूर्ण मानवता की सेवा का साधन है, शिव और शक्ति का सम्मेलन है।

'कंकाल' का दूसरा दृष्टिकोण, हिन्दू समाज में स्त्रियो की स्थिति का मार्मिक चित्रण करना है। आरम्भ में गुलेनार के रूप मे तारा पुरुषों के मनोविनोद का साधन थी; उसका कोई अपना अस्तित्व नहीं था वह केवल कामी पुरुषों के हाथ की कठपुतली थी। गुलेनार का जीवन अबला स्त्री के पतन की पराकाष्ठा है और तारा का समस्त जीवन अबला के रुदन का इतिहास। तारा ने केवल एक भूल की थी—"मैंने केवल एक अपराध किया है—वह यही कि प्रेम करते समय साक्षी इकट्ठा न कर लिया और कुछ मंत्रो से लोगों की जीभ पर उसका उल्लेख नहीं करा लिया, पर किया था प्रेम।" इसी एक भूल के कारण तारा की सारी सामाजिकता विलीन हो गई। एक जगह घंटी कहती है—"हिन्दू स्त्रियो का समाज ही कैसा है, इसमे उनके लिए कोई अधिकार हो तब तो सोचना-विचारना चाहिए। और जहाँ अंध-अनुसरण करने का आदेश है, वहाँ प्राकृतिक, स्त्री-जनोचित प्यार कर लेने का जो हमारा नैसर्गिक अधिकार है उसे क्यो छोड़ूँ? स्त्रियो को मरना पड़ता है, तब इधर-उधर देखने से क्या? 'मरना है' यही सत्य है, उसे दिखाने के आदर से ब्याह कर के मरा लो या व्यभिचार कह कर तिरस्कार से।" जमुना का कथन भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है—"कोई समाज स्त्रियो का नही, बहन! सब पुरुषों के हैं, स्त्रियो का एक धर्म है, आघात सहने की क्षमता रखना। दुर्दैव के विधान ने उनके लिए यही पूर्णता बता दी है।" प्रसाद ने कई स्थलों पर स्त्री-पुरुषो की असमानता पर कठोर व्यङ्ग किया है—पुरुष उन्हें इतनी शिक्षा और ज्ञान देना चाहते हैं जितना उनके स्वार्थ मे

बाधक न हो, घरों के भीतर अंधकार है, धर्म के नाम पर ढोंग की पूजा है और शील तथा आचार के नाम पर रूढ़ियों की। वहाँ अत्याचार के पर्दे में छिपाई जा रही हैं। नारी जाति का निर्माण विधाता की एक झुँझलाहट है।

इस प्रकार प्रसाद ने सामाजिक असमानताओं, कुरीतियों और धार्मिक दुर्व्यवहारों के प्रति घृणा उत्पन्न कर के उस नये पथ का भी संकेत किया है जिससे मनुष्य मात्र नवजीवन का प्रसार और प्रचार कर सकता है। इसके लिए झूठी महत्ता का त्याग कर के वर्गवाद और जातिवाद को जड़ से उखाड़ कर फेंक देना होगा। स्त्रियों को उनके उचित अधिकार दे कर उनके साथ न्याय करना होगा। 'भारत-संघ' की स्थापना का यह उद्देश्य स्मरणीय है—"घरों के पर्दे की दीवारों के भीतर नारी जाति के सुख, स्वास्थ्य और संयत-स्वतन्त्रता की घोषणा करें। उनमें उन्नति, सहानुभूति, क्रियात्मक प्रेरणा का प्रकाश फैलायें। हमारा देश इस संदेश से—नवयुग के संदेश से—स्वास्थ्य लाभ करे। आर्य-ललनाओं का उत्साह सफल हो, यही भगवान् से प्रार्थना है।" यही भारत के उज्ज्वल भविष्य का आदर्श है। इसी पर समाज की नींव पड़ सकती है। 'कंकाल' का मुख्य सन्देश है—स्त्रियों का सम्मान करना, उनकी समानता को स्वीकार करना और धर्म के नाम पर होने वाले अत्याचारों को सक्रिय विरोध के द्वारा रोकना। जातिवाद, वर्गवाद और धार्मिक संकीर्णता के ऊपर स्त्री-पुरुष के नैतिक आभिजात्य और उसके व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का समर्थन पानी में तेल की तरह उतराता है। वास्तव में 'कंकाल' जागरण युग की श्रेष्ठ साहित्यिक कृति है।

विचारों की इस महत्ता के बाद 'कंकाल' को उसकी औपन्यासिकता के दृष्टिकोण से भी देखना अनुपयुक्त न होगा। यह एक घटना प्रधान उपन्यास है, बहुत सी घटनाएँ घटती हैं। देवनिरंजन और किशोरी की एक कथा है, मंगल और तारा की एक दूसरी। दोनों कथाओं को कुशल चित्रकार की भाँति, रंगों को मिलाने की चेष्टा है। इसके भीतर

दो-तीन उपकथाएँ भी हैं। इस कारण इसकी कथा-वस्तु में एक शिथिलता है, विशृंखलता है; सारी कथा एक कथानक का विकास नहीं है, एक दूसरे का सम्बन्ध घटनाचक्र द्वारा होता है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि प्रसाद सब से पहले कवि हैं, बाद को कुछ और। उनकी कृतियो में काव्य की भावात्मकता अनिवार्य है, 'कंकाल' भी इसका अपवाद नहीं। प्रगतिशील ओजमय विचारों की काव्य-लड़ियाँ 'कंकाल' में यत्रतत्र फैली हैं, उनके संगठन से प्रसाद के महान व्यक्तित्व का पता चलता है और हम सभी उनकी शक्तिशाली प्रतिभा के कायल हो जाते हैं, पर कानो मे जैसे धीरे से कोई कह जाता है—"काश कि 'कंकाल' भी काव्य होता ?"

विचारो के महत्त्व से नहीं, किन्तु कथानक की सुसंगति और स्वाभाविक विकास की दृष्टि से 'तितली' अधिक सफल उपन्यास है। 'तितली' एक ग्राम का चित्र है, इसमें एक ग्राम के दो प्राणियों के चारो ओर सारा चक्र चलता है। बंजो और मधु अर्थात् तितली और मधुवन इसके प्रधान पात्र हैं। तितली का स्वभाव ही मधुवन मे नृत्य करना है और बाकी सब पात्र इन नृत्य के दर्शक हैं। इन्द्रदेव, शैला, माधुरी, स्वरूपकुमारी और अनवरी आदि नगर से आते हैं और लौट जाते हैं। 'कंकाल' मे घटनाओं की प्रधानता है और 'तितली' में कथा का प्राधान्य है।

इसे यो भी कहा जा सकता है कि 'कंकाल' का कथानक घटनाओ से बनता है और 'तितली' की घटनाएँ कथानक से बनी हैं। 'कंकाल' के पात्र कुछ दार्शनिक विचित्रता लिये हैं किन्तु 'तितली' के सभी पात्र स्वाभाविक हैं। 'कंकाल' के गोस्वामी जी और 'तितली' के बनजरिया वाले बाबा जी में अद्भुत साम्य है। 'तितली' में प्रेमचन्द के उपन्यासो 'रंगभूमि', 'गोदान' के सभी प्रसंगों का समावेश मिल जाता है किन्तु सत्याग्रह-आन्दोलन का स्पर्श प्रसाद ने नही किया। चरित्र-चित्रण, कथावस्तु का विकास और उसका नाटकीय निर्वाह 'तितली' की अलग

तितली

[पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश']

प्रसाद की प्रतिभा बहुमुखी है। जिस क्षेत्र में उन्होंने पदार्पण किया उसमें वे इतनी दूर तक पहुँच गये कि देखने वाले को आश्चर्य होता है। साहित्यकार और कलाकार ऐसे होते हैं, जिनकी प्रतिभा साहित्य की विभिन्न दिशाओं में आगे बढ़ती है पर वे उन सभी दिशाओं में समान रूप से साधिकार भ्रमण कर सकें ऐसा सौभाग्य सबको प्राप्त नहीं होता। विरले ही ऐसे प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार होते हैं। प्रसाद ऐसे ही विरले कलाकार थे। क्या कविता, क्या नाटक, क्या कहानी, क्या उपन्यास, क्या निबन्ध, कोई ऐसी धारा नहीं जिसमे प्रसाद गहरे उतर कर नवीन उद्‌भावना के मोती न लाये हो। प्रत्येक क्षेत्र में उन्होने अपने व्यक्तित्व की छाप छोडी है।

उपन्यास के क्षेत्र में प्रसाद ने सर्वप्रथम 'कंकाल' की देन दी थी। समाज के यथार्थ रूप का दिग्दर्शन उनका लक्ष्य था और हमारी समझ मे प्रेमचन्द के आदर्शवाद के जवाब में प्रसाद ने यथार्थवाद का समर्थन 'कंकाल' द्वारा किया था। 'कंकाल' का यथार्थ ऐसा भयंकर है कि उसे स्वीकार करने की शक्ति उस समय, जब कि वह प्रकाशित हुआ था, लोगों में नहीं थी और उसके प्रकाशन से हिन्दी जगत् में हलचल मच गई थी। स्वयं प्रेमचन्द ने 'कंकाल' की प्रमुख नारी घटी के सम्बन्ध मे लिखा था कि घंटी का चरित्र बहुत ही सुन्दर हुआ है। उसने एक दीपक की भाँति अपने प्रकाश से इस रचना को उज्ज्वल कर दिया है। अल्हडपन के साथ जीवन पर ऐसी तात्त्विक दृष्टि यद्यपि पढ़ने में कुछ अस्वाभाविक मालूम होती है पर यथार्थ में सत्य है। यह समाज, जो ऊपर से धार्मिक आडम्बर और नाना प्रकार के विधि निषेधों के लबादे

ओढे है, भीतर अपने यथार्थ रूप मे पशुता और कामुकता का पुंजीभूत रूप है। प्रसाद ने 'कंकाल' द्वारा इसी बात को स्पष्ट किया है। 'तितली' उनका दूसरा उपन्यास है, जिसका लक्ष्य ग्राम्य-जीवन का चित्र अंकित करना है, पर जो यथार्थ 'कंकाल' का आधार है वह 'तितली' का भी है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रसाद अपने उपन्यासों द्वारा समाज की स्थिति को ही दिखाना चाहते थे। इसीलिए 'तितली' का प्रतिपाद्य ग्राम्य-जीवन होने पर भी प्रेमचन्द की भाँति वे केवल जमींदारों और सरकारी अफसरो के अत्याचार से पीड़ित किसानो की दुरवस्था का चित्रण कर के ही अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं समझ लेते वरन् वे समाज, पारिवारिक समस्या और स्त्री-पुरुष की मूल प्रवृत्तियों की छानबीन भी करते है। जैसा कि हम आगे चल कर देखेगे 'तितली' मे भी 'कंकाल' की भाँति समाज की जर्जर अवस्था का चित्र ही अधिक रंगीन है। प्रसाद जैसे समाज को ही लक्ष्य बनाकर चले हो। राजनीति उनके स्वभाव मे नहीं थी। वैसे उनको वर्तमान समाज मे सुधार की आशा भी अधिक नहीं थी। वे अतीत युग के स्वप्नो मे विचरण करने वाले थे। यही कारण है कि अपने तीसरे अधूरे 'इरावती' उपन्यास मे वे फिर अपने अतीत के आनन्द-लोक मे लौट गये। मानो आधुनिक नगर तथा ग्राम के नग्न यथार्थ को देख कर उनका मन काँप गया हो और उसके पुनर्निर्माण के लिए कोई उपयोगी मार्ग न पा कर वे भारत के इतिहास के स्वर्ण-युग को अवतीर्ण करने के लिए विकल हो गये हो। उनके नाटको मे अतीत के भारतीय जीवन का जो चित्र है, वही 'इरावती' की पृष्ठभूमि मे व्याप्त है। लेकिन इससे एक बात स्पष्ट है और वह यह कि भले ही प्रसाद अतीत युग में लौट गये हो और समाज की वर्तमान पतित दशा के लिए कोई हल न सुझा गये हो, उनके उपन्यासो में यथार्थ का ऐसा चित्रण है जो अन्यत्र मिलना कठिन है। प्रसाद के उपन्यासों का ऐतिहासिक महत्त्व यही है कि वे हिन्दी के प्रथम यथार्थवादी उपन्यासकार हैं।

प्रसाद के उपन्यासों के विषय में इतना जान लेने पर 'तितली' के सम्बन्ध में विस्तृत विचार किया जा सकता है। आइए हम देखें कि 'तितली' है क्या ? जैसा कि पहले कहा जा चुका है 'तितली' में एक ग्राम का चित्र है। इसका केन्द्र-विन्दु धामपुर गाँव की थोड़ी-सी बंजर-भूमि है। इस बंजर-भूमि को बनजरिया कहते हैं। यहाँ रामनाथ नाम के एक बाबा जी हैं, जो संस्कृति के ही पण्डित नहीं हैं, विचारों से बड़े क्रान्तिकारी भी हैं। सेवा और स्वावलम्बन के भारतीयता के प्रचार मे उनको जीवन की सार्थकता दिखाई देती है। उनके साथ एक लड़की है—बंजो, जो उनके पूर्व आश्रयदाता और धामपुर के ही खाते-पीते किसान देवनन्दन की अनाथ कन्या है। बंजो को बाबा रामनाथ ने भ्रमण करते हुए उज्जैन जाते हुए पाया था—भूखो मरते देवनन्दन से। देवनन्दन भूखो क्यों मरा, इसके लिए धामपुर की नील कोठी का मालिक वार्टली जिम्मेदार है, जिसके कर्ज को चुकाने मे देवनन्दन के जीवन का अन्त हुआ। बंजो के साथ बाबा रामनाथ के पास एक और लड़का है मधुआ। यह मधुआ धामपुर के पास शेरकोट के ध्वस्त दुर्ग के राजा का असहाय वंशज है, जिसकी समस्त सम्पत्ति उसके पिता द्वारा मुकदमे में स्वाहा हो जाने से कुछ भी उसके पास नहीं है और वह बाबा जी के साथ दस बीघे की बंजरिया में ही कुछ तरकारी आदि उगा कर और उसे बाज़ार में बेच कर पेट भरता है। बंजो और मधुआ एक दिन चुहल में तितली और मधुबन के रूप में बदल जाते हैं और परस्पर तथा दूसरों द्वारा इन्हीं नामों से पुकारे जाते हैं। शेरकोट का सूना खँडहर आबाद करने आती है—मधुआ की विधवा बहन राजकुमारी, जो मधुआ की देखभाल करने लगती है। बंजरिया के पास ही धाम-पुर के जमींदार इन्द्रदेव की छावनी है, जिसमे बड़ी और छोटी दो कोठियाँ हैं। पहले बड़ी मे इन्द्रदेव स्वयं रहते थे पर अब वे छोटी में चले गये हैं क्योंकि बड़ी में उनकी माँ और बहन माधुरी आ कर रहती हैं। इन्द्रदेव के अलग रहने का कारण यह है कि वे इंग्लैण्ड से

अपने साथ एक युवती ले आए हैं—शैला। इसके कारण अनेक प्रवाद इधर-उधर प्रचलित हैं। लन्दन के भिखारियों में रहने वाली और इन्द्रदेव द्वारा दयावश अपने लिए लन्दन में देखभाल के लिए रखी जाने वाली शैला का सम्बन्ध उजड़ी हुई नील कोठी से है, जहाँ उसके माता पिता रहते थे। वह भारतीयता के रंग में रँगी हुई है। प्रवादों के कारण वह नील कोठी में बैंक, अस्पताल, पाठशाला आदि ग्रामीण उपयोगी कार्यों को चलाने के लिए रहने लगती है। उसको इन्द्रदेव से हटाने में बड़ा भारी हाथ है अनवरी नामक एक नर्स का, जो शहर से गाँव की जलवायु में स्वास्थ्य सुधारने के लिए आई इन्द्रदेव की माँ के इलाज के बहाने प्रवेश करती है और गृह-कलह का मूल कारण बनती है। अनवरी माधुरी की सहानुभूति प्राप्त करती है—उस माधुरी की जिसका पति श्यामलाल कलकत्ते में जुआरी और शराबी का जीवन बिताता है और जिसके प्रति दयार्द्र माँ श्यामदुलारी इन्द्रदेव को शैला के कारण घृणा से देखती हुई अपना सब कुछ दुखी लड़की को दे देना चाहती है। इन्द्रदेव के यहाँ दो व्यक्ति हैं एक उनका रसोइया सुखदेव चौबे और दूसरा तहसीलदार। सुखदेव चौबे वहाँ का है, जहाँ राजकुमारी ब्याही थी। वह उसकी ससुराल के पुरोहित वंश का है और राजकुमारी से भाभी का रिश्ता मानता है। शेरकोट में आ कर जब राजकुमारी रहने लगती है तब सुखदेव चौबे उसकी स्थिति से सहानुभूति प्रदर्शित कर उसे प्राप्त कर लेने का प्रयत्न करता है। दूसरी ओर वह इन्द्रदेव को शैला से छुड़ाने के लिए तितली से इन्द्रदेव की शादी का सुझाव रखता है। पर तितली मधुबन की है और एक दिन बाबा रामनाथ उन दोनों का विवाह कर देते हैं। उनके विवाह के ही दिन शैला हिन्दू धर्म की दीक्षा ले कर नील कोठी के सेवा-प्रतिष्ठान में लग जाती है। तहसीलदार पहले मधुबन के यहाँ रह चुका है और अब उसकी बंजरिया को छीन कर नमकहरामी का सबूत देना चाहता है। माधुरी का पति श्यामलाल गाँव में आता है तो सारे गाँव की बहू-बेटियों

पर अपनी वासना-दृष्टि डालता है। यहाँ तक कि कहारी मतिया से बलात्कार करने की चेष्टा करता है। अनवरी के साथ तो उसका ऐसा सम्बन्ध हो जाता है कि उसे ले कर कलकत्ते भाग जाता है। इन्द्रदेव जो इस गृह-कलह और षड्यन्त्र से पहले ही उदासीन थे, अब बनारस जा कर बैरिस्टरी करना आरम्भ करते हैं। श्यामदुलारी भी शहर लौट जाती है—माधुरी के नाम समस्त सम्पत्ति की रजिस्ट्री करने। गाँव में रह जाता है तहसीलदार का एकछत्र राज्य, और उनके सहायक हैं चौबे जी। छावनी उजड़ जाती है। तहसीलदार के अत्याचार बढ़ते हैं। मधुवन के साथी रामजस के सब खेत बेदखल हो जाते हैं तो वह गाँव छोड़ने से पहले फौजदारी कर बैठता है, जिसमें वह स्वयं घायल हो जाता है और सुखदेव चौबे के भी गहरी चोट आती है, चौबे को आश्रय मिलता है धामपुर के महन्त के यहाँ। यह महन्त महन्त ही नहीं महाजन भी है, जो बिहारी जी के नाम पर लोगों को ऋण देता है। रामजस की फौजदारी में मधुवन की प्रेरणा समझ कर तहसीलदार बंजरिया और शेरकोट को हथियाना चाहता है। राजकुमारी इससे घबड़ा कर महन्त के पास रुपया माँगने जाती है। महन्त उसके स्त्रीत्व को लूटने के बदले रुपये देने को तैयार होता है पर उसके चीखने पर मधुवन वहाँ पहुँच जाता है और महन्त का गला दबा, रुपयों की थैली ले भागता है और पहुँचता है मैना वेश्या के यहाँ। यह मैना वेश्या एक बार मधुवन के कुश्ती जीतने पर अपनी प्रीति को व्यक्त करने के लिए भरे दंगल में आम का बौर दे चुकी थी। उसे रुपये दे कर वह भागता है बनारस की ओर जहाँ चुनार में उसकी भेंट होती है रामदीन से, जिसे बिना बात रिफार्मेटरी में भिजवा दिया गया था। वे भाग कर हावड़ा स्टेशन पर लोको में कोयला झोंकने की नौकरी पा जाते हैं। तितली वीरता के साथ बंजरिया में रहती है और राजकुमारी को सँभालती है। शैला अनवरी के श्यामलाल के साथ भाग जाने के बाद से श्यामदुलारी और माधुरी का हृदय जीतने में सफल होती है और समस्त जमींदारी की रजिस्ट्री माधुरी

के साथ मिल कर खेती का काम करती है। चंचल और स्फूर्तिमयी तितली बाबा रामनाथ और मधुवन की देखभाल करने के साथ-साथ परिश्रमी भी है। मधुवन से शादी होने के बाद जब बाबा रामनाथ चले जाते हैं तो वही बाबा रामनाथ के मिशन को पूरा करती है। पाठशाला चलाती है, दीन-दुखियों को शरण देती है और जो कुछ बंजरिया में पैदा होता है उसी से अपनी गुजर करती है। न वह शैला का अहसान लेती है न इन्द्रदेव का। एकबार बनारस वह इन्द्रदेव के पास जाती अवश्य है पर चुपचाप चली आती है। मधुवन की विधवा बहन राजकुमारी अपनी नन्द को भी वह अपनी शरण में रख कर धीरज देती है। मधुबन यदि न भागता तो शायद वह धामपुर को गांधी के स्वप्नों का गॉव ही नहीं बना देती, जैसा कि उसने किया है, उसे और भी सुन्दर रूप देती। मधुवन के विषय में नाना प्रकार के प्रवाद उसे उसके प्रति अटूट प्रेम से विचलित नही कर पाते और जब वह आता है तब उसे वह उसकी धरोहर मोहन को सौंप कर धन्य हो उठती है। वह आदर्श चरित्र की मूक, सेवा-भावी, उदार, स्वाभिमानी और दृढ़ नारी है, जो अपने कार्य में स्वावलम्बन के साथ जुटी रहती है। इसके साथ ही शैला का चरित्र है। शैला का भारत से सम्बन्ध है, उसके मॉ-बाप यहॉ रह चुके हैं और उसके मामा वार्टली की नील कोठी का उजाड खॅडहर अब भी उसकी पुरातन स्मृति को जीवित रखे हुए है। वह अपनी मॉ की तरह ही दयालु है। बाबा रामनाथ से वह संस्कृत पढ़ती है, वह भी उसको इन्द्रदेव ने सिक्षा ही दी थी। साडी भी उसे अच्छी लगती है और उसके व्यवहार से वह भारतीय ही जान पडती है। मधुवन और तितली के विवाह के पहले उसको हिन्दू धर्म में दीक्षित भी कर लिया गया है। वह गम्भीर प्रकृति की नारी है। नील कोठी मे बैंक, अस्पताल, ग्राम-सुधार कार्यालय और प्रचार-विभाग मे इतने काम वह करती है। साथ ही तितली को सहायता करती है। अपने कारण इन्द्रदेव की पारिवारिक प्रतिष्ठा को जो धक्का लगा है, उसी को देख कर वह अलग हो जाती है पर इन्द्रदेव को अपने प्राणों

से अलग नहीं कर पाती। चकबन्दी अफसर वाटसन की ओर वह झुकती अवश्य है पर उसका कारण इन्द्रदेव की उदासीनता और विरक्ति है। जो माधुरी और श्यामदुलारी उससे घृणा करती हैं, वे ही अन्त मे उसे समस्त सम्पत्ति सौंप कर घर की रानी बना देती हैं। यह उसके चरित्र की महत्ता है। अन्य नारी पात्रों मे किसी का चरित्र ऐसा नहीं जो बहुत विकसित कहा जा सके। अनवरी एक नर्स के रूप मे आती है पर कलह उत्पन्न कर अपनी विलास-वृत्ति के कारण श्यामलाल जैसे शराबी के साथ भाग जाती है। मैना वेश्या है, जो मधुवन के साथ विश्वासघात करती है और किसी की नहीं है। रूप का सौदा करना ही उसका ध्येय है। श्यामदुलारी कट्टर हिन्दू महिला है, जो छूतछात मे बुरी तरह विश्वास रखती है। माधुरी शराबी पति से परेशान ईर्ष्यालु महिला है, जो स्वयं अधिकार की लालसा से अपने भाई इन्द्रदेव की सम्पत्ति को हड़पने का यत्न करती है पर नासमझ इतनी कि अनवरी जैसी चट नारी की बातो मे आ जाती है। राजकुमारी बाल-विधवा है, जो सुखदेव चौबे की ओर खिंच कर अपने जीवन को सुख से बिताना चाहती है। मलिया नीच जाति की है पर श्यामलाल की वासनामयी दृष्टि का तिरस्कार कर मेहनत-मजदूरी करना पसन्द करती है, जमीदार की खाती-पीती नौकरानी नहीं। यों तितली और शैला को छोड़ कर अन्य नारी पात्रों की पूरी रूप-रेखा नहीं है। उनके जीवन की एक-दो घटनाएँ ही वहाँ हैं। उनसे ही उनके चरित्र का आभास मिल सकता है, पर वे घटनाएँ हैं ऐसी, जो उनके चरित्र की मुख्य विशेषता को स्पष्ट करती हैं।

पुरुष पात्रों में आरम्भ में सब से प्रमुख आकर्षण बाबा रामनाथ है। अपने आश्रयदाता देवनन्दन की अनाथ कन्या को अपनी बेटी की भाँति पालने वाले बाबा रामनाथ भारतीय सस्कृति के पुजारी हैं और परिश्रम करने में हिचकते नहीं। वे हल चलाने को गौरव की बात समझते हैं और गाँव के लोगों को स्वावलम्बन का पाठ पढ़ाते हैं। यही कारण है कि मधुवन जिसका वश बड़ा ऊँचा है, तरकारियाँ उगा कर

शहर में बेचने जाता है और इसमें लज्जा का अनुभव नहीं करता। स्वयं तितली बंजरिया को एक स्वावलम्बी परिवार बना देती है। बड़े स्वतंत्र विचार हैं बाबा रामनाथ के। बनारस में शास्त्रार्थ हुआ तो सनातनी गुरु के विरुद्ध आर्यसमाजी विचारों का समर्थन करने में भी न चूके और चले आए। निश्चय ऐसा दृढ़ कि राजकुमारी और सुखदेव चौबे के लाख समझाने और धमकी देने पर भी तितली का विवाह मधुबन से कर दिया। उनका व्यक्तित्व इतना तेजोमय और प्रदीप्त है कि शैला भी उनसे प्रभावित हो हिन्दू धर्म की दीक्षा ले लेती है। तितली और मधुबन को विवाह-बन्धन में बाँध कर वे संन्यास ले लेते हैं। उसके बाद मधुबन आता है। मधुबन एक बहुत बड़े जमींदार का लड़का है, जिसके पिता ने मुकदमे में सब कुछ स्वाहा कर उसे कंगाल बना दिया है। इसलिए उसमें वंश-गौरव पर्याप्त मात्रा में है। यद्यपि वह साधारण मजदूर की भाँति हड्डियाँ तोड़ता है तथापि अन्याय बरदाश्त नहीं कर सकता। उसके चरित्र के विकास का अवसर बाबा रामनाथ के चले जाने के बाद आता है जब वह दंगल मे बाबू श्यामलाल के पहलवान को पछाड़ देता है और उससे तहसीलदार और सुखदेव चौबे जलने लगते हैं। उसके बाद तो जहाँ अन्याय होता है वहीं उसका हाथ छूटता हुआ दिखाई देता है। अपनी विधवा बहन से अनुचित सम्बन्ध स्थापित करते हुए चौबे की मरम्मत वह करता है, मैना वेश्या की हाथी से रक्षा करता है। बालमित्र रामजस का पक्ष लेने के लिए जमींदार के गुर्गों से वह लड़ता है, अपनी बहन पर बलात्कार करने वाले महन्त का गला वह दबाता है, हावड़ा में गिरहकटों के झगड़े को देख कर लाठी के कौशल दिखाने लगता है, एक घिरे हुए व्यक्ति की रक्षा करता है, श्यामलाल और मैना को रिक्शे से गिरा देता है। सजा भुगतता है पर अपनी टेक नहीं छोड़ता। 'तितली' में मधुबन के चरित्र की रेखाएँ बड़ी स्पष्ट हैं। इन्द्रदेव शान्त स्वभाव के व्यक्ति हैं। जिन्हें अपनी अमीरी का कोई अभिमान है न शिक्षा का। गरीबों के प्रति दया और प्रेम तथा सम्पत्ति से विराग उनके चरित्र की

विशेषतायें हैं। लन्दन में शैला जैसी अनाथ भिखारिन को अपने साथ ले आते हैं बिना इस बात की चिन्ता किये कि घर में इससे क्या हलचल मचगी? उसके कारण उन्हें घर छोड़ना पड़ता है पर बिना किसी कठिनाई के घर छोड़ देते हैं। और बनारस में प्रेक्टिस से काम चलाते हैं। शैला के लिए सेवा करने के समस्त साधन जुटाते हैं और तितली को ग्राम सुधार में पूरी-पूरी सहायता देते हैं। वे तहसीलदार और सुखदेव चौबे जैसे मुंहलगे नौकरों की बातों में कभी नहीं आते और अपनी प्रजा के हित का सदैव ध्यान रखते हैं। वस्तुतः रामनाथ, शैला, मधुवन और तितली को उन्हीं के त्याग और सेवा-भावना द्वारा अपने विकास का क्षेत्र मिलता है। अन्त में वे शैला के साथ विवाह कर रहने लगते हैं। वाट्सन बड़े कर्त्तव्यपरायण और पवित्र आचरण के व्यक्ति हैं। वे चाहते तो शैला की कमजोरी का फायदा उठा सकते थे पर उन्होंने स्वयं शैला को इन्द्रदेव के साथ जा कर रहने की प्रेरणा दे कर उसका भ्रम दूर कर दिया। वे तितली की सहायता करते हैं। महन्त अपनी जाति के अनुसार विलासी हैं। सुखदेव चौबे और तहसीलदार भी कामुक और नीच प्रवृत्ति के व्यक्ति हैं। श्यामलाल बाबू तो वासना के कीड़े ही हैं। अपनी पत्नी और बच्चे की उपेक्षा कर वे वेश्याओं के पीछे लगे रहते हैं। दुश्चरित्रता की सीमा तो तब होती है जब वे अपनी ससुराल में कहारी मलिया पर बलात्कार करना चाहते हैं। अनवरी को तो ले कर ही भाग जाते हैं। हद दर्जे के बेशर्म और निकम्मे आदमी के रूप में श्यामलाल बाबू का चित्र स्पष्ट है। अन्य पात्रों में गाँवों में रामजस और मटॅगू महन्तों का और शहर में गिरहकटों के सरदार रामाधार पाण्डे और चार सौ बीस कर के पैसा कमाने वालों में बीरू बाबू के चरित्र अपनी जगह खूब हैं। इन सभी पात्रों में रामजस का चरित्र सब से सुन्दर है।

लेकिन 'तितली' उपन्यास का महत्त्व पात्रों के चरित्र-विकास की दृष्टि से न हो कर ग्राम्य चित्रण की दृष्टि से है। प्रसाद ने इसमें

सामन्तीय वातावरण का चित्र दिया है। उन्होंने दिखाया है कि अब यह व्यवस्था बहुत जल्द समाप्त होने वाली है। इस उद्देश्य को स्पष्ट करने के लिए प्रसाद ने एक ओर तो जमींदारों का मिटना बताया है और दूसरी ओर भूमिहीन किसानो के भीतर विद्रोह की भावना दिखाई है। मधुवन, जिसके पिता शेरकोट के किले में राजा की तरह रहते थे, आज बीघा-दो बीघा खेत से पेट भरता है। मधुवन की स्थिति देखिए— 'शेरकोट के कुलीन जमींदार मधुवन के पास अब तीन बीघे खेत है और वही खण्डहर-सा शेरकोट है, इसके अतिरिक्त और कुछ चाहे न बचा हो किन्तु पुरानी गौरव-गाथाएँ तो आज भी सजीव हैं। किसी समय शेरकोट के नाम से लोग सम्मान के साथ सर झुकाते थे।" ('तितली' पृष्ठ ५१) भूमिहीन किसानों के विद्रोह का पता बेदखली का शिकार रामजस के उन शब्दों से लगता है, जो उसने गाँव छोड़कर जाते हुए सुखदेव चौबे से कहे हैं। वह जाते समय खेत मे लड़कों के साथ भोज कर रहा है। सुखदेव चौबे उसे समझाने आता है और जेल की धमकी देता है तो वह कहता है—"यह खेत तुम्हारे बाप का है? मैने इसे छाती का हाड तोड कर जोता-बोया है, मेरा अन्न है, मैं लुटा देता हूँ। तुम होते कौन हो?" ('तितली' पृष्ठ १७६) यही नहीं; वह लाठी से उसका सर भी फोडता है।

सामन्तीय व्यवस्था के पतन की सूचना के साथ प्रसाद ने ग्राम्य-जीवन के और भी चित्र दिये हैं। उनमे ग्रामों की दयनीय दशा का चित्र खींचते हुए प्रसाद ने ज़मींदारों और उनके कारिन्दो के अत्याचारों तथा महाजनों के शोषण की ओर संकेत किया है। 'तितली' में महाजन का कार्य महन्त से लिया गया है, जो बिहारी जी के नाम पर अनाप-सनाप सूद लेता है। ऐसा कर के प्रसाद ने धर्म को शोषण का प्रमुख साधन बना दिया है। तहसीलदार किस प्रकार मधुवन और रामजस का गाँव में रहना मुश्किल कर देता है, यह उनके खेत की बेदखली से मालूम हो जाता है। यही क्यों बहू-बेटियों की इज्जत भी गाँव में नहीं

बच पाती। महन्त परिस्थिति का लाभ उठा कर राजकुमारी के चरित्र को भ्रष्ट करना चाहता है और श्यामलाल बाबू मुलिया कहारी पर बलात्कार करने पर उद्यत हैं और इसमें जमींदारों के सुखदेव चौबे जैसे गुर्गे सहायक होते हैं। बाबा रामनाथ जैसे तपस्वी यदि गाँवों में बुराइयों को दूर कराने जायँ तो उनका जीवन भी संकट में पड़ जाता है। शैला से मधुवन कहता है—"मेम साहब! गरीब की कोई सुनता है? आप ही कहिये न। किसी व्याह में रमुआ ने दस रुपये लिये। वह चलाता मर गया। जिसका व्याह हुआ उस दस रुपये से, वह भी उन्हीं रुपयों से हल चलाने लगा। उसके भी लड़के यदि हल चलाने के डर से घबरा कर कलकत्ते भाग जायँ तो इसमें बाबा जी का क्या दोष है?" ('तितली' पृष्ठ ९६) प्रसाद ने गाँव छोड़ कर शहर भागने वालों के जीवन की करुण दशा की ओर भी यहाँ संकेत किया है। प्रेमचन्द के 'गोदान' में उसके नायक होरी का लड़का 'गोबर' भी गाँव की इसी विषम परिस्थिति से परेशान हो कर शहरी जीवन को अच्छा बताने लगता है। वस्तुतः *स्थिति ही ऐसी है। लेकिन इस कठिनाई में भी खलिहानों में रसीले गीत* गूँजते हैं और अलाव पर चलते हुए चिलम के दौरों के साथ ढोल-मजीरा का सम्मिलित स्वर गूँजता है—'निर्धन किसानों में किसी ने अपनी पुरानी चादर को पीले रंग में रँग लिया तो किसी की पगड़ी ही बचे हुए फीके रंग में रँगी है। आज वसन्त पंचमी है न! सबके पास कोई न कोई पीला कपड़ा है।

दरिद्रता में भी पर्व और उत्सव तो मनाये ही जायँगे। महँगू महतो के अलाव के पास भी ग्रामीणों का एक ऐसा ही झुण्ड बैठा है। जौ की कच्ची बालों को भून कर गुड़ मिला कर लोग 'नवान' कर रहे हैं, चिलम ठण्डी नहीं होने पाती। एक लड़का जिसका कण्ठ सुरीला था, वसन्त गा रहा था—'गाती कोयलिया डार-डार'।" ('तितली' पृष्ठ १३३)। यह विनोद भी, वे स्वतन्त्रता से नहीं कर पाते। 'तितली' में भी जब किसान यह आनन्द मना रहे हैं तब तहसीलदार आ कर कहता है—"महँगू!"

और सभा विशृङ्खल हो जाती है। प्रसाद का ग्राम्य-जीवन का चित्र गहरे रंग का तो नहीं है, जितना प्रेमचन्द का होता है पर फिर भी उन्हें सफलता अवश्य मिली है। उनके चित्रों के हलके होने का एक कारण यह भी है प्रसाद ने ग्रामों को नागरिक की दृष्टि से देखा था। जब कि प्रेमचन्द ने उन्हें एक ग्रामीण की दृष्टि से देखा था। इसलिए उनका कहना था कि गाँवो के सुधार के लिए "कुछ पढे लिखे लोगो को नागरिकता के प्रलोभनों को छोड़ कर देश के गाँवो मे बिखर जाना चाहिए।" ('तितली'; पृष्ठ २०६)। लेकिन सब जानते हैं कि यह बीमारी का स्थायी इलाज नहीं है। इस प्रकार के प्रयत्नो द्वारा जिस आदर्श ग्राम का चित्र प्रसाद ने दिया है ('तितली" पृष्ठ २६५) वह बिना अर्थ व्यवस्था बदले सम्भव नहीं। हाँ, उसकी कल्पना के लिए यह एक अच्छा चित्र है। इस पर गांधी विचारधारा का प्रभाव तो स्पष्ट है ही।

'तितली' यद्यपि ग्राम्य-चित्र है तथापि उसमें प्रसाद ने अपनी प्रकृति के अनुकूल भारतीय संस्कृति की महत्ता और सामाजिक तथा पारिवारिक विषमता का भी दिग्दर्शन कराया है। भारतीय संस्कृति की उच्चता शैला और इन्द्रदेव के मिलन और बाबा रामनाथ तथा शैला के वार्तालाप में दिखाई देती है। शैला का संस्कृत की ओर झुकना और हिन्दू धर्म मे दीक्षा लेना इसका प्रमाण है। एक बार जब इन्द्रदेव शैला के संस्कृत पढ़ने को स्वाँग कहते हैं तो शैला कहती है—"यह स्वाँग नहीं है, मैं तुम्हारे समीप आने का प्रयत्न कर रही हूँ—तुम्हारी संस्कृति का अध्ययन कर के।" बाबा रामनाथ के रूप में तो स्वयं प्रसाद ही बोल रहे हैं। बाबा रामनाथ और शैला का भारतीय तथा यूरोपीय संस्कृति पर पूरा वार्तालाप (पृष्ठ ६४ से ६६ तक) आर्य संस्कृति की महत्ता का शंखनाद है। वहाँ प्रसाद ने बाबा रामनाथ के मुँह से कहलाया है—"आज सब लोग कहते हैं कि ईसाई धर्म सेमेटिक है किन्तु तुम जानती हो यह सेमेटिक धर्म क्यों सेमेटिक जाति के द्वारा अस्वीकृत हुआ? नहीं, वास्तव में वह विदेशी था। उनके लिए, वह

आर्य सन्देश था। और कभी इस पर भी विचार किया है तुमने कि वह क्यों आर्य जाति की शाखा में फला-फूला? वह उसी जाति के आर्य संस्कारों के साथ विकसित हुआ, क्योंकि तुम लोगों के जीवन में ग्रीस और रोम का आर्य संस्कृति का प्रभाव सोलह आने था। हाँ, उसी का यह परिवर्तित रूप संसार की आँखों में चकाचौंध उत्पन्न कर रहा है। किन्तु व्यक्तिगत पवित्रता को अधिक महत्त्व देने वाला वेदान्त आत्मशुद्धि का प्रचारक है, इसीलिए इसने संघबद्ध प्रार्थनाओं की प्रधानता नहीं। ('तितली'; पृष्ठ ६५)

सामाजिक विषमता की ओर प्रसाद ने 'तितली' के विलासी और कामुक पात्रों के चित्रों से संकेत किया है। समाज का यह यथार्थ चित्र है जो 'कंकाल' के चित्र जैसा ही है। श्यामलाल बाबू, महन्त, सुखदेव चौबे, अनवरी, मैना, राजकुमारी सब वासना के कारण मतवाले हैं। मैना तो वेश्या ही है, अनवरी भी किसी वेश्या से कम नहीं है। लेडी डाक्टरों और नर्सों में अधिकांश की यही अवस्था है। राजकुमारी जैसी बाल-विधवायें प्रयत्न करने पर भी अवसर आने पर अपनी वासना के वेग को दबा सकने में असमर्थ रहती हैं। प्रसाद ने इनमें से किसी पात्र के चरित्र में हृदय-परिवर्तन के सिद्धान्त को नहीं अपनाया। केवल राजकुमारी ही तितली के कारण संयमित मिलती है, अन्यथा शेष सभी पात्र अपने वास्तविक रूप में बने रहते हैं।

पारिवारिक कलह के कारण सम्मिलित कुटुम्ब प्रथा जर्जर हो रही है, इस पर प्रसाद ने बहुत जोर दिया है। ऐसा लगता है कि स्वयं ये इसका अनुभव कर चुके थे। माधुरी के पति के विलास ने उसे असहाय बना दिया था। जिसके कारण वह अपने और अपने पुत्र के भविष्य के विषय में चिन्तित थी। इसी के परिणामस्वरूप उसने अपने भाई की सम्पत्ति पर अधिकार करने का विचार किया था। उसकी आर्थिक पराधीनता ने उसे पारिवारिक कलह और षड्यन्त्र के लिए उकसाया। अनवरी ने इसका लाभ उठा कर उसे और पथभ्रष्ट किया। पारिवारिक

कलह के कारणों पर प्रकाश डालते हुए वे एक स्थान पर कहते हैं— "प्रत्येक प्राणी अपनी व्यक्तिगत चेतना के उदय होने पर, एक कुटुम्ब में रहने के कारण अपने को प्रतिकूल परिस्थिति में देखता है इसलिए सम्मिलित कुटुम्ब का जीवन दुःखदायी हो रहा है।" ('तितली'; पृष्ठ १०६)। इस प्रसंग में माधुरी और श्यामदुलारी दोनो की मनोवृत्तियों का बड़ा सुन्दर चित्रण हुआ है।

एक बात प्रसाद ने और की है और वह यह कि तितली की पृष्ठभूमि ग्राम की होते हुए भी नगर के लोगों की मनोवृत्ति पर भी उन्होंने पर्याप्त प्रकाश डाला है। मुकुन्दलाल और नन्दरानी जहाँ उच्च वर्ग के नागरिकों के प्रतिनिधि है, वहाँ रामाधार पाण्डेय और वीरू बाबू निम्न वर्ग के। लन्दन में भी वे दरिद्रों की ओर दृष्टिपात करने में पीछे नहीं रहे हैं और कलकत्ते में भी बीरू बाबू के घर में निर्धनता का नंगा नाच दिखाने में नहीं चूके। लेकिन जैसे गाँव में मधुबन परिश्रम में विश्वास रखता है वैसे ही बीरू बाबू के दल का ननी गोपाल धोखेधड़ी को छोड़ कर ईमानदारी की कमाई मे विश्वास रखता है।

कला की दृष्टि से देखें तो 'तितली' बड़ा सुन्दर उपन्यास है। पूरे उपन्यास को चार खण्डों में बाँटा गया है। प्रथम खण्ड में उपन्यास के सभी प्रमुख पात्रो का परिचय है। रामनाथ, तितली (बंजो), इन्द्रदेव, शैला, श्यामदुलारी, माधुरी, श्यामलाल बाबू, मधुवन (मधुआ), राजकुमारी, मलिया, रामदीन, शैला के माता-पिता और नील कोठी आदि कोई ऐसी चीज नहीं जिसका परिचय नही। दूसरे खण्ड में कथा का विकास होता है। शैला का हिन्दू धर्म में दीक्षित होना, मधुवन और तितली का विवाह, राजकुमारी और चौबे का सम्बन्ध, सुखदेव चौबे और तहसीलदार की बदमाशियाँ, श्यामलाल की विलासिता, अनवरी की कूटनीतिज्ञता सब अपना-अपना रंग लाती हैं। संघर्ष बढ़ता है। तीसरे खंड में कथा के प्रमुख पात्रो की चारित्रिक विशेषताएँ और स्पष्ट होती हैं। इन्द्रदेव घर छोड़ कर बैरिस्टरी करने चले जाते हैं, शैला

का चित्रण तो अत्यन्त ही सुन्दर है। उससे उनके चरित्रो में विशेष आकर्षण आ गया है। कहीं-कहीं तो परिस्थिति से भयभीत मनुष्य का चित्र अद्वितीय बन पड़ा है। तितली के विवाह के समय, जब वह वेदी पर थी, अनवरी, सुखदेव और राजकुमारी वाट्सन से विवाह को रोकने के लिए कहते हैं तो तितली की दशा ठीक गाँव के समीप रेलवे लाइन के तार को पकड़े हुए उस बालक सी थी, जिसके सामने से डाकगाड़ी भक-भक करती हुई निकल जाती है—सैकड़ो सिर खिड़कियों से निकलते रहते हैं, पर पहचान में एक भी नहीं आता, न तो उनकी आकृति या वर्ण-रेखाओं का ही कुछ पता चलता है। वह अपनी सारी विडम्बना को हटा कर अपनी दृढ़ता में खड़ी रहने का प्रयत्न करने लगी ('तितली' पृष्ठ ११९)। जीवन के तथ्यों को प्रकट करने वाली सूक्तियों की भरमार से तो 'तितली' भरी पड़ी है। इन सूक्तियों से कथोपकथन तो शक्तिशाली बने हैं पात्रों के चरित्रो को भी विकसित होने में सहायता मिली है। 'मानव स्वभाव है; वह अपने सुख को विस्तृत करना चाहता है। और भी, केवल वह अपने सुख से ही सुखी नहीं होता, कभी-कभी दूसरो को दुःखी करके, अपमानित करके, अपने मान को, सुख को प्रतिष्ठित करता है' (पृष्ठ ४७)। 'अन्य लोगो के कलह से थोड़ी देर मनोविनोद कर लेने की मात्रा मनुष्य की साधारण मनोवृत्तियो में प्रायः मिलती है' (पृष्ठ ५४)। 'दूसरो से वही बात सुनने पर जिसे कि अपनो से सुनने की आशा रहती है—मनुष्य के मन में एक ठेस लगती है' (पृष्ठ ७९)। 'प्रेम चतुर मनुष्य के लिए नहीं वह तो शिशु से सरल हृदयों की वस्तु है' (पृष्ठ ११३)। 'अपनी किसी भी वस्तु की प्रशंसा कराने की साध बड़ी मीठी होती है, चाहे उसका मूल कुछ भी न हो' (पृष्ठ १५५)। 'दूसरो की दया सब लोग खोजते हैं और स्वयं करनी पड़े तो कान पर हाथ रख लेते हैं' (पृष्ठ १८२)। 'मनुष्य अपने त्याग से जब प्रेम को आभारी बनाता है तब उसका रिक्त कोष बरसे हुए बादलों पर पश्चिम के सूर्य के रत्नलोक के समान चमक

इरावती

(प्राणमोहन सिंह)

जीवन जगत का मौलिक संघर्ष चिरन्तन है। बाह्य रूप समय की प्रतिच्छाया से परिवर्तित होता रहता है। युग प्रवर्तक वर्तमान संघर्षों के मौलिक उद्गमों का अन्वेषण युग के पीछे भौतिक आवरणों से निकल कर करता है। स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद ऐसे ही एक महान अन्वेषक थे। जीवन, कला और दर्शन का साक्षात्कार इन्होने इतिहास के रहस्यमय पृष्ठो पर किया है। इन अन्वेषणों में इन्होंने जो कुछ पाया उसकी अभिव्यक्ति हिन्दी-साहित्य के विभिन्न अंगों को प्राप्त है।

अभिव्यक्ति की पावन लहरें समष्टि-सागर से व्यष्टि तट की ओर आतीं, और तट की छाप लेकर पुनः जगत सागर की ओर लौट जाती हैं। यद्यपि तट की ओर जाने वाली व्यग्र लहरें बड़ी सतर्कता से तट की ओर जाती हैं, पर भौतिक साधनो की निस्सार्थकता के कारण कुछ अधूरी ही रह जाती हैं। इन अपूर्ण कल्पना-लहरों के प्रति हमारी करुणा और सहानुभूति सहज और स्वाभाविक हो जाती है। प्रसाद की 'इरावती' ऐसी ही एक अपूर्ण अभिव्यक्ति की लहर है, जो तट छूते-छूते नियति के कठोर शासन में विशृंखल होकर विलीन हो जाती है। 'चित्र बनते-बनते बिगड़ जाता है।' लेखक का यह वाक्य कितना व्यापक अर्थ रखता है। इन्हें क्या पता था कि जिन बनते-बिगड़ते चित्रों के लिए इन्होंने कूची उठाई थी, वह चित्र भी बनते-बनते बिगड़ जायगा या अपूर्ण ही रह जायगा।

कलाकार अपनी अमूर्त्त कल्पना को कला के अनन्त पट पर चित्रित करते-करते परिश्रान्त हो जाता है, फिर भी वह अपने हृदय के सारे रंग उस पर नहीं चढ़ा सकता है। इसलिए कलाकार का जीवन सदा अतृप्त

ा है; लेकिन सच कहा जाय तो यही अतृप्ति कलाकार का जीवन है। एक चित्र का निर्माण हो जाने के बाद ही कलाकार के उर्वर मस्तिष्क में दूसरे की कल्पना आ जाती है। यह कोई निश्चित नहीं कि दूसरी कल्पना सर्वथा मौलिक ही हो। उसमें प्रथम की कुछ अमूर्त समस्याएँ भी रह जाती हैं। और सच तो यह है कि कलाकार को निर्मित चित्र की अपेक्षा कल्पित अधिक भाता है।

प्रसाद की 'इरावती' इनकी पूर्व रचना 'कामायनी' की उठी समस्या का निदान है। 'कामायनी' का मनु विनष्ट सृष्टि में मानव का बीजारोपण करता है और नारी श्रद्धा अपने अमूल्य त्याग और ममता से उसका लालन-पालन करती है। विनाश के अवशिष्ट कण द्वारा सृष्टि का निर्माण होता है, पर 'इरावती' मे मानवता—जो मानव की सर्वश्रेष्ठ वस्तु है विवेक की अतिवादिता से मानवता को विनष्ट करती है, तथा उसी विनाश से पुनः चिरन्तन सत्य को ले कर मानवता का निर्माण करती है। जैसा उनके संकेत पत्र से विदित होता है। "मानवता ने अपने युगों के जीवन मे सृष्टि का विनाश और विनाश से सृष्टि की है। चित्र बनता-बनता बिगड़ जाता है। जैसे प्रत्येक रेखाएँ नपी-तुली होने पर भी कृत्रिमता से असङ्गत हो जाती हैं। फिर से चित्र बनाने के लिए चित्रकार कूचियों को दूसरे पट पर पोंछने लगता है और तब! हाँ सचमुच वह फूल-सा बन जाता है। अति सुन्दर बनाने के लोभ में प्रायः वस्तु को वीभत्स बना दिया जाता है। फिर तो उससे नाता तोड़ लेना आवश्यक हो जाता है।"

मानवता के विनाश का यही मूल कारण है। युग मानवता (सत्य) के रूप को और अधिक निखारने के लिए उसपर अपनी अनुभूतियों का रंग चढ़ाने लगता है। युग संघर्षों मे मानवता दब जाती है और उसपर व्यक्तिगत विवेक का ढोंग अपना आधिपत्य जमा लेता है। जीवन देवता की निष्कलक प्रतिमा कृत्रिम आवरणों से इतनी धूमिल हो जाती है कि उससे सम्बन्ध स्थापित रखना असम्भव ही नहीं असह्य

हो उठता है। पर चिरन्तन रहस्य निर्मूल नहीं होता। उसकी जीर्ण भित्ति पर पुनः मानवता नये चित्रकार की पोंछी हुई कूची से फूल-सी खिल उठती है।

प्रसाद जी की यह भाव-पीठिका इतिहास के ऐसे ही संगम पर अवस्थित भी है जहाँ एक उन्नत मानवता (बौद्ध धर्म) का विध्वंसात्मक रूप दिखाई पड रहा है और क्रमशः वह पतन की ही ओर जा रही है। भगवान तथागत का वह पथ जो एक दिन सम्पूर्ण मानव का गन्तव्य और प्रशस्त पथ था, जिसपर संसार चलने में अपने को सौभाग्यशाली समझता था, वही पथ सम्राट् अशोक की मृत्यु के बाद कण्टकपूर्ण तथा पतन की ओर ले जाने वाला बन जाता है। जहाँ अहिंसा मानवता की सहचरी बन कर स्वच्छन्द विहार करती थी वही अब हिंसा अहिंसा का गला घोट रही है। अमात्य कुमार बृहस्पतिमित्र अहिंसा की गद्दी पर हिंसात्मक प्रवृत्ति ले कर बैठता है। भोग और विलास की एकत्र वस्तु ही विनाश की चिनगारी बनती है। वृद्ध महाराज शान्तनु की काम-तृप्ति के लिए लाई गई युवती कालिन्दी बल और पौरुष का विनाश करती है। महाविहार और उसकी भिक्षुणी भी साम्राज्य का वैभव समझी जाती है।

सम्पूर्ण आर्यावर्त्त स्थान वीर-विहीन दिखाई पडता है। जैसा महाकाल के पुजारी ब्रह्मचारी के शब्दों से जान पड़ता है। वे अग्निमित्र से कहते हैं—"मुझे अपनी आँखों से देखना होगा कि आर्यावर्त्त मे कहीं पौरुष बच गया है! कहीं तेज किसी राख में छिपा तो नहीं है। मैने इन कई महीनों में शास्त्रों का अध्ययन करके जो रहस्य समझ पाया है उसका प्रचार करने के लिए कहीं क्षेत्र है कि नहीं।"

यहीं मानवता के विनाश और सृजन का संगम है जहाँ एक ओर आर्यों में अहिंसा, अनात्म और अनित्यता के नाम पर कायरता, अविश्वास और निराशा फैली हुई है, वहीं दूसरी ओर आत्मज्ञान की आशा; जीर्ण और शिथिल चिरन्तन रहस्य पर नवीन आवरण चढ़ाने

का उपक्रम कर रही है। परन्तु पुरातन की पूर्ण उपेक्षा भी नहीं है क्योंकि उसने मानवता को नये विचारों और नयी योजना का दान दिया है।

इन्हीं उत्थान और पतन के बीच मानवता पलती है। वर्तमान युग का गाँधीवाद उसी रहस्य का एक नया रूप है जिसमें वाणी को शुद्ध, आत्मा को निर्मल और जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने की क्षमता है।

कला-सौन्दर्य और नारी का अपमान ही मानवता को विनाश की ओर ले जाता है। महाकाल-विग्रह के समक्ष उन्मुक्त नृत्य करने वाली इरावती मदान्ध बृहस्पतिमित्र की आँखों में गड़ कर भिक्षुणी विहार में आडम्बरपूर्ण संयम और शून्य की उपासना के लिए प्रेरित की जाती है। कला, सौंदर्य और अभिव्यक्ति की परतन्त्रता से आनन्द की निष्पत्ति में बाधा उत्पन्न होती है। यही बाधा मानव की प्रगति को रोक कर नीचे की ओर जाने की प्रेरणा देती है। कर्त्तव्यनिष्ट एवं मानवता का पुजारी अग्नि-मित्र मायावी मोह-ममता में पड़ कर कर्त्तव्य-च्युत हो जाता है। मोह, ममता और वासना में पड़ कर भी मानव की सृष्टि मनु जैसा कर सकता है परन्तु मानवता की सृष्टि मानव, काम और तृष्णा में पड़ कर नहीं कर सकता है, और ऐसे समय में जब अहिंसा हमारी हिंसा करने लगती है, प्रेम हमीं से द्वेष करने लगता है और धर्म पाप बन जाता है।

सच कहा जाय तो प्रसाद की वह महान कल्पना अभी तक केवल भूमिका मात्र ही तैयार कर सकी थी। मानवता का वह मन-भवन जिसमें वर्तमान युग की विकल मानवता कुछ क्षण विश्राम पा सकती आज अपूर्ण पड़ा है। प्रसाद का औपन्यासिक क्षेत्र में ऐतिहासिक मार्ग द्वारा प्रथम प्रवेश भी कम महत्त्व नहीं रखता। 'कंकाल' और 'तितली' की अपूर्ण आकांक्षा ही 'इरावती' का ऐतिहासिक प्रणय है। वर्तमान और भविष्य की रूपरेखा, अतीत के टूटे-फूटे खण्डहरों में अपनी अनुभूतियों की ज्योति जला कर प्रकाश करना, प्रसाद की

प्रवृत्ति रही है। इसलिए इतिहास में वे जितने पीछे जा सके उतनी ही अधिक सफलता उन्हें मिली। यहाँ तक कि वे सृष्टि के आदि युग की ओर जाते हैं, जहाँ उन्हें मनु और श्रद्धा मिलते हैं, जिससे वे अपने जीवन की उत्कृष्ट कल्पना को कामायनी का रूप दे सके। इरावती को ले कर भी प्रसाद जी बड़ी सफलता के साथ मानवता के विनाश और सृष्टि के सगम की ओर जा रहे थे, परन्तु नियति के कठोर नियमों के चलने में वे आगे नहीं बढ़ सके और जीवन की संचित अनुभूतियो का अन्तिम चित्र भी अपूर्ण ही रह गया। चित्र बनते-बनते बिगड़ गया।

साहित्यिक दृष्टिकोण

(डा० रामरतन भटनागर)

साहित्य और कला के संबंध में प्रसाद की मान्यताएँ उनकी रचनाओं में यहाँ वहाँ बिखरी पड़ी हैं, परन्तु 'काव्य और कला' शीर्षक संग्रह के निबंधों में वह एक स्थान पर भी मिल जाती हैं। इन मान्यताओं के आधार पर हम उनके साहित्यिक दृष्टिकोण की एक सम्पूर्ण रूपरेखा बना सकते हैं।

प्रसाद साहित्य को मनोरंजन या व्यसन नहीं समझते थे। साहित्य जन-हित का सब से प्रभावशाली यंत्र है। परन्तु जनहित से प्रसाद का अर्थ अत्यंत व्यापक है। उसमें केवल आर्थिक हित की बात सन्निहित नहीं है। वह मानव के सर्वांगीण विकास का द्योतक है। साहित्यकार भी राजनैतिक नेता की तरह जनता का हित सम्पन्न करता है, परन्तु वह हित-साधन उतना मुखर नहीं होता। वह रुपये—आने—पाई में नहीं आँका जा सकता। प्रसाद का अधिकांश साहित्य अतीत से सम्बन्धित है। उन्होंने अपने कथासूत्र इतिहास और पुराण से लिए हैं। सामयिक जीवन को भी उन्होंने देखा है, परन्तु अधिक नहीं। उनके साहित्य के संबंध में यह भ्रम हो सकता है कि वह सामयिक जीवन और जन-हित से सम्बन्धित नहीं है। इस प्रकार का साहित्य एक व्यसन मात्र भी हो सकता है। साहित्यकार अपने जीवन से, अपने समय से असंतुष्ट हो कर ही आगे-पीछे की ओर भागता है। 'प्रतिछवि' शीर्षक की अपनी एक कहानी में प्रसाद साहित्य में अतीत और करुणा की छाया देखना चाहते हैं। उनके साहित्य के यही दो व्यापक आधार हैं। 'स्तुत्य अतीत की घोषणा' ही उनके ऐतिहासिक नाटकों का विषय है और उनके कथा-साहित्य में 'वर्तमान की करुणा' भी अंकित हुई है; परन्तु उनके साहित्य के

अध्ययन से यह स्पष्ट है कि उनके अतीत के चित्र वर्तमान समस्याओं के आधार पर ही खड़े हैं और उन्होंने भारत के प्राचीन गौरव को वर्तमान पतन की पृष्ठभूमि में ही देखा है। वर्तमान नारी-जीवन की जिस विडम्बना का चित्र हमें 'कंकाल' में मिलता है उसके ठीक विपरीत नारी के महामहिम चरित्र और गौरव का चित्रांकन प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों का विषय है। राष्ट्रीयकरण, सामाजिक संतुलन और चरित्र-निष्ठा जैसे सार्वभौमिक तत्वों पर ही उनके यह नाटक खड़े हैं। आज के युग की भी यही समस्याएँ हैं, अतः प्रसाद के नाटक और उपन्यास परस्पर पूरक हैं। उनके सभी सूत्र व्याप्त हैं। उन्हें केवल पलायनवादी उच्छ्वास मान कर भुलाया नहीं जा सकता। उनमें गंभीर सामाजिक ध्येय सन्निहित हैं।

अपने वक्तव्यों में प्रसाद ने काव्य और नाटक के संबंध में ही अधिक लिखा है। उपन्यास के क्षेत्र मे वह बाद में आये और उनकी रचनाओं से ही उसके संबंध में उनके दृष्टिकोण से परिचित होना संभव है।

काव्य

प्रसाद काव्य को कला के अंतर्गत नहीं मानते। वह प्राचीन वर्गीकरण के पोषक हैं जो काव्य और कला को दो भिन्न-भिन्न वर्गों में रखता है। प्राचीनों के लिए काव्य विद्या थी और कला उपविद्या। विशुद्ध काव्य कला से भिन्न है। कला के अन्तर्गत जो काव्य आता है वह समस्यापूर्ति आदि है और उसमें कौतुक और चमत्कार की प्रधानता है। छंदशास्त्र को भी वह उपविद्या की निम्न श्रेणी में रखते हैं। इस प्रकार शुद्ध काव्य समस्यापूर्ति से भिन्न है और उसमें छंदशास्त्र को आधारबिंदु मान कर नहीं चला गया है। छन्दशास्त्र को वह काव्योपयोगी कला का शास्त्र कहते हैं जो विज्ञान अथवा शास्त्रीय अध्ययन के अंतर्गत आता है। वह अलंकार, वक्रोक्ति, रीति अथवा कथानक इत्यादि में कला की सत्ता नहीं मानते। इन सबका सदेश काव्य की अंतरात्मा से है ही नहीं। यह कवि की आत्माभिव्यक्ति के बाह्यरूप हैं। उनके अनुसार

व्यंजना काव्यानुभूति का परिणाम मात्र है। अतः वह कवि के अंतरंग का विषय है।

'स्कन्दगुप्त' में प्रसाद कवि मातृगुप्त से कहलाते हैं—'कवित्व वर्णमय चित्र है, जो स्वर्गीय भावपूर्ण संगीत गाया करता है। अंधकार का आलोक से, असत् का सत् से, जड़ का चेतन से और बाह्य जगत् का अन्तर्जगत् से संबंध कौन कराती है? कविता ही न?' इस प्रकार कविता में संगीत और चित्रकला की सीमाएँ मिल जाती हैं परन्तु यह उसका बाह्यांग है। उसका अंतरंग इससे महत्त्वपूर्ण है। कविता बाह्य जगत् का अंतर्जगत् से सम्बन्ध कराती है। उसी के द्वारा प्राकृतिक सौन्दर्य आत्मनिष्ठ हो कर पूर्णता को प्राप्त होता है। परन्तु इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि कवित्व की भूमि मुख्यतः आध्यात्मिक है। वह आत्मा की दीप्ति है उसमें श्रेय और प्रेय दोनों का सामंजस्य होता है। एक स्थान पर उन्होंने कवित्व को 'आत्मा की अनुभूति' कहा है। उनका कहना है कि 'काव्य या साहित्य आत्मा की अनुभूतियों का नित्य नया नया रहस्य खोलने में प्रयत्नशील है; क्योंकि आत्मा को मनोमय, वाङ्मय और प्राणमय माना गया है।" मन का विकल्प अर्थात् तर्क-वितर्क प्रधान रूप सिद्धांतवाद और शास्त्रीय परिज्ञान को जन्म देता है। काव्य उसके संकल्प-रूप की अभिव्यक्ति है। कवि का जानना प्रत्यक्ष जानना है। इसी से उसे द्रष्टा अथवा ऋषि कहा गया है। यही देखना या दर्शन कवित्व का प्राण है। इस प्रकार काव्य प्रत्यक्ष दर्शन है। उसका आधार है मन की संकल्पात्मक प्रेरणा अथवा संकल्पात्मक अनुभूति। जिस कवि में यह संकल्पात्मक अनुभूति जितनी अधिक होगी उतना ही बड़ा कवि वह होगा। फिर यह आवश्यक नहीं कि सभी विषयों के संबंध में कवि की संकल्पात्मक अनुभूति एक ही प्रकार जागरूक अथवा तीव्र हो। जिस विषय में यह तीव्रता अधिक होगी, वही विषय कवि को अधिक प्रिय होगा और उसी की अभिव्यंजना में वह अधिक सफल भी होगा।

प्रसाद काव्य के दो पक्ष करते हैं, अभिव्यक्ति और अनुभूति; परंतु अभिव्यक्ति अनुभूति से एकदम अलग नहीं है। दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। 'व्यंजना वस्तुतः अनुभूतिमयी प्रतिभा का परिणाम है, क्योंकि स्वयं सुन्दर अनुभूति का विकास सौन्दर्यपूर्ण होता है।' जहाँ आत्मानुभूति की प्रधानता है वहीं अभिव्यक्ति अपने पूर्णरूप में सफल हो सकी है। इस प्रकार प्रसाद काव्य में शुद्ध आत्मानुभूति की प्रधानता मानते हैं। उनका कहना है कि जहाँ आत्मानुभूति की प्रधानता है वहाँ अभिव्यक्ति अपने क्षेत्र में पूर्ण कुशल, विशिष्ट और सुन्दर बन सकी है। इस प्रकार छंद, भाषा, शैली और अलंकार काव्य के शरीर बन जाते हैं और कवि की आत्मानुभूति उसकी आत्मा। काव्य का एक तीसरा पक्ष भी है—श्रोता, पाठक या दर्शक। प्रसाद का कहना है कि श्रोता पाठक या दर्शक के हृदय में कविकृत मानसी प्रतिमा की अनुभूति होती है। परन्तु कवि की अनुभूति मौलिक होती है और वह भावसाम्य के कारण कवि की अनुभूति मौलिक-वस्तु की सहानुभूति-मात्र है। कवि की मौलिक अनुभूति को प्रसाद ने संकल्पात्मक मूल अनुभूति कहा है। उनके अनुसार श्रोता, पाठक या दर्शक की अनुभूति का तत्त्व भी संकल्पात्मक ही है, परन्तु उसमें उस कोटि की तन्मयता नहीं जो कवि में पाई जाती है। संक्षेप में प्रसाद के मत से काव्य तर्क-वितर्क से परे विशुद्ध आत्मदर्शन है और उसकी स्थिति मूलतः आध्यात्मिक है एव 'सहज सेध पर अंकित है।' कवि ऋषि है, और ऋषि का अर्थ होता है द्रष्टा। इस प्रकार काव्यानंद ब्रह्मानंद-सहोदर कहा जाता है। वह किसी भी प्रकार अध्यात्म से नीचे की वस्तु नहीं रहता।

'काव्य और कला' के निबंधों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रसाद काव्य का अत्यन्त व्यापक अर्थ लेते हैं और उसे अभिनयात्मक (नाटक) और वर्णनात्मक (काव्य अथवा पाठ्य-काव्य) की दो बड़ी श्रेणियों में विभक्त करते हैं। गीत-काव्य को उन्होंने दूसरे भेद के अन्तर्गत ही रख दिया है। पाठ्य-काव्य के दो भेद हैं, एक काल्पनिक अथवा

आदर्शवादी और दूसरा वस्तुस्थिति-निर्देशक अथवा यथार्थवादी। इस दृष्टि से प्रसाद ने काव्य के तीन अन्य भेद भी माने हैं—आनन्दवादी, बुद्धिवादी और रहस्यवादी।' इस वर्गीकरण में आधुनिक सारे काव्य का समावेश हो जाता है।

प्रसाद की व्याख्याओं से यह स्पष्ट है कि वह काव्यानुभूति को रसात्मक मानते हैं। उनके मत में रस ही काव्य की आत्मा है; परन्तु अलंकार को काव्य का शरीर मानते हुए भी वह उसे काव्य-विषय से संभवतः विभिन्न एवं असबंधित नहीं समझते। उन्होंने अनुभूति और अभिव्यञ्जना-शैली (रीति, अलकार, वक्रोक्ति) को एक सूत्र में जोड़ना चाहा है। हमारी अपनी काव्य शास्त्र-परम्परा में रस और अलंकार में समझौता कराने का प्रयत्न किया गया है। इसके प्रवर्तक ध्वनिवादी आनन्दवर्द्धन हैं जिन्होंने काव्य को आत्मा की ध्वनि माना है और रस, अलकार और वस्तु इन तीनों को ध्वनि का ही भेद बताया है। परन्तु कदाचित् परम्परागत रस के महत्त्व की वह भी उपेक्षा नहीं कर सके हैं। उन्होंने रस ध्वनि को ही प्रधान माना है। प्रसाद का प्रयत्न भी कुछ नए ढंग से इसी कोटि का प्रयत्न है। अनुभूतिपक्ष को अभिव्यञ्जनापक्ष से संबंधित कर के उन्होंने अलकारवाद को रसवाद के भीतर समेट लिया है। उनके लिए अलकार केवल वाग्वैचित्र्य नहीं है। वह आभ्यन्तरिक सूक्ष्म भावों का बाह्य स्थूल आकार-मात्र है। प्रचलित पद-योजना से भिन्न नवीन भगिमाएँ कवि के अंतर्जगत् के किसी नए सत्य का ही उद्घाटन करती हैं, अतः वे स्पृहणीय ही हैं। इससे काव्य के अंतर्हेतु और वाह्य-उपाधि में अखंडित सबंध योजित हो जाता है।

छायावाद

जिस काव्यधारा का प्रवर्तन प्रसाद के प्रारम्भिक काव्य 'कानन-कुसुम' और 'झरना' की रचनाओं से हुआ और जिसका पहला अप्रतिम आलोक 'आंसू' में फूट पड़ा, उसे जनता ने 'छायावाद' का विचित्र नाम दिया। १६१५–२६ के बाद यह शब्द व्यापक रूप से सपूर्ण नवीन

काव्य के लिए प्रयुक्त होने लगा और स्वयं कवियों और आलोचकों ने उसकी कई प्रकार से व्याख्या उपस्थित की। निराला, पंत, प्रसाद, महादेवी, शांतिप्रिय द्विवेदी, नंददुलारे वाजपेयी, रामचन्द्र शुक्ल और कुछ अन्य प्रसिद्ध साहित्यकारों और समीक्षकों की इस प्रकार की व्याख्याएँ आज हमारे सामने हैं। प्रसाद के छायावाद संबंधी विचारों के साथ इन मान्यताओं को भी सामने रखना होगा। तभी हम उनकी सीमाएँ समझ सकेंगे।

प्रसाद छायावाद को अभिव्यक्ति का एक निराला ढंग मात्र मानते हैं। उनका कहना है कि आधुनिक कवि को जब उपाधि से हट कर अंतर्हेतु की ओर प्रेरित होना पड़ा तो उसने अभिव्यक्ति के एक नये ढंग का आविष्कार किया। इस नये प्रकार की अभिव्यक्ति के लिए जिन शब्दों की योजना हुई, हिंदी में वे पहले से कम समझे जाते थे। एक प्रकार के नवीन प्रतीकात्मक ध्वनिकाव्य की सृष्टि हो रही थी। प्राचीनों ने इसे ही लावण्य, छाया, विच्छित्ति, विदग्ध-मैत्री आदि कहा है। परन्तु प्राचीनों का लक्ष्य जहाँ आंतर अर्थ-वैचित्र्य को प्रकट करना है, वहाँ आधुनिकों ने उपमाओं में आंतर स्वरूप खोजने की चेष्टा की है। वे बाह्य-सादृश्य से अधिक आंतर सादृश्य की योजना करना चाहते थे। अलंकार के भीतर आने पर ये प्रयोग उससे कुछ अधिक थे। प्रसाद के शब्दों में—'इन अभिव्यक्तियों में जो छाया की स्निग्धता और तरलता है वह विचित्र है।'

इस प्रकार प्रसाद का छायावाद मुख्यतः अभिव्यंजना की एक नई शैली बन जाता है। इस शैली में—

(१) ऐसे प्रयोगों का आग्रह रहता है जो बाह्य-सादृश्य की अपेक्षा आंतर-सादृश्य को अधिक स्पष्ट करें।

(२) उसमें सूक्ष्म आभ्यंतर भावों का प्रकाशन आवश्यक समझा जाता है।

(३) नवीन वाक्यविन्यास और शब्दों की नवीन भंगिमा की ओर कवि की दृष्टि रहती है।

(४) उसमें कवि की अनुभूति को तन्-तत् रूप देने की चेष्टा की जाती है।

(५) उसमें एक विशेष वक्रता को स्थान मिला है। वस्तुतः छायावाद से प्रसाद का तात्पर्य काव्य की ऐसी ध्वन्यात्मकता से है जो साधारणतः पकड़ में नहीं आती। उसे शब्दों में या परिभाषा मे बाँधा नहीं जा सकता। उसमें अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा ही प्रधान है। उसकी विशेषताएँ हैं ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय-प्रतीक विधान, उपचारवक्रता और स्वानुभूति की निवृत्ति। इस प्रकार आंतर-भाव स्पर्श से पुलकित नवीन शैली, नया वाक्यविन्यास और नई शब्द-योजना छायावाद का प्रमुख अंग बनी—आभ्यंतर सूक्ष्म भावों की प्रेरणा ने बाह्य उपादान भी बदल गये।

यह स्पष्ट है कि छायावाद से प्रचलित बोध की दृष्टि से यह व्याख्या संकुचित है। अन्य आलोचक छायावाद को एक संपूर्ण आधुनिक काव्य-दृष्टि मानते हैं या उसे रूढ़िवाद ठहराते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल उसे लाक्षणिक प्रयोगों तक ही सीमित मानते हैं, परन्तु डा० रामविलास और नन्ददुलारे वाजपेयी जैसे आलोचक उसे नवीन बँगला और अंग्रेजी काव्य से प्रभावित काव्यक्षेत्र मे नवीन संस्कृति का आयोजक समझते हैं। नवीन आलोचना में स्वच्छन्दतावादी काव्य के साम्यवादी रूप में ही छायावाद शब्द का प्रयोग हुआ है। वस्तुतः छायावाद नाम से अभिव्यंजित काव्यधारा के उस क्रमागत विरोध की सूचना देती है जो भारतेन्दु के भाव-प्रकाश काव्य और द्विवेदी-युग की संवेदना-मूलक काव्य-दृष्टि में प्रसाद को प्राप्त होता है। उसमे अनेक नये विद्रोह और प्रभाव अन्तर्भुक्त हैं।

रहस्यवाद

प्रसाद रहस्यवाद को 'आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा' कहते हैं और उसके ऐतिहासिक, धार्मिक और काव्यगत विकास के इतिहास से पूर्णतया परिचित जान पड़ते हैं। अपने निबन्धों

में उन्होंने इस विकास को विस्तारपूर्वक विश्लेषित किया है। उनका विचार है कि काव्य में जिस रहस्यवाद को आधार बना कर चलना होता है वह अद्वैत और आनन्द पर आधारित है। इसके कई रूप साहित्य में विकसित हुए हैं:—

(१) शैवों का अद्वैतवाद और उनका समरस सिद्धांत।

(२) उपनिषदों का ज्ञानमूलक अद्वैतवाद।

(३) वैष्णवों का माधुर्य और प्रेम पर आश्रित रहस्यवाद।

(४) अद्वैतमूलक भक्ति पर आश्रित रहस्यवाद।

(५) योगनिष्ठ रहस्यवाद।

(६) प्राकृतिक रहस्यवाद।

उन्होंने आधुनिक काव्य में रहस्यवाद की खोज की है और उसके चार पक्ष बतलाए हैं।

(क) अपरोक्ष अनुभूति (अद्वैतवाद या अद्वैत भावना)

(ख) समरसता (समरसवाद)

(ग) प्राकृतिक सौंदर्य के द्वारा अहम् का इदम् से सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न (प्राकृतिक रहस्यवाद)

(घ) विरह और मिलन की संकेतात्मक अभिव्यजना (शृंगारमूलक रहस्यवाद)

स्वयं प्रसाद के काव्य में रहस्यवाद के ये चारों पक्ष पूर्णतया विकसित हुए हैं। 'कामायनी' में इन सबका समुच्चय मिलेगा। अद्वैतवाद और समरसवाद एक ही मनःस्थिति के दो विभिन्न रूप हैं। अद्वैतवादी जहाँ अपरोक्ष के प्रति संवेदनाशील हो जाता है, वहाँ अपने ऐहिक जीवन में तटस्थता और समरसता का अनुभव करता है। इस अद्वैत-भावना का प्रकाशन शब्दों द्वारा नहीं हो सकता और उसे शृंगार रस के मिलन-वियोग के प्रतीकों के भीतर से प्रकाशित करने की एक परम्परा बराबर चलती रही है। रहस्यवाद का यह रूप हमें कबीर और सूफियों में पूर्णतया विकसित मिलता है। प्राकृतिक रहस्यवाद हिन्दी के लिए नई

चीज है और प्रसाद ने इसे इस देश की अद्वैताश्रित रहस्यवादी धारा से मिलाने का महत्त्वपूर्ण प्रयत्न किया है।

आनन्द और अद्वयता की भावना को प्रसाद रहस्यवाद के दो मूल तत्त्व मानते हैं। जहाँ रहस्यवादी काव्य विरहोन्मुख है, वहाँ भी यह दुःख और आनन्द की पृष्ठभूमि ले कर आता है। वैसे स्वयं काव्यानुभूति रहस्यात्मक तत्त्व है।

यथार्थवाद

आधुनिक काव्य और साहित्य—विशेषतया कथा-साहित्य की एक प्रमुख प्रवृत्ति यथार्थवाद है। प्रसाद ने इस प्रवृत्ति का भी विश्लेषण किया है और उसके ऐतिहासिक विकास की खोज की है। इस धारा की विशेषताएँ वह इस प्रकार उद्घाटित करते हैं:—

१. लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात।

२. दुःख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति।

३. व्यक्तिगत जीवन के दुःखों और अभावों का विस्तृत उल्लेख।

४. दैवी शक्ति से तथा महत्त्व से हटा कर अपनी क्षुद्रता तथा मानवता का विकास होना।

५. मनुष्य के वास्तविक जीवन का साधारण चित्रण। 'यथार्थवाद और आदर्शवाद' शीर्षक अपने एक महत्त्वपूर्ण निबंध में प्रसाद ने कहा है, 'व्यापक दुःख—संदलित मानवता को स्पर्श करने वाला साहित्य यथार्थवादी बन जाता है। इस यथार्थता में अभाव, पतन और वेदना के अंश प्रचुरता से होते हैं।' उन्होंने यथार्थ के मूल में वेदना के भाव का प्रतिष्ठापन किया है। यथार्थवादी साहित्यकार जीवन को उसी तरह चित्रित करना चाहता है जिस तरह वह उसे देख पाता है। जीवन में जो अनाचार और उत्पीड़न है, यथार्थवादी उसे आँख की ओट नहीं करना चाहता। वह उसे ऐसे शक्तिशाली ढंग से हमारे सामने उभार कर रख देता है कि हम मानव के दुःख से द्रवित हो जाते हैं और उसे दूर करने के लिए कटिबद्ध होते हैं। इस प्रकार हम यथार्थवाद को

विराट् मानवता और करुणा की भूमि पर प्रतिष्ठित कर देते हैं। परन्तु सभी प्रकार के यथार्थवादी साहित्य के सम्बन्ध में यही बात नहीं कही जा सकती। बहुत-सा यथार्थवादी साहित्य यथातथ्य चित्रण-मात्र है, या बुद्धिवादी है, या मनोविकास से ग्रस्त है। प्रकृतिवादी कलाकारों और अति यथार्थवादी लेखकों का साहित्य इसी प्रकार का साहित्य है। उसके पीछे मानव-जीवन की विराट् अनुभूति अथवा करुणा का बल नहीं है। प्रसाद इस प्रकार के साहित्य के समर्थक नहीं हैं। उन्होने एक स्थान पर कहा है कि यथार्थवाद क्षुद्रो का नही है अपितु महानों का भी है। पिछले प्रकार का यथार्थवादी साहित्य मूलतः बौद्धिक है और एक प्रकार से वह क्षुद्रो का साहित्य है। 'कंकाल' और 'तितली में स्वयं प्रसाद ने समाजबहिष्कृतों और उत्पीडितो को अपनी सारी अनुभूति दी है। इन उपन्यासो में हम उन्हे विक्टर ह्यूगो के निकट पाते हैं। ह्यूगो के उपन्यासो में दीन-हीन, पीडित और सब प्रकार से लांछित मानवता का जो सशक्त चित्रण उपस्थित है, वैसा चित्र प्रसाद अपने किसी उपन्यास में उपस्थित नहीं कर सके हैं; परन्तु 'कंकाल' और कितनी ही कहानियो में उनकी कला बार-बार ह्यूगो की कला को छूती जान पडती है। क्षुद्रो का यथार्थवाद हमारी नीच प्रवृत्तियो को उकसाता है और हमें पतन के गर्त की ओर ले जाता है, परन्तु ह्यूगो जैसे महानो का यथार्थवाद हमें मानवता के सुधार के लिए दृढ़संकल्प बनाता है और हमे प्रेम, सहानुभूति और करुणा द्वारा एक सूत्र मे बाँधता है। यथार्थवाद की ओर यह दृष्टि ही स्वस्थ दृष्टि है।

प्रसाद गद्य-साहित्य को ही यथार्थवाद का मुख्य माध्यम मानते हैं। स्वयं उनकी कितनी ही कहानियाँ और उनका प्रसिद्ध उपन्यास 'कंकाल' यथार्थवाद के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। परन्तु भाव-भूमि में वे आदर्शवाद और यथार्थवाद के समन्वय को ही सत्-साहित्य मानते हैं। वे कहते हैं— 'साहित्कार न तो इतिहासकर्ता है और न धर्मशास्त्र प्रणेता। इन दोनों के कर्तव्य स्वतन्त्र हैं। साहित्य इन दोनों की कमी को पूरा करने का

काम करता है। साहित्य समाज की वास्तविक स्थिति क्या है, इसको दिखाते हुए आदर्श का सामंजस्य स्थिर करता है। दुःख-दग्ध जगत और आनन्दपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है; इसलिए असत्य प्रघटित घटना पर कल्पना की वाणी महत्त्वपूर्ण स्थान देती है, जो निजी सौंदर्य के कारण सत्य पद पर प्रतिष्ठित होती है। इसमें विश्व-मंगल की भावना ओत-प्रोत रहती है। एक तरह से इस आदर्श में यथार्थवाद और आदर्शवाद का समन्वय स्वतः उपलब्ध हो जाता है क्योंकि प्रसाद उसी यथार्थवाद को उपादेय मानते हैं जो लोक-मंगल की भावना ले कर चले और जो वेदना और करुणा के व्यापक मानव-भाव से प्रभावित हो।

नाटक और रंगमंच

प्रसाद के नाटक भारतेन्दु की नाटक-परम्परा का विकास हैं और उनमे उन्होंने राय और शेक्सपियर से स्वतन्त्र एक नई नाटकीय कला का आभास दिया है। ये नाटक मूलतः ऐतिहासिक हैं और इन्हें हम आदर्शमूलक स्वच्छंदतावादी नाटकों की कोटि मे भी रख सकते हैं। प्रसाद नाटक में यथार्थवाद और इब्सनिज्म के विरोधी हैं। उनके अनुसार इब्सनिज्म का भूत केवल वास्तविकता का भ्रम दिखाता है, वह वास्तविकता को पकड़ नहीं पाता। फिर हमारे रंगमंच के विकास की एक स्वतन्त्र परम्परा रही है और उससे यह मेल नहीं खाता। पश्चिम के वाद-विशेष के अनुकरण से सत्साहित्य की सृष्टि नहीं हो सकती, यह वह मानते हैं। कुछ सैद्धांतिक विरोध भी है। प्रसाद साहित्य को सार्वकालिक और सार्वदेशिक भावनाओं पर आश्रित देखना चाहते हैं। इब्सनिज्म में उन्हें नयेपन की अमर्यादित पुकार ही सुनाई देती है। इस नयेपन मे एकांगीपन ही अधिक है। इसमें हमारे साहित्य का संपूर्ण विकास सम्भव नहीं है। यह स्पष्ट है कि नाटक के क्षेत्र में प्रसाद वैचित्र्य-वादियों के साथ नहीं हैं, वह रसवादियों के साथ हैं। इसीलिए उनके नाटकों में व्यक्ति-वैशिष्ट्य या चरित्र-चित्रण पर उतना बल नहीं है, जितना रस-परिपाक पर। फलतः आधुनिक नाटकों से वह कुछ भिन्न

हैं और बहुत कुछ १६वीं शताब्दी के अंग्रेज़ी नाटको से मिलते-जुलते होने पर भी उनसे भिन्न हैं। उनके नाटक अतीत पर आश्रित हैं परन्तु उनमें भविष्य के निर्माण की योजना रखी गई है और वे कला की सभी मान्यताओं पर पूरे उतरते हैं। वे चरित्र-चित्रण और व्यक्ति-वैचित्र्य को रस का साधन बना कर हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं।

रंगमंच के विषय में भी उनकी अपनी मान्यताएँ हैं। वे केवल नई पश्चिमी प्रेरणाओं को ले कर नहीं चलना चाहते। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि रंगमंच को देश, काल और पात्र के अनुसार संग्रहीत होना चाहिए। वह रंगमंच के विकास में हिन्दी की उस स्वतन्त्र परम्परा का ही प्रसार देखना चाहते हैं जिसकी स्थापना भारतेन्दु ने की थी। अपने समय के पारसी रंगमंच से वह पूर्णतया असंतुष्ट थे और हिन्दी वालो के पास अपना कहने के लिए कोई रंगमंच नहीं था। रंगमंच के अभाव में व्यावहारिक दृष्टि का विकास असंभव था और नाटककारों से यह अपेक्षा की जाती थी कि वे ऐसे नाटक लिखें जो किसी प्रकार के परिवर्तन के बिना रंचमंच पर उपस्थित किए जा सकें। इसी धारणा के बल पर हिन्दी के श्रेष्ठतम नाटकों को रंगमच के लिए अनुपादेय ठहरा कर उपेक्षित किया जा रहा था। इस वस्तु-स्थिति का प्रसाद ने विरोध किया। उन्होंने प्रतिक्रिया के वशीभूत हो नाटक को रंगमंच से पहले रखा। इसमें सन्देह नहीं कि यह दृष्टिकोण भ्रामक था। प्रत्येक नाटक के साथ रंगमंच बदलता रहे यह बात अव्यावहारिक है। परन्तु जहाँ रंगमंच है ही नहीं वहाँ अभिनेय-अनभिनेय की बात उठाई ही क्यों जाए? कदाचित् प्रसाद के इस मंतव्य में सामयिक आलोचकों के प्रति प्रसाद की चिढ़ ही व्यक्त हुई है। इसी विचारधारा से अनुप्राणित हो कर उन्होंने नाटकीय भाषा के सम्बन्ध में भी एक विचित्र दृष्टिकोण रखा है। इस क्षेत्र में भी वे यथार्थवाद के कायल नहीं हैं। वह कहते हैं—'मैं तो कहूँगा कि सरलता और क्लिष्टता पात्रों के भावो और विचारों के अनुसार भाषा में होगी ही और पात्रों के भावों और विचारों के आधार पर ही भाषा का

प्रयोग नाटकों में होना चाहिए; किंतु इसके लिए भाषा की एकतन्त्रता नष्ट कर के कई तरह की खिचड़ी भाषाओं का प्रयोग हिंदी नाटकों के लिए ठीक नहीं। पात्रों की संस्कृति के अनुसार उनके भावों और विचारों मे तारतम्य होना भाषाओं के परिवर्तन से अधिक उपयुक्त होगा। देश और काल के अनुसार भी सांस्कृतिक दृष्टि से भाषा में पूर्ण अभिव्यक्ति होनी चाहिए।' इसी मंतव्य का निर्वाह उनके नाटकों में हुआ है। उन्होंने अपने नाटको मे सभी पात्रों की भाषा लगभग समान रखी है। कहीं-कहीं उनकी भाषा क्लिष्ट भी हो गई है। उनके नाटक मूलतः ऐतिहासिक हैं और इसलिए भाषा की क्लिष्टता और काव्य-ममता उन्हें प्राचीन युग का गौरव देने में समर्थ हैं परन्तु इससे उनके नाटक रंगमंच के लिए दुर्बोध हो गए हैं। जहाँ छोटे-बड़े सभी पात्र संस्कृत-निष्ठ काव्यात्मक भाषा का प्रयोग करेंगे, वहाँ वे सब के लिए सुबोध नहीं हो सकेंगे। देश और काल के अनुसार भाषा गढ़ने की बात ठीक है। प्राचीन युग के वातावरण में प्रसाद की मधुमयी भाषा खूब सजती है, परन्तु उन्होंने भाषा-शैली के संबंध मे अपना जो दृष्टिकोण उपस्थित किया है वह सर्वमान्य नहीं हो सकेगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नाटक और रंगमंच के संबंध मे प्रसाद की अपनी धारणाएँ हैं। वह नग्न और निरर्थक यथार्थवाद और इब्सनिज्म के विरोधी हैं। वह भाषा शैली के साहित्यिक रूप के पक्षपाती हैं। वे नाटक को प्रयोगों की वस्तु नहीं बनाना चाहते। वह उसे व्यक्ति-वैचित्र्य और सामान्य अनुकृति से ऊपर उठा कर इसके ऊँचे आसन पर प्रतिष्ठित करना चाहते हैं।

उपसंहार

ऊपर हमने प्रसाद की काव्य, कला और नाटक रंगमंच-सम्बन्धी धारणाओं पर विचार किया है। इसमें संदेह नहीं कि वे धारणाएँ बहुत दूर तक मौलिक और क्रांतिवादी हैं और वह बहुत कुछ प्रसाद के अपने प्रयोगों पर आधारित हैं। 'काव्य और कला'—संबंधी उनके निबंध

जिनमें वे धारणाएँ स्वरूप प्राप्त करती हैं प्रसाद के उत्तरकाल की रचनाएँ हैं, कदाचित् अंतिम ५-६ वर्षों की। इस समय तक वह अपना अधिक साहित्य उपस्थित कर चुके थे और विभिन्न साहित्य-कोटियों के संबंध में उनकी मान्यताएँ प्रौढ़ और अपरिवर्तनशील बन गई थीं। उनमें उनकी अपनी रुचि-अभिरुचि, अपनी कला-भंगिमा, अपने प्रयोगों की पृष्ठभूमि ही पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित है। इस पृष्ठ-पट पर ही हमें उनका मूल्यांकन करना होगा। काव्य के उद्देश्य और उसके स्वरूप के संबंध में उनकी निष्कृतियाँ सब से महत्त्वपूर्ण हैं। छायावाद को उन्होंने लाक्षणिक विधानों और प्रयोगों में अवश्य सीमित कर दिया है परन्तु व्यापक दृष्टि से देखने पर यह उसका एक महत्त्वपूर्ण अंग है। अतः इस संकुचित दृष्टि का थोड़ा निराकरण हो जाता है। नाटक और रंगमंच के संबंध में उनकी मान्यताएँ सर्व-स्वीकृत नहीं हो सकतीं। उनके अपने प्रयोगों और समसामयिक रंगमंचीय परिस्थिति से प्रभावित होने के कारण वे अपूर्ण और एकांगी हैं।

फिर भी इसमें संदेह नहीं कि प्रसाद का साहित्यिक दृष्टिकोण उनके साहित्यिक नेतृत्व का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। उसमें जहाँ रीतिकाल की शृंगारिक और रूढ़िवादी दृष्टि का विरोध है वहाँ महावीरप्रसाद द्विवेदी की नैतिक और उपयोगितावादी क्लासिकल दृष्टि भी उसमें नहीं है। आप काव्य-विषय, काव्य-भाषा और काव्य-शैली तीनों क्षेत्रों में नये सिद्धांत ले कर चले हैं और इन सिद्धांतों को काव्य-रूप दे कर उन्होंने इतिवृत्तात्मकता और गद्यात्मकता से ऊपर उठ कर रसमूलक श्रेष्ठ काव्य की सृष्टि की है। उन्होंने नये साहित्य को पश्चिम से नहीं भारतेन्दु से जोड़ने का प्रयत्न किया है और काव्य के क्षेत्र में छायावाद और यथार्थ-वाद दोनों के लिए भारतेन्दु के साहित्य को मूलाधार माना है। जिस ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौंदर्यमयप्रतीकविधान और स्वानुभूति की निवृत्ति को वह छायावाद मानते हैं वह भारतेन्दु के काव्य में प्रचुर मात्रा में हैं और स्वयं व्रजभाषाकाव्य भारतेन्दु की इसी नई प्रवृत्ति का विकास

है। नये काव्य के कुछ अंग भारतेन्दु में नहीं मिलते—उनके काव्य में प्रकृति के प्रति उल्लेख नहीं दिखाई पड़ता और नए ढंग के रहस्यवाद का भी स्फुरण उनमें नहीं है। प्रसाद ने 'इन्दु' के पहले अंक में ही इन उपेक्षित अंगों की ओर संकेत किया है। इस विषय में 'काव्य और प्रकृति' शीर्षक उनका सर्वप्रथम साहित्यिक लेख द्रष्टव्य है। यथार्थवाद की नई धारा को वह भारतेन्दु के 'नीलदेवी' 'भारत दुर्दशा' और 'प्रेमयोगिनी' जैसे नाटकों से सम्बन्धित करते हैं। उन्होंने लिखा है: 'प्रेमयोगिनी' हिंदी में यथार्थवाद के ढंग का पहला प्रयास है और 'देखी तुम्हरी कासी' वाली कविता को मैं इसी श्रेणी की चीज समझता हूं। प्रतीक विधान चाहे दुर्बल रहा हो, परन्तु जीवन की अभिव्यक्ति का प्रयत्न हिंदी में उसी समय आरम्भ हुआ था। वेदना और यथार्थवाद का स्वरूप धीरे धीरे स्पष्ट होने लगा। अवस्था वाले युग में देवव्याज से मानवीय भाव का वर्णन करने की जो परंपरा थी, उससे भिन्न सीधे सीधे मनुष्य के अभाव और उसकी परिस्थिति का चित्रण हिन्दी में उसी समय आरंभ हुआ। इसी प्रकार नाटक और रंगमंच के विकास को भी वह भारतेन्दु से शुरू करते हुए कहते हैं—'श्री भारतेन्दु ने रंगमंच की अव्यवस्थाओं को देख कर हिंदी रंगमच की स्वतन्त्र स्थापना की थी; उसमें इन सब का समन्वय था। उसमें सत्य हरिश्चन्द्र, मुद्राराक्षस, नीलदेवी, चंद्रावली, भारतदुर्दशा, प्रेमयोगिनी में सब का सहयोग था। हिंदी रंगमंच की इस स्वतंत्र चेतना को सजीव रख कर रंगमंच की रक्षा करनी चाहिए। केवल नई पश्चिमी प्रेरणाएं हमारी पथ-प्रदर्शिका न बन जायें।' इस प्रकार उन्होंने काव्य और नाटक के क्षेत्र में नये आंदोलनों को पूर्व-प्रवृत्तियों और भारतेन्दु की महत्त्वपूर्ण कृतियों से जोड़ा और उनको साहित्य क्षेत्र में स्वीकृत कराया। भारतेन्दु के बाद विशुद्ध साहित्य की रस-मूलक साधना लुप्त होती जा रही थी। साहित्य समाज-सुधार, राजनीति, धर्म और ज्ञान विज्ञान का कोष बना जा रहा था। जीवन से संयुक्त करने के बहाने उसका जीवन-रस ही समाप्त हो रहा था। मैथिलीशरण

गुप्त की तुकबंदियाँ ही उन दिनों आदर्श काव्य और नाटक के क्षेत्र में पारसी स्टेज के भोड़े प्रहसन और पौराणिक विद्रूप आदर पा रहे थे। ऐसे युग में साहित्य को ले कर विशुद्ध रसदृष्टि की स्थापना करना बहुत कठिन कार्य था। काव्य में लाक्षणिक शैली के आविष्कार और नये आनंदमय प्रतीकों के आधार पर तथा नाटकों में ऐतिहासिक स्वच्छंदतावादी दृष्टि को विकसित कर प्रसाद ने इस कठिन कार्य का संपादन किया। इस नई साहित्य-दृष्टि का बड़ा विरोध हुआ परन्तु युग बदल चुका था और नये प्रतीकों का आकर्षण भी कम नहीं था। फलतः प्रसाद के साहित्य के द्वारा नई चेतना को स्थायित्व प्राप्त हुआ और नई चेतना नया युग-धर्म ले कर आई।

———

विचारधारा

(डा० रामरतन भटनागर)

साहित्य मनुष्य के आंतरिक जीवन और उसकी विचारधारा का क्षण-क्षण का आलेखन है। वह संपूर्ण मनुष्य की कृति है, खंड मनुष्य की नहीं। अतः साहित्यकार की रचना को पृष्ठभूमि से पूर्णतया परिचित होने के लिए यह आवश्यक है कि हम उसकी विचारधारा की अनेकानेक तरग-भगिमाओं से भली भाँति परिचित हों, उसके भाव-जगत की तरंगो के साथ, उसके विचारो के आलोडन-विलोडन और घात-प्रतिघात से परिचित होना भी हमें आवश्यक है। प्रसाद जागरूक कलाविद् थे। साहित्य उनके लिए आमोद-प्रमोद और विलास की वस्तु नहीं था ; वह अवकाश के क्षणों का उपयोग-मात्र न हो कर उनके व्यक्तित्व की जीवन-व्यापी साधना था, इसी लिए वह उनके बौद्धिक जीवन से पूर्ण रूप से सयुक्त है।

इस अध्याय मे हम प्रसाद की सामाजिक तथा सांस्कृतिक विचार-धारा पर दृष्टिपात करेंगे। कर्म, दर्शन, राजनीति, मानव, इतिहास, सम-सामयिक जीवन और मानव के कुछ मौलिक प्रश्नो के सम्बन्ध मे कवि ने क्या सोचा था, जो सोचा था वह किस रूप में उसका अपना बन सका, यही हमारा विषय रहेगा।

प्रसाद के साहित्य मे मुख्यतः उनके काव्य में जीवन दर्शन के रूप में एक निश्चित चिन्ता मिलती है। यह जीवन-दर्शन अपनी व्यापकता में ध्येय, दर्शन और आधुनिक जीवन को समेट लेता है और कुछ मौलिक और कुछ सामयिक प्रश्न हमारे सामने उपस्थित करता है। प्रसाद के समाधान से चाहे हमें मतभेद हो, परन्तु इन मौलिक प्रश्नों

के महत्त्व को हम अस्वीकार नहीं कर सकते। आदिम प्रश्न के प्रभाव से मनुष्य इन प्रश्नों को उठाता रहा है। परन्तु इन चिरतन प्रश्नों के साथ अपने युग के कुछ प्रश्नों का समाधान भी हमें प्रसाद में मिलता है। उनपर भी हमें विचार करना होगा। चिरंतन प्रश्न प्रसाद के वैषम्य-जीवन के कटु अनुभवों से प्रसूत हैं और समसामयिक वार्ता ब्रह्म-जगत् के दैवमय और असंतुलन एवं पश्चिमी-पूर्वी संस्कृति के संघात के रूप में उपस्थित होती हैं। काव्य के अतिरिक्त प्रसाद के नाटक और 'इरावती' उपन्यास भी ऐसी सामग्री प्रस्तुत करते हैं जो उनकी जीवन सम्बन्धी चिन्ता से संबद्ध है।

१७-१८ वर्ष की आयु में जब प्रसाद ने अपनी लेखनी उठाई, वह दुःख, प्रताड़ना, मृत्यु और कालचक्र के परिवर्तन से पूर्ण रूप से परिचित हो गये थे। एक बड़े और अपरिचित व्यवसाय का भार उनपर आ पड़ा था। घर में भी विशृंखलता का राज्य था। माता, पिता और ज्येष्ठ भ्राता की मृत्यु की विभीषिका उनके नेत्रों के सामने नाच रही थी। फलतः उनकी किशोर बुद्धि में जीवन-मरण और सुख-दुःख संबंधी जिज्ञासा उठ चुकी थी और उन्होंने अपने ढंग पर इन प्रश्नों का समाधान भी कर लिया था। कठोर परिस्थितियाँ मनुष्य को तोड़ देती हैं और वह भाग्यवादी बन जाता है। प्रसाद के संबंध में भी यही हुआ। १९३० तक की उनकी सभी रचनाओं में हमें भाग्यवाद के प्रति उनकी गहरी आस्था मिलती है। बाद में वह परिस्थितियों से ऊपर उठ कर अद्वैत-मूलक आनन्दवाद और कर्मण्यता के उपासक बन जाते हैं। एक तरह से यह परिवर्तन स्वयं उनके भीतर की सामंजस्य और समरस्य की प्राप्ति का सूचक है। उनकी प्रारंभिक रचनाएँ भाग्यवाद से प्रभावित हैं। 'जनमेजय' में 'अखंडनीय कर्म-लिपि' की दुहाई दी जाती है और व्यास 'नियति, केवल नियति' कह कर मनुष्य के क्षुद्र प्रयत्नों की असारता प्रकट करते हैं। 'चन्द्रगुप्त' का शकटार नियति को सम्राटों से भी प्रबल बतलाता है—स्वयं चन्द्रगुप्त जैसा कर्मठ योद्धा भाग्यवाद में विश्वास

करता है। वह कहता है—'विधाता की स्याही का एक बूँद गिर कर भाग्यलिपि पर कालिमा चढ़ा देता है।' इसे ही काव्यात्मक शब्दों में 'स्कंदगुप्त' के मुँह से सुन लीजिये—'लक्ष्मी की लीला, कमल के पत्तों पर जलबिंदु आकाश के मेघ-समारोह—अरे इनसे भी क्षुद्र नीहार-कणिकाओं की प्रभात-लीला। मनुष्य की अदृष्ट-लिपि वैसी ही है जैसी अग्नि-रेखाओं से कृष्ण-मेघ मे बिजली की वर्णमाला—एक क्षण में प्रज्वलित, दूसरे क्षण में विलीन होने वाली। भविष्यत् का अनुचर तुच्छ मनुष्य केवल अतीत का स्वामी है।' 'अजातशत्रु' का बिम्बसार तो अपने भाग्यवादी दर्शन के कारण ही अपने महत्त्व को कुंठित कर लेता है। उसके आत्मकथन नियतिवाद की सुन्दर व्याख्या है। 'आह, जीवन की क्षणभंगुरता देख कर भी मानव कितनी गहरी नींव देना चाहता है। आकाश के नीले पत्र पर उज्ज्वल अक्षरों मे लिखे अदृष्ट के लेख जब धीरे-धीरे लुप्त होने लगते हैं तो मनुष्य प्रभात समझने लगता है और जीवन से संग्राम में प्रवृत्त हो कर अनेक अकांड तांडव करता है। फिर भी प्रकृति उसे अंधकार की गुफा मे ले जा कर उसका शांतिमय, रहस्य-पूर्ण भाग्य का चिट्ठा समझाने का प्रयत्न करती है। किन्तु वह कब मानता है? मनुष्य व्यर्थ महत्त्व की आशंका में मरता है; अपनी नीची, किंतु सुदृढ़ परिस्थिति से उसे संतोष नहीं होता; नीचे से ऊँचे चढ़ना ही चाहता है, चाहे फिर गिरे भी तो क्या? इस भाग्यवाद के कारण मनुष्य एकदम अशक्त है। उससे किसी भी दृढ़ता की आशा व्यर्थ है। बिंबसार कहता है—'भगवान्, असंख्य ठोकरें खा कर लुढ़कते हुए जड ग्रहपिंडों से भी इस चैतन्य मानव की बुरी गत है। धक्के खा कर भी वह निर्लज्ज सभा से नहीं निकलना चाहता। कैसी विचित्रता है।'

परन्तु अदृश्य पर विश्वास रख कर क्या मनुष्य एकदम निश्चेष्ट हो जाए? प्रसाद नियतिवादी होते हुए भी अकर्मण्यता और निश्चेष्टता का उपदेश नहीं देते। जीवक के शब्दों में वह कहते हैं—'अदृष्ट तो मेरा सहारा है। नियति की डोरी पकड़ कर मैं निर्भय कर्मकूप में कूद

सकता हूँ, क्योंकि मुझे विश्वास है कि जो होना है वह तो होगा ही, फिर कायर क्यो बनूँ—कर्म से क्यो विरक्त रहूँ ?' वस्तुतः नियतिवाद एक विचारधारा है। उसमे कर्म-अकर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है। मनुष्य कुछ नहीं करता प्रकृति कराती है। गुण गुणों को बर्तते हैं। यह विचार-धारा कोई आज की नहीं, बहुत प्राचीन है। इस विचार-धारा की अनेक प्रतिक्रियाएँ सम्भव हैं। बिंबसार एक प्रतिक्रिया है, जीवन का सिद्धांत एक दूसरी प्रकार की प्रतिक्रिया को उपस्थित करता है। मनुष्य नियति को प्रधान मान कर या तो अस्त्र डाल दे और पराजय तथा तज्जन्य अवसाद को स्वीकार कर ले या नियतिवाद मे मानव जीवन के लिए अथक कर्मवाद का पाठ पढ़े। जो होता है वह तो निश्चित ही है, वह तो होगा ही, मनुष्य अकर्मण्य बना क्यो बैठा रहे ? हार-जीत उसके हाथ में नहीं है, परन्तु बाजी तो वह पूरी जागरूकता के साथ खेल सकता है। इसीलिए व्यास जनमेजय को उपदेश देते हैं—'जो हो रहा है, उसे होने दो। अन्तरात्मा को प्रकृतिस्थ करने का उद्योग करो—मन को शांत रखो।'

प्रसाद नियति को अन्ध बतलाते हैं। व्यास के शब्दों में 'दंभ और अहंकार से पूर्ण मनुष्य अदृष्ट शक्ति के क्रीड़ा-कन्दुक हैं। अन्ध नियति कर्तृत्व-मद से मनुष्यो की कर्म-शक्ति को अनुचरी बना कर अपना कर्म कराती है; और ऐसी ही क्रांति के समय विराट्‌का वर्गीकरण होता है। यह एकदेशीय विचार नहीं है। इसमें व्यक्तित्व की मर्यादा का ध्यान नहीं रहता, 'सर्वभूतहित' की कामना पर ही लक्ष्य रहता है।' इस प्रकार वह नियति को 'ऋत्' अर्थात् नैतिक तत्त्वों से समाविष्ट कर देते हैं। मनुष्य यदि समझ ले कि नियति उछृंखल नहीं है, 'सर्वभूतहित'—सबका कल्याण—यही उसका लक्ष्य है तो वह नियति के थपेड़ो से दुःखी न हो। उत्थान और पतन, दुःख और सुख, 'हास और अश्रु प्रकृति की योजना के द्विविध रूप हैं और इन शब्दो के द्वारा ही विश्व-जीवन प्रकृतिशील रह पाता है। 'आँसू' की परिणति इसी सत्य को सम्मुख

रखनी है।

फिर तम प्रकाश झगड़े में
नव ज्योति विजयिनी होती,
हँसता यह विश्व हमारा
बरसाता मंजुल मोती।

प्रारम्भिक रचनाओं में नियति की क्रूरता और भाग्य की अनस्थिरता की जो व्यंजना है, वह 'आँसू' तक पहुँचते-पहुँचते अपने भीतर ही अपना समाधान उपस्थित कर लेती है और इस प्रकार कवि के जीवन का एक अध्याय समाप्त हो जाता है और वह शक्ति और आनन्द के नये स्रोतों की ओर उन्मुख होता है। 'नियति-नदी का कौतुक नृत्य' उसके लिए दुःख की नहीं, समस्या की वस्तु बन जाता है।

फिर भी यह स्पष्ट है कि जीवन की असहायता और मानव की असमर्थता तथा क्षुद्रता का सम्पूर्ण अंकन प्रसाद के साहित्य में मिल जाता है। उनके लिए जीवन एक रहस्यमय, उलझी हुई, कल्पनातीत वस्तुस्थिति है और मानव बहुधा उससे निराश हो जाता है। वायु की भटकी हुई तरंग की भाँति अपनी असहाय अवस्था की अनुभूति होने पर मनुष्य अपने को अपदार्थ समझने लगता है। प्रसाद के अनेक पात्रों ने इस वस्तुस्थिति का अनुभव किया है। परन्तु प्रसाद यह भी मान लेते हैं कि नियति की सत्ता को सर्वोपरि मान कर भी मनुष्य चल सकता है। वह विश्व-मैत्री, सहवेदन और करुणा के भाव से ओतप्रोत हो। समझ ले कि 'भगवान् दुखियों से अत्यन्त स्नेह करते हैं। दुःख भगवान् का मंगलमय उपहार है।' दुःख की सहानुभूति हृदय को हृदय के समीप पहुँचाती है। मानवता का यही तो प्रधान उपकरण है।' इस प्रकार प्रसाद बुद्ध के मैत्री और करुणा के उपदेश की ओर बढ़ते हैं और भगवान् बुद्ध उनके लिए एक महान् प्रतीक बन जाते हैं। 'राज्यश्री' में ही हमें पहली बार करुणा के इस संदेश का साक्षात्कार होता है और 'अजातशत्रु' में स्वयं गौतम के मुँह से इसकी दीक्षा की व्यवस्था की

गई है। इस नाटक में गौतम और मल्लिका इत्यादि करुणा के प्रतीक बन कर ही उपस्थित होते हैं। शेक्सपियर ने 'मर्चेन्ट ऑफ वेनिस' में पोर्शिया के मुँह से जिस प्रकार करुणा और क्षमा की अभ्यर्थना कराई है, उसी प्रकार प्रसाद वासवी के मुख से नाटक के पहले अंक के प्रथम दृश्य मे करुणा का गौरव-गान हमारे समक्ष रख देते हैं। उनके अनुसार प्रकृति और मनुष्य के सारे व्यापारो में एक सार्वभौम सहज सहानुभूति की भावना की परिव्याप्ति है। उसे ही मूल मानव-भाव या करुणा कहना होगा।

क्षणिकवाद और दुःखवाद प्रसाद के इस करुणावाद की पृष्ठभूमि हैं। जो कुछ है, वह सब क्षणभंगुर है। एक भी क्षण के लिए नाश और मृत्यु का क्रम नहीं रुकता। जो कुछ भी दृश्यमान है वह नश्वर है, अतः परिणाम में दुःख ही हाथ लगता है। जो क्षणिक सुखो को स्थायी मान लेते हैं वे बड़ी भूल करते हैं—जब इस जगत में कहीं स्थायित्व है ही नहीं तो सुख ही किस प्रकार स्थायी होगा। गौतम कहते हैं :—

चंचल चन्द्र सूर्य है चंचल,
चपल सभी ग्रह-तारा हैं।
चंचल अनिल, अनल, जल-थल सब
चंचल जैसे पारा है।
जगत प्रकृति से अपने चंचल
मन की चंचल लीला है।
प्रतिक्षण प्रकृति चंचला जैसी
यह परिवर्तन शीला है।

मनुष्य यदि विश्व की इस क्षणभंगुरता से परिचित हो जाये, यदि वह इस भय को अपने हृदय मे स्थान दे ले, तो उसके हृदय में सात्विक वैराग्य का जन्म स्वतः ही हो जाये और वह पर-दुःख-कातरता से द्रवित हो लोक-हित को अपने जीवन का महामंत्र बना ले। अपने एक पात्र

के मुँह से प्रसाद कहलाते हैं—'यह तो मैं नहीं कहता कि इस पुतले को बना कर दुःख का संबल देकर विधाता ने क्यों अनन्त-पथ का यात्री बनाया; पर इससे इतना भयभीत क्यों रहूँ? उस करुणा-निधान की सहानुभूति इसी में तो झलकती है। प्राणी दुःखों में भगवान् के समीप होता है।' इस प्रकार अन्त में तो भगवान् की करुणा ही मनुष्य का एकमात्र अवलम्ब है, परन्तु करुणा को एक व्यापक जीवन-दर्शन मान कर मनुष्य अपने जीवन को बहुत कुछ संतुलित और सुखी बना सकता है। इस प्रकार प्रसाद करुणा को मानव-जीवन की एकमात्र इकाई बनाना चाहते हैं। वह उसे ही सृष्टि के विकास का मूलमंत्र समझते हैं। मूलगंधकुटी विहार के समारोहोत्सव पर उन्होंने मंगलाचरण के रूप में जो छंद पढ़े थे वे करुणा की ही जयध्वनि थे। करुणा के नाते ही गौतम प्रसाद को प्रिय थे। बचपन से तरुणाई तक दुःख की निर्ममता के कठिन प्रहार जिसने सहे, उससे यही आशा की जा सकती है। 'अशोक की चिंता' में वह हिंसा और पीड़ा से जर्जर मानव के सम्मुख करुणा का संदेश ही रखते हैं।

संसृति के विक्षत पग रे!
यह चलती है डगमग रे!
अनुलेप सदृश तू लग रे!
मृदु दल बिखेर इस मग रे!
कर चुके मधुप मधुपान भंग।
भुनती वसुधा, तपते नग,
दुखिया है सारा अग-जग,
कंटक मिलते हैं प्रति पग,
जलती सिकता का यह मग,
बह जा बन करुणा की तरंग!

परन्तु प्रसाद के जीवन-दर्शन का अंतिम रूप आनन्दवाद है। 'कामायनी' 'इरावती', जैसी कुछ कहानियों में प्रसाद ने इसी आनन्दवाद

को विकसित एवं पुष्ट किया है। उनका कहना है कि उपनिषदों और बुद्ध से पूर्व यही आनन्दवाद आर्यों का मूल जीवन-दर्शन था और यही आर्य-संस्कृति का मूलाधार था। उत्तर प्रसाद अहिंसा, अनात्म और अनित्यता की भावना को आर्यों के आनन्दवाद का विरोधी मानते हैं और उन्हें जीवन के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण के विकास के लिए हानिकारक समझते हैं। इसीलिए 'इरावती' में आनन्द का प्रचारक ब्रह्मचारी कहता है—'सर्वसाधारण आर्यों में अहिंसा, अनात्म और अनित्यता के नाम पर जो कायरता, विश्वास का अभाव और निराशा का प्रचार हो रहा है उसके स्थान पर उत्साह, साहस और आत्मविश्वास की प्रतिष्ठा करनी होगी। 'इरावती' मे प्रसाद स्पष्ट रूप से बौद्ध-दर्शन के 'सर्व-क्षणिकम्' सिद्धान्त और उसके अनात्मवाद के विरोधी हैं। 'कामायनी' मे वह आत्मवाद का ही शंखनाद करते हैं। अपने इस पर-दृष्टिकोण को उन्होंने पूर्व-दृष्टिकोण से जोड़ने का भी प्रयत्न किया है। उनका कहना है कि अहंकारमूलक आत्मवाद का खंडन ही गौतम का उद्देश्य था। उनका अनात्मवाद उपनिषदों के 'नेति नेति' की ही प्रतिध्वनि है। गौतम का करुणावाद इस आत्मवाद का ही एक महत्त्वपूर्ण चरण है। अपने कुछ निबंधों में उन्होंने आत्मवाद और आनन्दवाद के ऐतिहासिक विकास की रूपरेखा भी उपस्थित की है और कदाचित् 'इंदु' नाम के अपने नाटक में वह इस विषय को कला का रूप देना चाहते थे। उनके व्यक्तित्व के माध्यम से करुणावाद और आनन्दवाद के दो विरोधी तत्त्व एक बनने जा रहे थे।

इस आनन्दवाद का दार्शनिक आधार शैवाद्वैत है। 'कामायनी' में विश्व-शक्ति के रूपक का सहारा लेकर प्रसाद ने अद्वैतवाद को बड़ी विशदता से अभिव्यंजित किया है। श्रद्धा और मनु कैलाश पर तप कर रहे हैं। उन्होंने तप और श्रद्धा के बल-पर जीवन के सत्य की उपलब्धि कर ली है। मनु इडा को कैलाश की ओर इंगित कर के कहते हैं—

जहाँ पर
कोई भी नहीं पराया।
हम अन्य न और कुटुम्बी,
हम केवल एक हमीं हैं,
तुम सब मेरे अवयव हो
जिसमें कुछ नहीं कमी है।

प्रसाद इस जीवन को एक महान चेतनसागर समझते हैं। जिस प्रकार समुद्र में लहरें उठा करती हैं उसी प्रकार मानव का भी भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व है। लहर और बुदबुद के रूपकों से उन्होंने इस अभेदता को स्पष्ट किया है। जीवन की अनन्तता, अविच्छिन्नता और समरसता ही उनके महाकाव्य के अंतिम सर्गों का विषय है। यह अद्वैत वेदांत का विशुद्ध काव्यात्मक रूप है। अद्वैतवादी के लिए अभेदत्व, अखण्ड आनन्द और विशुद्ध चेतनता के सिवा इस सृष्टि में और कुछ है ही नहीं। इस प्रकार उनका प्रसाद का दृष्टिकोण विशुद्ध अद्वैतवादी दृष्टिकोण बन जाता है। वह एकमात्र परमात्मतत्त्व या शिवतत्त्व की अवस्थिति ही मानते हैं। अद्वैत की ऊँची स्थिति पर पहुँच कर केवल एक चिन्तन चेतन तत्त्व को छोड़ कर और कुछ नहीं रह जाता। अद्वैतवादी के लिए यह दृश्य-दृश्य पूर्ण सब उस चेतन पुरुष का शरीर है :

अपने दुख सुख से पुलकित
यह मूर्त विश्व सचराचर,
चिति का विराट वपु मंगल
यह सत्य सतत चिर सुन्दर।

'कामायनी' के अंत में उन्होंने इस अद्वैतवादी भाव को जनसेवा की भित्ति बनाया है, क्योंकि

सब की सेवा न पराई
वह अपनी सुख संसृति है,
अपना ही अणु अणु कण-कण

द्वयता ही तो विस्मृति है।

यह अद्वैतभावांकित श्रम-सेवा का आनन्द मार्ग प्रसाद की हिंदी को सब से बड़ी देन है। इसमें उपनिषदों के अद्वैत, शैवागमों के आनन्दवाद और आधुनिक युग के कर्मवाद (श्रम-सेवा) का पूर्ण समन्वय हो जाता है। 'कामायनी' में यह चेष्टा तर्क-वितर्क और दार्शनिक रेखाओं से पुष्ट मिलती है। शिव-तांडव उनके इस दार्शनिक दृष्टिकोण का महान प्रतीक बन कर हमारे सामने आता है। कदाचित् इसी दृष्टिकोण के कारण आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने उन्हें 'आधुनिक शैव' कहा है।

'एक घूँट' नाम की एक छोटी-सी परवर्ती रचना में प्रसाद ने इस आनन्दवाद का व्यावहारिक रूप भी उपस्थित किया है। जिस आनन्द को प्रसाद ने मानव-जीवन के अन्तरतम तत्त्व के रूप में उपस्थित किया है वह 'अन्तरात्मा का प्रसन्न गंभीर उल्लास' है। इस आनन्द का अंतरंग सरलता है और बहिरंग सौंदर्य। स्वास्थ्य, सरलता, सौंदर्य और प्रेम मानव-जीवन की सब से बड़ी विभूतियाँ हैं। इन विभूतियों का एकत्र होना ही विश्व के लिये आनन्द के द्वार खुल जाना है। फलतः आनन्द की उपलब्धि के लिए इन विभूतियों का संग्रह आवश्यक हो जाता है। अपने छोटे-छोटे क्षेत्रों में अपने कर्तव्यों को निबाहते हुए राग-द्वेष से अलग रह कर यदि हम प्रेम की मंदाकिनी प्रवाहित कर सकें, यदि हममें से प्रत्येक किसी एक, दो या अधिक प्राणियों में विश्वास और मधुरता का निर्झर खोल सकें तो फिर यह जीवन स्वर्ग ही हो जाय। 'एक घूँट' का गीत प्रसाद के इस जीवन दृष्टिकोण को बहुत सुन्दरता से प्रकाशित कर देता है। कवि गाता है—

> खोल तू अब भी आँखें खोल।
> जीवन-उदधि हिलोरें लेता, उठती लहरें लोल।
> छवि की किरणों से खिल जा तू,
> ... ...
> उस आनन्द-स्वर से मिल जा तू, वाणी में मधु घोल।

जन्य तप से प्रताड़ित मनु को श्रद्धा से त्रिदिक विश्व और तीन आलोक-बिन्दुओं का परिचय होता है। ये आलोक-बिंदु इच्छा, ज्ञान और क्रिया हैं। जो क्रमशः भाव-जगत, ज्ञान-जगत और कर्म-जगत का प्रतिनिधित्व करते हैं। कवि यह बतलाना चाहता है कि केवल ज्ञान मनुष्य को जीवन के चरम सत्य तक नहीं ले जा सकता। यहाँ 'इड़ा' सर्ग की बुद्धिवादिता का परिहार है। अंत में कवि ज्ञान-भाव कर्म समन्वित संतुलित जीवन को इष्ट बतलाता है। यही त्रिपुर है जो युग-युग से मानव को ग्रस्त किए है :—

ज्ञान दूर कुछ, क्रिया दूर है
इच्छा क्यों पूरी हो मन की ;
एक दूसरे से न मिल सके,
यह विडम्बना है जीवन की।

इन त्रिपुरों का नाश, स्वप्न, स्वाप और जागरण अथवा इच्छा, क्रिया और ज्ञान का लयमान होना ही मानव-जीवन की पूर्णता है। इस प्रकार कवि जीवन के एकांगी विकास को मानव के लिये दुःख-पूर्ण ठहराता है।

इस बहिर्जीवन और अंतर्जीवन में एक अनन्य तारतम्य भी है। ज्ञान, भाव तथा कर्म-समन्वित संतुलित जीवन मनुष्य के लिए संभावनाओं का एक नया लोक खोल देता है। ज्ञान, भाव और कर्म के समन्वय से मानव के बहिर्विकास के मार्ग प्रशस्त हो जाते हैं। तदनंतर वह अंतर्भूमि की ओर अपने चरण बढ़ाता है। अंत में एक नितांत अभिनव लोक से उनका परिचय होता है जब—

संगीत मनोहर उठता,
मुरली बजती जीवन की। (आनन्द)

इस प्रकार बहिर्जीवन का सामञ्जस्य अंतर्जीवन के सामरस्य आदि तज्जन्य आनन्दभाव की पृष्ठभूमि बन जाता है।

प्रसाद ने सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन के संबंध में भी बहुत

कुछ सोचा है। 'कामना' में भी उन्होंने आधुनिक पश्चिमी सभ्यता की देहलिप्सा आदि घर्षण वृत्ति की तीव्र आलोचना की है। इस विदेशी संपर्क ने पूर्व के देशों की संस्कृति का रस किस प्रकार चूस लिया है यह हम इस रूपकात्मक रचना से अच्छी तरह समझ जाते हैं। 'इडा' सर्ग में सारस्वत प्रदेश की भौतिकवादी संस्कृति की विफलता भी इसी एकांगी संस्कृति का प्रतिबिम्ब है। परन्तु स्वयं हमारी पूर्वी संस्कृति में जो अनेक विरोधाभास बन गए हैं, जो दुर्लभ खाइयाँ आ गई हैं, जो गत्यवरोध हैं उनकी ओर से प्रसाद आँखें नहीं मींच सके हैं। उन्हें अतीतगामी आदि पलायनवादी नहीं कहा जा सकता। मौर्यों और गुप्तों के सांस्कृतिक और राजनैतिक उत्कर्ष को उन्होंने बड़े आकर्षक ढंग से चित्रित किया है। परन्तु अपने युग की समस्याओं को भी उन्होंने परखा है। 'कंकाल' और 'तितली' में उनकी यह परख स्पष्ट है। 'कंकाल' में जाति-वर्ण भेद पर कुठाराघात है तो 'तितली' में धनमर्यादा अथवा आर्थिक उच्चता-निम्नता पर व्यंग है। 'कंकाल' में हिंदू समाज की सारी दुर्बलताएँ उभारी गई हैं—सारा समाज ही कामना के अजस्र प्रवाह में बहता हुआ चित्रित किया गया है। सारे चित्र को देखते ही स्वतः मुँह से निकल पड़ता है—'कैसा भीषण जाल है। विवश प्राणी जैसे पाप के कुहरे से अपने को ढक लेने के लिए बाध्य किया जा रहा है।' 'कंकाल' में प्रसाद ने हिंदू-प्रतिक्रियावाद के महान गढ़ वर्ण-व्यवस्था को ले कर एक बड़ा विद्रोह खड़ा किया है। उपन्यास का कथानक ही कुछ इस प्रकार गठा गया है कि उससे ऊँच नीच की वृत्ति का परिहार हो जाता है। जो ऊँचे हैं, वे ही सबसे नीचे दिखलाई देते हैं। जो नीचे हैं वे ऊँचे सिद्ध हो जाते हैं। उपन्यासकार लगभग सभी पात्रों को वर्णसंकर सिद्ध कर जाति-पाँति और वर्ण व्यवस्था के मूल पर ही कुठाराघात करता है। मंगल और गोस्वामी प्रसाद के अपने मंतव्य को उपस्थित करते हैं। उनके माध्यम से प्रसाद ने जैसे हिंदू समाज को चुनौती दी है।

'तितली' में गाँव के सुधारांदोलन का चित्र उपस्थित किया गया है

जो चित्रणकला में भिन्न होते हुए भी 'प्रेमाश्रम' से बहुत भिन्न नहीं है; परन्तु इसके साथ और भी बहुत कुछ है जो बड़ी अधिक महत्त्वपूर्ण है। उसमें सम्मिलित परिवार के विनाश की कथा कहती है। जिनसे प्रसाद स्वयं अपने जीवन में भली भाँति परिचित थे। सम्मिलित कुटुम्ब हिंदू परिवार का एक आवश्यक अंग रहा है। उसके बल पर हिंदू समाज ने बाहर और भीतर की अनेक चोटें सही हैं। परन्तु अंग्रेजों के पदार्पण के बाद देश की आर्थिक स्थिति में कुछ मूलभूत परिवर्तन हुए और एक मध्यवित्त समाज का जन्म हुआ। धीरे-धीरे अर्थ की प्रधानता होने लगी और अर्थ की चोट से पारिवारिक सम्बन्ध टूटने लगे। 'तितली' में प्रसाद ने इस नई सामाजिक वस्तुस्थिति का बड़ा सुन्दर चित्रण किया है—'धीरे-धीरे विश्वास हो चला है कि भारतीय सम्मिलित कुटुम्ब की योजना की कड़ियाँ चूर-चूर हो रही हैं। वह आर्थिक संगठन अब नहीं रहा जिसमें कुल का एक प्रमुख सब के मस्तिष्क का संचालन करता हुआ रुचि की समता का भार ठीक रखता था। मैंने जो अध्ययन किया है, उसके बल पर इतना तो कह ही सकता हूँ कि हिंदू समाज की बहुत सी दुर्बलताएँ इस हिन्दू कानून के कारण हैं। क्या इसका पुनर्निर्माण नहीं हो सकता? प्रत्येक प्राणी, अपनी व्यक्तिगत चेतना का उदय होने पर, एक कुटुम्ब में रहने के कारण अपने को प्रतिकूल परिस्थिति में देखता है। सब जैसे भीतर-भीतर विद्रोही! मुँह पर कृत्रिमता और उस घड़ी की प्रतीक्षा में ठहरे हैं कि विस्फोट होके उड़न पर चले जाएँ।' यह विघटन आज हमारे समाज का साधारण अंग बन गया है और उसने हमारे दुःखों और तकलीफों में वृद्धि कर दी है। 'तितली' के सुधारवाद के साथ समाज का यह चिन्तनीय पक्ष भी द्रष्टव्य है। उसका सुधारवाद नए उदार हृदय जमींदार की कल्पना से आगे नहीं जाता—इस प्रथा को जड़ से खोद डालने की कल्पना न वह कर सके हैं, न प्रेमचन्द। फिर भी ग्रामीण जीवन की अनेक समस्याएँ इस उपन्यास में उभर आई हैं।

देवसेना, छलना, वासवी, श्रद्धा आदि अनेकानेक विभूतियों की सृष्टि कर सके हैं। नर-नारी के युग्म के मनोविश्लेषण को भी उन्होंने काव्य और कला का रूप दिया है। 'कामायनी' का लज्जा-सर्ग पूर्वराग और वयःसन्धि का बड़ा सूक्ष्म काव्यात्मक चित्रण है। नाटकों और कहानियों में जहाँ-जहाँ नारी सौंदर्य और प्रेम के प्रसंग आये हैं वहाँ-वहाँ प्रसाद भावुक हो उठे हैं। उनकी कहानियों मे प्रेमगाथाएँ अनेक हैं, नाटकों में कितने ही प्रेमी-युग्म सामने आते हैं और काव्य में प्रेम की पीडा और टूटे हृदय के चीत्कार के स्वर स्पष्ट रूप से सुनाई पडते हैं। नारी का विद्रोह, उसकी कुंठा, उसका क्षात्र तेज, उसका बलिदान प्रसाद के साहित्य का मेरुदंड बन गया है। अभिजात वर्ग-नारी तो उनका विषय है ही परन्तु निराश्रित, उत्पीड़ित, उपेक्षित और समाज बहिर्भूत नारियों के लिये भी उनके हृदय में उतना ही स्थान है। यह अवश्य है कि उनका नारी-विद्रोह उतना सामाजिक नही जितना मनोवैज्ञानिक और काव्यात्मक है। वह नारी के लिए केवल 'प्यार करने की सुविधा' माँगते हैं। आज वह अपने मन-चाहे पुरुष को प्यार भी नहीं कर सकती। कितनी दयनीय है वह ? इसी से प्रसाद की दृष्टि वैवाहिक जीवन की विडम्बनाओ पर अधिक जाती है। अधिकार की तो वह बात ही नहीं उठाते। परन्तु 'कंकाल' से यह स्पष्ट है कि वह समस्या के आर्थिक पक्ष से भी पूर्ण रूप से परिचित हैं। वस्तुतः नारी के प्रेम-स्वातंत्र्य की समस्या उनके लिए नारी के सर्व-स्वातन्त्र्य का प्रतीक बन गई है। उनके लिए प्रेम के आदान-प्रदान में स्वतन्त्रता ही सब प्रकार की स्वतन्त्रता का प्रतीक है। इस धरातल पर अनेक प्रश्न हैं जैसे विवाह और प्रेम का क्या सम्बन्ध हो, तलाक किन-किन परिस्थितियो मे वांछनीय हो और समाज के स्थायित्व तथा परिणय की सुविधा में समझौता किस प्रकार हो। प्रसाद प्रणय को विवाह से अधिक महत्त्व देते हैं। विवाह तो प्रेम और समाज की मान्यताओं के बीच में समझौता है।

और भी अनेक प्रश्न हैं जो प्रसाद ने अपने साहित्य मे उठाये हैं।

में यान्त्रिक उद्योगों का विकास वहाँ पहले हुआ। पश्चिम का सम्पर्क भी बंगाल को पहले ही मिल चुका था। इसीलिए मध्ययुगीन सामंती व्यवस्था, रीति-नीति, प्रेम-व्यापार और अन्य सभी प्राचीन संस्कारों के प्रति विद्रोह वहाँ पहले ही आरम्भ हो गया।

हिन्दी प्रदेश में सबसे पहले 'भारतेन्दु-युग' में अभिजातवर्गीय समाज-चेतना के विपरीत विद्रोह दिखाई पड़ा। 'द्विवेदी युग' में समाज-विकास के कारण वह तीव्र हुआ। 'भारतेन्दु युग' में जीवन और साहित्य की प्रगति चित्रित हुई तथा 'द्विवेदी युग' में पौराणिक आख्यानों द्वारा जातिभावना को जागृत किया गया। राष्ट्रीय भावना का विकास और संवर्द्धन दोनों युगों में हुआ। 'द्विवेदी युग' के प्रारम्भ में ही 'बंग-भंग' के आंदोलन के फलस्वरूप व्यापक और सक्रिय राष्ट्रीय चेतना का अभ्युदय समस्त भारतवर्ष में हो चुका था। औपनिवेशिक शासन-चक्र के नीचे पिसा हुआ सम्पूर्ण जनसमूह मध्यवर्गीय नेतृत्व में उठ रहा था। श्री दयानन्द सरस्वती और राजा राममोहन राय के चलाये हुए समाज-सुधार सम्बन्धी आंदोलन नगरों से आगे बढ़ कर गाँवों तक में पहुँचने लगे थे। हिन्दी प्रदेश आर्यसमाज के आंदोलन से विशेष प्रभावित हुआ। फलस्वरूप रीतिकालीन शृंगारमयी अनुभूतियों की व्यंजना के स्थान पर नवीन सामाजिक नैतिकता की प्रतिष्ठा साहित्य में हुई। 'रस' का परम्परागत संस्कार लोगों के मन में अब भी था, इसीलिए नैतिकता के आतंक से नियंत्रित द्विवेदीयुगीन साहित्य 'रस-ग्राही' पाठकों को 'नीरस' और 'इतिवृत्तात्मक' लगा। खड़ी बोली में भाषा की कुछ त्रुटियों के रहने के कारण और विकास की प्रारम्भिक अवस्था में होने के कारण भी उस साहित्य का 'रूप-पक्ष' अधिक आकर्षक नहीं बन सका।

जैसा ऊपर कहा गया है भारतवर्ष में सामंती जीवन के विपरीत जो विद्रोह चला उसी के समानान्तर राष्ट्रीय आंदोलन भी चल पड़ा। औपनिवेशिक देश के औद्योगिक विकास में ऐसा होना अनिवार्य था।

ये दोनों आंदोलन अभी समाप्त भी नहीं हो पाये थे कि स्वतन्त्र मज़दूर और किसान-आंदोलन चल पड़े। हम आगे चल कर देखेंगे कि प्रसाद के काव्य-साहित्य में सामंती नैतिकता के विरुद्ध यह भाव अंकित हुआ; उनके नाटकों से राष्ट्रीय भावनाओं को उत्तेजना प्राप्त हुई और उनकी कहानियों और उपन्यासों में जनहित का पक्ष प्रबल हुआ।

प्रसाद के साहित्य-क्षेत्र मे उतरते समय जैसी परिस्थिति थी उसका संक्षिप्त उल्लेख ऊपर हुआ है। उनकी सबसे पहली कहानी 'ग्राम' में इस बात का संकेत मिलता है कि किस प्रकार एक जमींदार की सम्पूर्ण जायदाद कर्ज न चुकाने के कारण एक महाजन के हाथ चली जाती है। इस कथा में समाज-व्यवस्था के परिवर्तन का स्वरूप अनायास चला आया है। कहानी स्पष्ट सिद्ध करती है कि समाज मे यंत्रों के विकास के फलस्वरूप एक ऐसे वर्ग का जन्म हो रहा है जो पुरानी जागीरदारी की व्यवस्था पर आधिपत्य जमाकर प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेने का इच्छुक है। कुन्दनलाल नामक महाजन उस सम्पूर्ण जन वर्ग का प्रतिनिधि है जो औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप उत्पन्न होता है और समाज का नेतृत्व अपने हाथों में ले लेता है।

प्रसाद का सर्वप्रथम काव्य-संग्रह 'कानन-कुसुम' सन् १६१० में प्रकाशित हुआ था। उसमें पौराणिक आख्यानों के आधार पर रची गई विनय की कविताएँ हैं। यत्र-तत्र तत्कालीन राष्ट्रीय भावना का अपरोक्ष प्रकटीकरण भी हुआ है। उदाहरण के लिए निम्नांकित पंक्तियाँ लीजिये जिसमे देश के लिए अपना सब कुछ उत्सर्ग करने वाले युवकों का आवाहन किया गया है—

"जो अछूत का जगन्नाथ हो, कृषक-करों का दृढ़ हल हो,
दुखिया की आँखों का आँसू और मजूरों का बल हो।
प्रेम भरा हो जीवन में, हो जीवन जिसकी कृतियों मे,
अचल सत्य संकल्प रहे, न रहे सोता जागृतियों में।"

और, जिसकी—

जिसकी कथा का सम्बन्ध चन्द्रगुप्त मौर्य से है। यह सन् १६१२ में 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में प्रकाशित हुआ था। 'करुणालय' एक गीति नाट्य है जो इसी साल छपा था, इसकी कथा का सम्बन्ध अयोध्या के राजा हरिश्चन्द्र और ऋषि विश्वामित्र से है। इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि प्रसाद की प्रारम्भिक नाट्य-कृतियाँ युग की प्रधान विचारधारा से बहुत दूर तक प्रभावित हैं। उनमें जन-जीवन का आकर्षक और सही चित्र प्रस्तुत किया गया है। उन नाटकों की आधार-भूमि तत्कालीन समाज और उसकी समस्याएँ हैं।

कहानी, कविता और नाटकों के अतिरिक्त प्रसाद की कला उपन्यास और निबन्ध के क्षेत्र में भी पनपी है परन्तु आपने रचनाकाल के प्रारम्भ में उन्होंने इधर हाथ नहीं बढ़ाया था।

विचारों और भावनाओं के परिवर्तन के समानान्तर 'द्विवेदी-युग' में रूप अथवा शैलीगत परिवर्तन भी हुआ। ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली सामान्य-काव्य-भाषा के रूप में गृहीत हुई। प्राचीन सवैया, कवित्त, और दोहा-चौपाई के स्थान पर नवीन छन्दों का प्रयोग होने लगा। परम्परागत अलंकारों और उपमानों को एक बार ही चुनौती दी गई। गीत-मुक्तकों के स्थान पर प्रबन्धात्मक काव्यों का पुनरुत्थान हुआ। कथा-साहित्य के क्षेत्र में सरल भाषायुक्त चरित्र-प्रधान सामाजिक रचनाओं का प्रारम्भ प्रेमचन्द के द्वारा पहले ही हो चुका था। देवकीनन्दन खत्री और किशोरीलाल गोस्वामी की शैलीगत विशिष्टताएँ इस क्षेत्र में पुरानी पड़ने लगी थीं। अब लेखक कहानी के पात्रों और पाठकों के बीच नहीं उपस्थित होता था जैसा कि पहले वह यह कह कर हुआ करता था कि—'आइये पाठक; अब हम-आप भी वहीं चलें जहाँ वीरेन्द्र सिंह और तेज सिंह परस्पर वार्तालाप कर रहे हैं।' नाटकों के क्षेत्र में अनुवादों की धूम थी। द्विजेन्द्रलाल राय के नाटक हिन्दी की नाट्यकला को विशेष प्रभावित कर रहे थे। प्रसाद के प्रारम्भिक नाटकों में राय की नाट्यकला की छाप चरित्र-चित्रण और वस्तु-विकास दोनों पर दिखाई पड़ती है।

प्रसाद की प्रारम्भिक कविताएँ ब्रजभाषा में लिखी गईं। 'प्रेम-पथिक' पहले ब्रजभाषा में ही लिखा गया था। सात वर्ष उपरान्त कवि ने उसे खड़ी बोली में रूपान्तरित किया। लेकिन शीघ्र ही प्रसाद की आन्तरिक प्रेरणाओं ने उन्हें खड़ी बोली की ओर उन्मुख कर दिया और जीवित जन-भाषा के कवि बन कर वे हमारे सम्मुख आये। प्रसाद के काव्य में प्रारम्भ से ही उस शैलीगत विशेषता के दर्शन होते हैं जो 'द्विवेदी-युग' की शुष्क नीरसता की प्रतिक्रिया में आगे आने वाले 'छायावाद' में विकसित हुई। लाक्षणिक और प्रतीकात्मक पद्धति पर चल कर भाव व्यंजना कराने की वृत्ति 'कानन कुसुम' और 'प्रेम-पथिक' से ही दिखाई पड़ने लगती है। यही आगे चल कर 'झरना' में कुछ प्रौढ़ रूप धारण करती है। अतुकांत और नवीन छंदों का प्रारम्भ 'प्रेम-पथिक' और 'कानन-कुसुम' से ही हुआ है। प्रगीत मुक्तकों के साथ प्रबन्धात्मक काव्यों की रचना भी प्रसाद जी करते रहे। 'महाराणा का महत्त्व' प्रबन्धात्मक काव्य है जिसमें मुक्त छंद के सहारे भावों की व्यंजना अपेक्षाकृत नई पद्धति पर की गई है। खानखाना की पत्नी का एक आवेगपूर्ण चित्र देखिये—

"कँपी सुराही कर की, छलकी वारुणी
देख ललाई स्वच्छ मधूक कपोल में;
खिसक गई उर से जरतारी ओढ़नी,
चकाचौंध सी लगी विमल आलोक को,
पुच्छ-मर्दिता वेणी भी थर्रा उठी,
आभूषण भी झनझन कर बस रह गये।"

कहानियों के क्षेत्र में प्रसाद अपनी स्वाभाविक भावुकता प्रधान शब्दावली ले कर उतरे। प्राकृतिक व्यापार की भूमिका प्रस्तुत कर के घटना और पात्रों का विकास करने की प्रवृत्ति भी दिखाई पड़ी। उनकी पहली कहानी ग्राम से ही एक उदाहरण लें। पन्द्रह वर्षीया बालिका का रूप देखिये—

"आलोक से उसका अंग अंधकार-घन में विद्युल्लेखा की तरह

चमक रहा था। यद्यपि दरिद्रता ने उसे मलिन कर रखा है, पर ईश्वरीय सुषमा उसके कोमल अंग पर अपना निवास किये हुए है।"

जिस भावुकता का क्षीण आभास यहाँ मिलता है वही प्रसाद की उत्तरकालीन कहानियों में अधिक आवेगमय हो उठी है। ऐतिहासिक कहानियों के अतिरिक्त उनकी सभी कहानियाँ अन्त में पहुँच कर अति भावुकता के कारण निरुद्देश्यता में खो जाती हैं। यह प्रसाद की वैयक्तिक विशेषता है जो प्रारम्भ से ही दिखाई पड़ने लगती है; और जिसका मूल हम उनकी व्यक्तिगत परिस्थितियों और संस्कारों में पा सकते हैं। वैसे उस युग के अनेक चिंतकों के उदाहरण दिये जा सकते हैं जो अति भावुकता के कारण समाज और जगत से दूर किसी 'कल्पना-लोक' या 'आनन्दमय-लोक' की पुकार लिये फिरा करते थे। हम देखेंगे कि वह भावधारा हमारी एक विशिष्ट सामाजिक स्थिति में उत्पन्न हुई थी और बहुत-कुछ उसी से प्रभावित भी हुई थी।

प्रसाद के साहित्यिक विकास का पहला युग यहीं समाप्त होता है। इसके उपरांत वे अधिक कलात्मक और गम्भीर साहित्यिक-सृष्टि की ओर अग्रसर हुए। युग की साहित्यिक चेतना को रूप और आकार प्रदान करने वाली विशाल सामाजिक पट-भूमिका भी बदली। हिन्दी की नवीन काव्यधारा ने प्रसाद, निराला और पन्त के माध्यम से नई परिस्थिति के अनुकूल अपने को ढाला।

देशव्यापी राष्ट्रीय आन्दोलन अधिकाधिक सक्रिय हुआ। भारतीय राजनीति के रंगमंच पर गांधी जी का आगमन हुआ और उनकी प्रेरणा से स्वदेशी का आन्दोलन अधिक सबल हुआ। हिन्दी-साहित्य में इस आन्दोलन का अपरोक्ष चित्रण हुआ। द्विवेदी-युग की प्रधान काव्यधारा के लिए राष्ट्रीय भावनाओं का गायन बड़ा रोचक लगा। फलतः श्री मैथिलीशरण गुप्त, श्री माखनलाल चतुर्वेदी इत्यादि ने देश पर बलिदान होने वाले युवकों का आवाहन किया और भारत माता की अर्चना में काव्य-कुसुमों का उपहार प्रस्तुत किया। मध्यम-वर्ग के उद्बोधन

गीत गाने के साथ ही इन कवियों ने सामूहिक किसान जागरण का भी नारा लगाया। परन्तु साहित्य की नवीनतम काव्यधारा जो आगे चल कर छायावाद के नाम से अभिहित हुई और जिसका नेतृत्व प्रारम्भ में स्वयं प्रसाद कर रहे थे, आन्दोलन से परोक्षतः ही प्रभावित हुई। 'कानन-कुसुम' के उद्धरण से हम यह प्रमाणित कर चुके हैं कि प्रसाद ने राष्ट्रीय भावनाओं को उत्तेजना प्रदान करने वाली रचनाएँ लिखी थीं। लेकिन उनकी आगे आने वाली काव्य-कृतियों में उस भावधारा का प्रवाह नहीं दिखाई पड़ता है। उनका बाद का काव्य उस भावधारा से एकदम अछूता लगता है। 'झरना' और 'आँसू' इस बात के प्रमाण हैं। लोगों ने आश्चर्य के साथ इस तथ्य को लक्ष्य किया है कि किस प्रकार अपने काव्य-विकास में कवि तत्कालीन राजनैतिक और सामाजिक आन्दोलनों से निर्लिप्त रह सका है। और यदि उसने जीवन-वास्तव की उपेक्षा इतने सहज भाव से की है तो उसके काव्य की उपयोगिता क्या है? हम इन प्रश्नों का उत्तर पाये बिना आगे नहीं बढ़ सकते।

हमने ऊपर यह कहा है कि उस युग में ऐसे अनेक व्यक्ति थे जो अति भावुकता के कारण मन-कल्पित आनन्दमय लोक में विचरण किया करते थे। ये ऐसे लोग थे जो समाज के तत्कालीन वातावरण से असन्तुष्ट थे। उनकी कामनाएँ वास्तविक जीवन में तृप्त न हो पाने के कारण उनके मनोजगत में अनेक ग्रंथियों की सृष्टि करती थीं। वे इच्छाओं की सरल अभिव्यक्ति और स्वस्थ पूर्ति के लिए कल्पना का आश्रय लेते थे। ऐसा कर के वे अपने मन के भीतर छिपे हुए विद्रोह और असंतोष को ही प्रकट कर रहे थे। ऐसे ही भावुक कवियों के द्वारा छायावादी काव्य की प्राण-प्रतिष्ठा हुई। प्रसाद का 'झरना' एक ऐसा ही काव्य है। इसलिए हमें उसकी मूल विद्रोही-भावना को समझना होगा। न तो वह किसी पागल का 'अनर्गल प्रलाप' है और न किसी की 'आत्मबद्ध अंतर्मुखी साधना'। उसमें भी विद्रोह और समाज की भावना उतनी ही प्रबल है जितनी किसी राष्ट्रीय कविता में। अन्तर केवल लक्ष्य

का है। छायावाद की कविता उस विद्रोह को व्यक्त करती है जो सामंती नैतिकता के विपरीत नवीन पूँजीवादी नैतिकता ने पैदा किया था। उसे 'स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह' कहना भ्रामक है। ऊपर से देखने में वह सूक्ष्म, कोमल भले ही दिखाई पड़ता हो, पर है वह स्थूल विद्रोह ही। सामंती संस्कृति के सभी जीवन-मान नवीन सभ्यता के लिए अनावश्यक थे। साहित्यिक रूढ़ियाँ भी दुर्वह बोझ की तरह से लगती थीं। स्वस्थ प्रेम को सामाजिक स्वीकृति का न मिलना अमानवीय लगता था। इन सभी बातों का विरोध 'झरना' में दिखाई पड़ता है। उसमें पहली बार पुरानी भावधारा के स्थान पर आत्माभिव्यंजक कविताओं का संकलन हुआ, पहली बार प्रकृति के प्रांगण में उतर कर कवि ने आदर्श-प्रेम-लोक का साक्षात्कार किया। प्रकृति पर मानवीयता का आरोप नवीन शैली में पहली बार हुआ और पहली ही बार छायावाद का स्वर इस काव्य में सुनाई पड़ा। अज्ञात लोक की चर्चा करते-करते कभी-कभी रहस्यात्मकता में भी कवि उलझ गया है। 'आँसू' में पहुँच कर यह रहस्यात्मकता और भी बढ़ गई है। कहना न होगा कि यह रहस्यात्मकता जब सीमा का उल्लंघन करने लगी और कवि का एक मात्र वर्ण्य-विषय बन गई तब उसका सामाजिक महत्त्व क्षीण होने लगा। उसके काव्य में लाक्षणिक प्रतीक-विधान के द्वारा कला का निखार तो अवश्य आया परन्तु भावधारा रहस्य लोक में पहुँच कर अपना बल खोने लगी। प्रसाद का 'आँसू' नामक संग्रह इस बात की पुष्टि करेगा। विकास की दिशा में वह 'झरना' से एक कदम आगे है। हिन्दी की नई कविता को उसने प्रभावित भी बहुत किया है। परन्तु रहस्य की ओर अधिक प्रवृत्त होने के कारण उसमें भावों और विचारों की उलझन पैदा हो गई है।

इस बीच में प्रसाद के तीन महत्त्वपूर्ण नाटक प्रकाशित हुए— 'राज्यश्री', 'विशाख' और 'अजातशत्रु'। 'राज्यश्री' और 'अजातशत्रु' प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटनाओं को ले कर लिखे गये हैं। 'विशाख' की

कथा का आधार कल्हण की 'राजतरंगिणी' है। तीनों नाटकों में प्रसाद की राष्ट्रीय भावना मुक्त भाव से विचरण करती दिखाई पड़ती है। यहीं प्राचीन इतिहास के प्रति उनकी जिज्ञासा और शोध की प्रवृत्ति भी दिखाई पड़ी। 'अजातशत्रु' और 'राज्यश्री' में ऐतिहासिक शोध से भरपूर भूमिकाएँ भी जोड़ दी गई थीं। अपने अतीत गौरव को आग्रह के साथ खोज निकालने का भाव इन निबन्धों में भी पाया जाता है। कहना न होगा कि ये तीनों नाटक उसी प्रवृत्ति के विकास के फलस्वरूप रचे गये जो 'सज्जन' की रचना के मूल में वर्तमान थी। विचार की दृष्टि से प्रसाद के ये नाटक भारतीय समाज की एक ऐसी आवश्यकता की पूर्ति करते हैं जो ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण थी। इसमें संदेह नहीं कि यदि हिन्दी के रंगमंच का भी विकास हो गया होता और प्रसाद के नाटकों में अभिनेयता की अवतारणा हो सकी होती तो हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन का सांस्कृतिक पक्ष बड़ा सबल बन जाता। परन्तु अपनी व्यक्तिगत दार्शनिक प्रवृत्ति के कारण नाटककार प्रसाद अपने ऐतिहासिक पात्रों और घटनाओं को जनसाधारण तक पहुँचाने में असफल रहे। हिन्दी में नाट्यकला का पहला निखरा हुआ रूप 'अजातशत्रु' में दिखलाई पड़ता है। इस दृष्टि से यह नाटक विशेष महत्त्व रखता है। यह पहले पहल १९२२ में प्रकाशित हुआ था। कहना न होगा कि हिन्दी की नाट्य-कला उस समय तक शैशवावस्था में ही थी। यदि अभिनय सम्बन्धी त्रुटियों को थोड़ी देर के लिए अलग रख दें तो हम यह देखेंगे कि इस नाटक में ऐतिहासिक वातावरण के संरक्षण के साथ घटनाओं और पात्रों का बड़ा मनोरम और घात-प्रतिघात-मय विकास हुआ है। मानसिक अन्तर्द्वन्द्व के सहारे चरित्रों और घटनाओं का अंकन हिन्दी नाटक साहित्य में पहली बार दिखाई पड़ा। हमारे नाटक साहित्य को प्रसाद की यही सबसे बड़ी देन है।

प्रसाद का पहला कहानी संग्रह 'छाया' नाम से इसी काल में प्रकाशित हुआ था। 'प्रतिध्वनि' नामक कहानी संग्रह की अनेक कहानियाँ

इसी काल मे लिखी गई थीं। जैसा पहले कह चुके हैं प्रसाद की कहानियों में भावुकता उत्तरोत्तर बढ़ती चली गई और दार्शनिकता के मेल से उनमें रहस्यात्मकता का भी समावेश हो गया। उनकी काव्य-चेतना की ही भाँति उनकी अधिकांश कहानियाँ छायावादी शैली की कुज्झटिका में उलझ गई हैं, और उनमे जीवन-वास्तव प्रतिबिम्बित नहीं हो सका।

इसके उपरांत प्रसाद के विकास का तीसरा चरण प्रारम्भ होता है और उनकी उत्कृष्टतर रचनाएँ हमारे सम्मुख आती हैं।

देश का राजनैतिक और सामाजिक चरण विकास-पथ में काफी आगे बढ़ चुका था। सविनय अवज्ञा आन्दोलन अपनी शक्ति का प्रदर्शन कर चुका था। कांग्रेसी नेताओ की एक-एक पुकार पर जन समूह सागर की भाँति उमड पड़ता था। कांग्रेस का मध्यवर्गीय नेतृत्व सब समय उमड़ती हुई जन-धारा को सँभाल नहीं पाता था, उसे नियन्त्रित नही कर पाता था। फलतः आन्दोलन को अपने चरम उत्कर्ष की स्थिति मे ही रोक देना पडता था। ब्रिटिश शासन का अत्याचार बढ़ता जा रहा था। जनता भी क्षुब्ध थी और कहीं-कहीं उग्र बन गई थी। मेरठ षड्यंत्र-कारियो पर मुकदमा इसी समय चलाया गया जिसकी निन्दा देश-विदेश के सहृदयों ने की। रोम्याँ रोलाँ ने तो तथाकथित षड्यंत्रकारियो के नाम खुली चिट्ठी लिख कर अपनी विश्व-व्यापक मानवीय सहानुभूति का परिचय दिया।

ऐसे क्षुब्ध राजनैतिक वातावरण में प्रसाद के 'आँसू' की रचना हुई और 'लहर' के अधिकांश गीत भी इसी काल मे लिखे गये। ऊपर 'आँसू' के सम्बन्ध मे प्रसंगतः कुछ कह दिया गया है। वस्तुतः वह एक काल की रचना नहीं है। लेखक ने उसे कविता लिखने की तरंग आने पर एक बार ही नही लिखा। श्री विनोदशंकर व्यास ने लिखा है कि 'आँसू' के छन्द भिन्न-भिन्न अवसरो पर विभिन्न भावनाओं के उद्वेलन पर लिखे गये। इक्के पर यात्रा करते भी कुछ छद लिखे गये। छोटी-सी पुस्तक लगभग दो वर्षों मे तैयार हो पाई थी। उसके अनेक संस्करण

बहुत परिवर्तित और परिवर्धित हो कर निकले थे। 'झरना' की ही भाँति इसमें अनेक नये छंद जोड़ दिये गये थे। 'लहर' अपेक्षाकृत अधिक गम्भीर और सुस्थिर रचना है। 'आँसू' में आध्यात्मिक विरह का चित्रण हुआ है। उसमें मिलन के स्थूल शृंगारिक चित्र स्मृतियों के रूप में उपस्थित हुए हैं। अज्ञात प्रियतम के सौन्दर्य का मादक रूप विकास की अनेक भंगिमाओं के साथ चित्रित है। भाषा में लाक्षणिकता और प्रतीकात्मकता के साथ ध्वन्यात्मकता का भी समावेश हो गया है। 'लहर' के गीतों में चित्रमयी शैली का विकास भी दिखाई पड़ता है। 'बीती विभावरी जाग री'' से आरम्भ होने वाले प्रभात के चित्र में ऐसी भाषा का उत्कृष्ट उदाहरण मिलता है। प्रसाद के इस युग की काव्य की सामान्य विशेषताएँ यही थीं। इन्हें जब हम उपर्युक्त राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियों के समानान्तर रखते हैं तो सहसा कोई सामंजस्य न पा कर आश्चर्य-चकित रह जाते हैं। 'आँसू' तो इन घटनाओं से एकदम निर्लिप्त जान पड़ता है। परन्तु अगर हम ध्यान से देखें तो हमें ज्ञात होगा कि कवि यहाँ भी नई काव्यधारा को प्रौढ़तर रूप देने में लगा है जो विद्रोह सामन्ती नैतिकता के विपरीत प्रारम्भ हुआ था उसकी समाप्ति अभी नहीं हो पाई थी। प्रसाद ने 'आँसू' और 'लहर' में परोक्ष रूप से उसी विद्रोह को ध्वनित किया है और रचनात्मक रूप देने के लिए कई रमणीय प्राकृतिक व्यापारों का सुन्दर अंकन किया है। लेकिन 'लहर' का महत्त्व एक और बात में है। उसमें प्रसाद की राष्ट्रीय भावना इतिहास के माध्यम से अभिव्यक्त हुई है। हमारे राष्ट्रीय जागरण को अधिक सक्रिय बनाने वाले भावों का जो विकास उनके नाटकों में दिखाई पड़ता है वही 'लहर' की कुछ कविताओं में अत्यन्त ओजपूर्ण ढंग से प्रकट हुआ है। 'शेरसिंह का शस्त्र-समर्पण' मुक्त-वृत्त में लिखी हुई ऐसी ही रचना है। अपनी तलवार को संबोधित कर शेरसिंह कहता है—

"ए री रण-रंगिनी।
सिक्खों के शौर्य भरे जीवन की संगिनी।

कपिशा हुई थी लाल तेरा पानी पान कर।"

× × ×

फिर विदेशियों को सम्बोधित कर कहता है—

"आज विजयी हो तुम
और हैं पराजित हम
तुम तो कहोगे, इतिहास भी कहेगा यही,
किन्तु वह विजय प्रशंसा भरी मन की—
एक छलना है।
कहेगी शतद्रु शत संगरो की साक्षिणी
सिक्ख थे सजीव
स्वत्व-रक्षा में प्रबुद्ध थे।"

लेकिन 'लहर' मे ऐसी रचनाएँ केवल तीन हैं। शेष रचनाओं में रहस्य की ओर ही विशेष प्रवृति दिखाई पड़ती है। यहाँ यह स्वीकार करना पड़ेगा कि कवि तीसरे चरण में आ कर नई काव्यधारा की बँधी हुई परम्परा पर चलने लगा। सामन्ती नैतिकता के प्रति विद्रोह ही एक ऐसी सीमा तक पहुँच गया था कि उसमें रहस्यात्मकता का प्रवेश स्वतः होने लगा। वास्तविक बात यह थी कि मध्यवर्गीय नेतृत्व से अलग जन-सत्ता का नया विकास होने लगा था। उसमें समाज की नई पुकार थी। उसमें जन-स्वातन्त्र्य की माँग थी। मध्य वर्ग ने जो सुविधाएँ सामन्ती समाज से माँगी थीं और जिस नई नैतिकता की प्रतिष्ठा समाज ने चाही थी, वही सुविधाएँ जनता का पूरा समूह चाहने लगा। अपने आन्दोलन में मध्यवर्ग ने जनता को साथ लिया था परन्तु जब सामूहिक रूप से जन-समुदाय ने अपने स्वत्वो की ओर हाथ बढ़ाया तो काफी हलचल मची। सामंती व्यवस्था के प्रति विद्रोह करने वाले और नवीन व्यवस्था की प्रतिष्ठा चाहने वाले कवि अब ज़्यादा क्रान्तिकारी न रहे। वे अधिक से अधिक रहस्यात्मक और दुरूह होने लगे। प्रसाद में यह प्रवृत्ति सब से अधिक दिखाई पड़ी। पंत और निराला ने अपने को इस मोह से अत्यन्त

दोनों में सामाजिक जीवन से ही ली गई थी परन्तु 'कंकाल' में दार्शनिकता का बोझ अधिक है। उपन्यास की कला का उसमें उतना विकास नहीं दीख पडता जितना 'तितली' में। 'तितली' धारावाहिक रूप से 'जागरण' नामक पत्र में छपी थी। उसमें सामाजिक जीवन का सर्वांगपूर्ण चित्र है। दार्शनिकता और रहस्यात्मकता की प्रवृत्ति भी बहुत-कुछ कम हो गई है। यहाँ प्रसाद ने समाज को खुली आँखों देखा है। इसमे संदेह नहीं कि यदि प्रसाद इस क्षेत्र में आगे बढ़ते तो हमें उच्चकोटि के उपन्यास प्राप्त होते। परन्तु जैसा आचार्य शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' मे स्वीकार किया है, प्रसाद उन्हीं की प्रेरणा से ऐतिहासिक उपन्यास लिखने की ओर मुड़े और फलस्वरूप आगे चल कर 'इरावती' नामक उपन्यास की रचना उन्होंने प्रारम्भ की, लेकिन दुर्भाग्यवश उसे पूरा कर सकने के पूर्व ही उनकी मृत्यु हो गई। ऐतिहासिक उपन्यास का अपना अलग महत्त्व है। उसकी उपयोगिता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, लेकिन आधुनिक समाज की विषमता का चित्रण करने के लिए उपन्यास साहित्य की सब से जबर्दस्त शैली है। 'तितली' के द्वारा प्रसाद ने इधर बढ़ने की प्रवृत्ति दिखाई थी परन्तु वह फिर मुड गई।

इस बीच प्रसाद का प्रसिद्ध कहानी संग्रह 'आकाश दीप' प्रकाशित हुआ। 'आँधी' संग्रह मे आने वाली कहानियाँ भी इस काल में लिखी गई थीं। 'आँधी' में यथार्थ जीवन से सम्बन्ध रखने वाली मार्मिक कहानियाँ हैं। इस संग्रह की 'मधुआ' नामक कहानी को देख कर तो स्वयं प्रेमचन्द जी ने लिखा था कि यह सर्वोत्कृष्ट कहानी है। उन्हे यह विश्वास नहीं हो सका था कि प्रसाद वैसी कहानी लिख सकते थे। इसी तरह से 'घीसू', 'नीरा' और 'बेड़ी' नामक कहानियाँ भी जीवन-वास्तव का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करती हैं। प्रसाद के कहानी-साहित्य में इन कहानियों का विशेष महत्त्व है। 'आकाश दीप' संग्रह की अधिकांश कहानियाँ भावुकता और कल्पना-प्रधान हैं। उनमे पिछली कहानियो की भावधारा का ही अधिक प्रौढ़ रूप प्रकट हुआ है।

अपने साहित्यिक विकास के चौथे चरण में पहुँच कर प्रसाद काव्य की विशाल पटभूमिका चुनने में लगे। इन्होंने मानव-जीवन की गतिशीलता को व्यापक पृष्ठभूमि पर अंकित करने की चेष्टा की और फलस्वरूप 'कामायनी' नामक प्रबन्ध-काव्य का प्रणयन हुआ। 'कामायनी' उनकी अन्तिम काव्य-रचना है। इसे पूर्ण करने के उपरान्त कवि को बड़ी आत्मतुष्टि प्राप्त हुई थी। इस काव्य में कवि ने सांकेतिक आख्यान के द्वारा विशाल मनोवैज्ञानिक रूपक आरोपित किया है। कहानी 'शतपथ' ब्राह्मण से ली गई है। जल-प्लावन की प्रसिद्ध पौराणिक घटना से काव्य का प्रारम्भ हुआ है। कवि की दृष्टि में यह प्रलय सनातन है। जीव के मानसिक संसार में इसकी स्थिति सदा बनी रहती है। मनु, श्रद्धा और इड़ा क्रमशः मन, विश्वास और व्यवसायात्मिका बुद्धि के प्रतीकों के रूप में लाये गये हैं। कवि ने व्यावसायिक बुद्धि से उत्पन्न विषाद का बड़ा भयंकर रूप इस ग्रन्थ में चित्रित किया है और श्रद्धा या विश्वास की भावना का आश्रय ले कर अपने चिरन्तन आनन्दवाद की प्रतिष्ठा कराई है। ऐसा करने के लिए उन्होंने साधारण स्वाभाविक जीवन का विकास यज्ञादि काम्य कर्मों के अन्दर ही दिखाया है; सामाजिक कर्मों की व्यापकता निर्णीत कर के बुद्धिवाद की पराजय दिखाना अधिक उपयुक्त होता। लेकिन लेखक का ध्यान इस लोकपक्ष पर नहीं है। भौतिक जीवन का विकास और प्रकृति पर मनुष्य की विजय प्रसाद को शुभकर नहीं लगते। उन्हें यंत्रों की सभ्यता में महाविनाश की सूचना मिलती है। सम्पूर्ण मानवी सृष्टि क्रियाकार दुर्वह यंत्रभार से विदलित दीख पड़ती है। कवि चाहता है कि विश्वास की भावना के सहारे इच्छा, क्रिया और ज्ञान का समन्वय कर आधिभौतिकतावाद पर विजय प्राप्त की जाय और लोक में स्वर्ग की अवतारणा हो।

इस पुस्तक में प्रसाद की निखरी हुई कला के दर्शन होते हैं। लक्षणाओं और प्रतीकों का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में हुआ है। मूर्तिमत्ता

और ध्वनि की भी योजना है। रहस्य की ओर संकेत करने की प्रवृत्ति सर्वत्र परिलक्षित होती है। पूरी कथा में रूपक का आरोप होने से स्वाभाविक प्रबन्ध-सौष्ठव कुछ कुण्ठित हो गया है। दूसरी ओर रूपक का भी कई स्थलों पर आभास मात्र मिलता है। उसकी पूर्ण व्याप्ति पकड़ में नहीं आती।

इस काव्य में प्रसाद का जीवन-दर्शन सब से अधिक स्पष्ट है। उन्होंने चौथे चरण में पहुँच कर जीवन को जैसा समझा वैसा ही 'कामायनी' में चित्रित किया है। उन्होंने समाज के भविष्य के सम्बन्ध में एक कल्पना की है जो शैव दर्शन के आनन्दवाद पर आधारित है। वे बुद्धि का केवल कुरूप या जुगुप्सामूलक पक्ष ही देखते हैं। सृष्टि के स्वाभाविक विकास-क्रम के सम्बन्ध में उनकी धारणाएँ भ्रान्तिमूलक हैं; सामयिक समस्या का कोई व्यावहारिक समाधान न प्रस्तुत करके वे किसी दैवी शक्ति की अति मानवीय सहायता में विश्वास कर लेते हैं। 'कामायनी' का अर्द्धभाग जिसमें आधुनिक युग तक का इतिहास वर्णित है अनेक दृष्टियों से विशेष महत्त्वपूर्ण है। उसमें मनोविज्ञान सम्बन्धी विकास भी सुन्दर बन पड़ा है। इतिहास पर विशेष अधिकार होने के कारण प्रसाद ने आदिम वन्य जीवन से ले कर आधुनिक विकसित सभ्य समाज तक का इतिहास संक्षेप में सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है। परन्तु जहाँ से वे बौद्धिकता की पराजय दिखाना प्रारम्भ करते हैं वहाँ से कथा में अस्वाभाविकता का समावेश होने लगता है। पुस्तक का ऐतिहासिक महत्त्व भी वहीं से घटने लगता है।

आचार्य शुक्ल ने कहा था कि जैसा इडा के लिए कहा गया है—'सिर चढ़ी रही, पाया न हृदय'—उसी प्रकार श्रद्धा के लिए भी कहा जा सकता था—'रस-पगी रही, पाई न बुद्धि'। शुक्ल जी दोनों का उचित महत्त्व स्वीकार करना चाहते थे। लेकिन प्रसाद को बुद्धि का अतिचार ही दिखाई पड़ा। कामायनी में इस बात को बड़ी दृढ़ता के साथ प्रतिपादित किया गया कि संसार में भौतिकतावाद का प्रचार और

होगा, यह प्रसाद ने नहीं माना। वह इस सम्पूर्ण पचड़े को छोड़ कर भाग जाने का संदेश देते हैं। प्रसाद की अपनी वैयक्तिक सीमाएँ और दुर्बलताएँ यहीं स्पष्ट होती हैं।

कहानियों का 'इन्द्रजाल' नामक संग्रह इसी काल मे प्रकाशित हुआ। इस संग्रह मे भी उन्हीं प्रवृत्तियो का पुष्ट रूप दिखाई पड़ता है जो तीसरे चरण की कहानियों मे प्रकट हुई थी। कुछ कहानियो मे जीवन के यथार्थ का चित्रण हुआ है परन्तु भावुकता और रहस्य की ओर अधिक झुकाव होने के कारण कहानियाँ कल्पनालोक की वस्तु बन गई हैं।

'ध्रुवस्वामिनी' नाम की एक नाटिका प्रसाद ने इसी चरण में प्रकाशित की। इसकी कथा इतिहास से सम्बद्ध है। इसके शैली-शिल्प में विशेष सौन्दर्य दिखाई पड़ता है। रंगमंचीय सुविधाओं का ध्यान प्रसाद ने इसी रचना मे अधिक रखा है; भाषा भी अपेक्षाकृत सरल और व्यावहारिक बन गई है। घटना से भी अधिक महत्त्व इसमे प्रतिपादित होने वाली समस्या को मिला है। समस्या पुनर्लग्न की है और प्रसाद ने उसका दृढ़ता से समर्थन किया है।

प्रसाद के अधिकांश महत्त्वपूर्ण निबन्ध इसी चरण में प्रकाशित हुए। इन निबन्धों का हिन्दी-साहित्य में अलग महत्त्व है। खोज की प्रवृत्ति सब में विद्यमान है। अनेक निबन्धो में प्रसाद ने सूक्ष्म विश्लेषण की क्षमता का परिचय दिया है। 'काव्य', 'कला' और 'छायावाद' आदि ऐसे निबन्ध हैं जो प्रसाद के साहित्य को समझने की भूमिका प्रदान करते हैं।

ऊपर प्रसाद के साहित्यिक विकास को संक्षेप मे देखने की चेष्टा की गई है। उनकी अनेक प्रवृत्तियो की ओर संकेत भी किया गया है। यहाँ एक बात और कहनी आवश्यक है कि प्रसाद के साहित्य में परोक्ष या अपरोक्ष रूप से हमारा युग बोलता है। उसमें हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन तथा सामन्ती रूढ़ियों और परम्पराओं का तिरस्कार स्पष्ट

परिलक्षित होता है। किसान और मजदूर जीवन की झाँकी भी उसमें प्राप्त होती है। लेकिन अपने कुछ व्यक्तिगत पूर्वाग्रहों के कारण सब जगह प्रसाद उचित समाधान नहीं प्रस्तुत कर सके; कल्पना प्रधान दार्शनिकता और रहस्य की ओर झुकने के कारण कहीं कहीं उनका मंतव्य अस्पष्ट तथा भ्रामक भी हो गया है। परन्तु इसे हम उनकी और उनके युग की सीमा ही मानेंगे।

भाषा-शैली

(डॉ० नामवर सिंह)

हिन्दी-उपन्यासों पर लिखते हुए श्री नलिनविलोचन शर्मा ने प्रसाद की भाषा को 'फीलपाँवी' कहा है। 'फीलपाँवी' शब्द भाषा की अनावश्यक स्फीति और मंथर गति को सूचित करता है। मामूली-सी बात के लिए बड़े-बड़े शब्दों का प्रयोग तथा एक वस्तु के लिए अनेक शब्दों का फिजूल खर्च 'फीलपाँवी भाषा' का लक्षण कहा जा सकता है। नलिन ने यह बात प्रसाद के केवल उपन्यासों की भाषा के लिए कही है, क्योंकि प्रसंग भी उपन्यासों का ही था। लेकिन जिन लक्षणों के आधार पर उन्होंने उपन्यासों की भाषा को 'फीलपाँवी' कहा है, उनका चरम रूप प्रसाद की कहानियों, नाटकों और कविताओं में मिलता है। यही नहीं यदि थोड़ी देर के लिए प्रसाद से दृष्टि हटा कर निराला, पंत, महादेवी आदि की भाषा को भी देखें तो भाषा की वह स्फीति कमो-बेश सभी छायावादी कवियों के गद्य-पद्य में मिलेगी। आज का लेखक जहाँ 'साँझ हो गई' कह कर सन्तोष कर लेगा, वहाँ प्रसाद की लेखनी एक जादुई दुनिया खड़ी कर देगी।

"नील पिंगल संध्या, प्रकृति की सहृदय कल्पना, विश्राम की शीतल छाया, स्वप्न-लोक का सृजन करने लगी। उस मोहिनी के रहस्यपूर्ण नील जाल का कुहक स्फुट हो उठा। जैसे मदिरा से सारा अंतरिक्ष सिक्त हो गया। सृष्टि नील-कमलों से भर उठी।"

—आकाशदीप

आज के यथार्थवादी लेखक के लिए यह सम्पूर्ण चित्रकारी उपहासास्पद प्रतीत हो सकती है। वह ऐसी शब्द-योजना करना पसंद न करेगा। लेकिन मेरा कहना यह है कि यदि वह कोशिश भी करे तो

ऐसी मुग्ध चित्रकारी और मोहक शब्द-योजना वह नहीं दिखा सकता। यदि वह किसी तरह नक्ल करके कुछ कर भी डाले तो प्रसाद की भाषा से उसकी भाषा अधिक उपहासास्पद होगी। उसमें वह जादू, वह तन्मयता, वह सजीवता न आ पायेगी। यही नहीं, प्रसाद से पहले के लेखक और कवि भी यह भाषा न लिख सकते थे और न लिख सके। भारतेन्दु ही नहीं आचार्य द्विवेदी भी ऐसी भाषा न लिख पाये। इससे यह मालूम होता है कि प्रसाद की जिस भाषा को नलिन ने 'फीलपाँवी' कहा है वह एक ऐतिहासिक आवश्यकता का परिणाम है। उस ऐतिहासिकता को नजर-अंदाज करने के कारण ही विद्वान् आलोचक के 'दृष्टिकोण' में चूक हो उनके 'रिमार्क' से प्रसाद के युग की रुचि नहीं, आज की रुचि प्रकट होती है। इसलिए जिस 'स्फीति' को उन्होंने बीमारी समझ लिया है, वस्तुतः वह 'अवयव की मांस-पेशियाँ' हैं जिनमें 'ऊर्जस्वित था वीर्य अपार', और उनमें ऐसी 'स्फीत शिरायें जिनमें स्वस्थ रक्त का संचार होता था।'

यह ऐतिहासिक आवश्यकता थी छायावाद की स्वच्छंद कल्पना।

तथ्यवादी द्विवेदी-युग की गद्य-पद्य शैली के प्रायः दो प्रकार के नमूने मिलते हैं।

एक ओर है—

"अहा! ग्राम्य जीवन भी क्या है?
क्यों न इसे सबका मन चाहे?
थोड़े में निर्वाह यहाँ है
ऐसी सुविधा और कहाँ है?"

दूसरी ओर—

सुरम्यरूपे रसराशि रंजिते
विचित्रवर्णाभरणे कहाँ गई
अलौकिकानंद-विधायिनी महा
कवीन्द्रकान्ते कविते अहो कहाँ!"

ये दोनों नमूने पद्य के हैं, फिर भी इन्हें तत्कालीन गद्य की भाषा का प्रतिनिधि कहा जा सकता है, क्योंकि छन्द-बंधन के होते हुए भी मूलतः ये गद्य ही हैं। दूसरे की पदावली पहले की अपेक्षा संस्कृत-बहुल और समास गर्भित है। फिर भी वाक्य-घटना और भाव-चेतना की दृष्टि से दोनो ही तथ्यवादी हैं। उदात्त नाद वाले शब्द के बावजूद दूसरा नमूना भी केवल तथ्य-कथन ही करता है; उससे किसी अमर कल्पना-लोक का आभास नहीं मिलता। इसलिए शब्द-चयन की दृष्टि से स्फीत होते हुए भी यह छन्द भाव-चेतना की दृष्टि से कंकाल मात्र है।

कारण साफ है। सांस्कृतिक पुनर्जागरण के कारण हिन्दी आदि सभी आधुनिक भारतीय भाषाओं में संस्कृत के तत्सम शब्दों की बाढ़ तो आ गई लेकिन उस पुनर्जागरण के प्रथम चरण ने नये व्यक्ति के मन को उतना भाव-प्रवण और कल्पना-कलित नहीं बनाया था कि वे शब्द नई चेतना से संपृक्त और नई अर्थवत्ता से सजीव हो उठें। इसीलिए सांस्कृतिक पुनर्जागरण के प्रथम चरण के सभी लेखकों और कवियों की भाषा में संस्कृत की तत्सम पदावली के बावजूद केवल निर्जीव तथ्य-कथन मिलता है। हिन्दी में 'प्रिय-प्रवास' के पद्य तथा चंडी प्रसाद 'हृदयेश' की कहानियाँ इस तरह के प्रतिनिधि नमूने हैं। बँगला में बंकिमचन्द्र का संस्कृत-शाद्वल गद्य भी इसी तरह का है। तत्कालीन मराठी तो ऐसे गद्य का खजाना है।

सांस्कृतिक पुनर्जागरण का दूसरा चरण राष्ट्रीय आन्दोलन की नई लहर ले कर आया। समूचे भारतीय समाज में अपूर्व आशा और आकांक्षा का संचार हुआ। कल्पना-जीवी युवकों का अभ्युदय हुआ। व्यक्तित्व में विराटता आई। व्यक्ति-मन रूढ़ियों से मुक्त हो कर ऊँची उड़ान भरने लगा। समाजशास्त्रीय भाषा में यह व्यक्तिवाद का उदय था। इस नये व्यक्ति की अभिव्यक्ति भी नई हो उठी। वह कुछ ऐसी भाषा बोलने लगा जो व्याकरण की दृष्टि से न पहले की ही तरह थी, फिर भी पुराने वैयाकरणों और साहित्याचार्यों की पकड़ से बाहर हो गई।

या अस्पष्टता उन्हें छाया प्रतीत हुई, कभी-कभी उनके लिए यह रहस्य भी बन जाती है।

लेकिन कवि के लिए—

"भावना रंग गई, भाषा भी रँग उठी।
वह माया-छिपती : छवि सुन्दर
कुछ खुलती आभा में रँग कर
यह भाव-कुटल-कुहरे सा भर कर आया।"

जो जगत जीर्ण अरण्य था, अब कुसुमित उपवन-सा दिखाई पड़ने लगा। तथ्य सत्य हो उठा। टठरियों पर मांस चढ़ आया। वस्तु-जगत को आत्मीयता ने रँग दिया। वस्तु के बाहरी आकार को पार कर के उसके भीतर निहित चेतना से तादात्म्य स्थापित किया गया। यह वस्तुवाद के विपरीत भाववाद की स्थापना थी।

वस्तु जैसी है वैसी ही दिखने की जगह मन में उसकी जैसी मूरत है वैसी दिखाई पड़ने लगी। हर चीज भावनाओं और कल्पनाओं के प्रभामण्डल से युक्त जान पड़ी। दृष्टि जाने से पहले ही कवि का मन हर चीज के चारों ओर ज्योतिर्वलय-सा छा जाने लगा।

"केशर-रज-कण अब हैं हीरे पर्वत-चय
यह वही प्रकृति पर रूप अन्य
जगमग-जगमग सब देश वन्य
सुरभित दिशि-दिशि, कवि हुआ स्वयं मायामय।"

जब वस्तुओं का रूप बदला तो नाम भी बदल गया। बुझे शब्दों में नई ज्योति आ गई। जहाँ वह केवल 'अर्थ ग्रहण' कराते थे, अब 'बिम्ब ग्रहण' कराने लगे। भाषा की सूखी नदी उमड़ आई। कवि मुट्ठियाँ खोल कर शब्दों को लुटाने लगा। न भावों में कृपणता, न शब्दों में। सर्वत्र मुक्त-हस्त दान। अब किसी भाव या वस्तु को ठीक-ठीक नपे-तुले शब्दों में कसने की आकांक्षा नहीं रही। अब तो किसी भाव या वस्तु से सम्बद्ध मनोरम अनुषंगों और प्रसंगों के चित्रों की लड़ी ही रचने

लगी। विशेषणों की बाढ़ आ गई। मुद्रा-स्फीति की तरह भाषा-स्फीति के लक्षण दिखाई देने लगे। बाज़ार शब्दों के नोटों से पट गया।

यह दशा हिन्दी की ही नहीं हुई। बँगला, गुजराती, मराठी आदि अन्य भारतीय भाषाओं में भी यही लहर आई। यहाँ तक कि बोल-चाल की मुहावरेदानी का नाज़ करने वाली उर्दू भी इससे न बच सकी। यदि रवीन्द्रनाथ, नानालाल और बालकवि की भाषा में स्फीति आई तो इक़बाल में भी उसका उभार दिखाई पड़ा। यह जरूर है कि यह असर हर साहित्य की अपनी परम्परा तथा स्वच्छन्दवादी आन्दोलन की प्रवृत्ति के अनुसार कमो-बेश रहा है। बँगला में यह असर सबसे ज्यादा रहा और उर्दू मे सबसे कम। फिर भी जो लोग हिन्दी-कविता की भाषा के मुकाबले उर्दू के चलतेपन की तारीफ़ करते नहीं थकते, उन्हे मीर, ग़ालिब, दाग़ जैसे पुराने शायरों से थोड़ी देर के लिए फ़ुरसत ले कर इक़बाल और जोश की प्रकृति, दर्शन और रोमैटिक प्रेम की कविताओं की ओर भी मुलाहिज़ा फ़रमाना चाहिए। इकबाल की कविता से कुछ लाइनें नमूने के लिए दी जा रही हैं—

"वस्तये-रंगे-ख़सूसियत न हो मेरी जबाँ
नौए-इन्साँ कौम हो मेरी, वतन मेरा जहाँ
दीदए-बातिन प राज़े-नज्मे-कुदरत हो अयाँ
हो शनासाये-फ़लक शमए-तख़य्युल का धुआँ
उकदए-अजदाद की काविश न तड़पाये मुझे
हुस्ने-इश्क़-अंगेज़ हर शै में नजर आये मुझे।"

कविता बेशक बहुत ऊँची है, लेकिन कहाँ है इसमें पुराने शायरों की मुहावरेदानी। इसमें शायद ही कोई शब्द हो जिसे पहले के शायरों ने इस्तेमाल न किया हो लेकिन उन्हीं को मिला कर 'वस्तये-रंगे-ख़सूसियत', 'दीदए-बातिन', 'रोजे-नज्मे-कुदरत', 'शनासाये फ़लक', 'शमये-तख़य्युल का धुआँ', 'उकदए-अजदाद' वगैरह इक़बाल ही इस्तेमाल कर सकते थे—एक रोमैटिक शायर ही कर सकता है।

'रोमैंटिक' इसे 'रूमानी' अर्थ में नहीं, बल्कि 'स्वच्छन्द कल्पना' के समूचे वैभव और व्यापक जीवन-दर्शन के अर्थ में।

प्रसाद की भाषा भी इस स्वच्छन्दतावादी लहर का एक अंग है। इसलिए एक हद तक वह हिन्दी ही नहीं बल्कि समूचे भारतीय साहित्य के स्वच्छन्दतावादी दौर से जुड़ी हुई है। इसीलिए प्रसाद के पद-चयन में एक ओर बहुत दूर तक निराला, पंत और महादेवी के पद-चयन से साम्य है, तो दूसरी ओर प्रत्यक्ष रूप में रवीन्द्रनाथ के पद-चयन की झलक है और परोक्ष रूप से गुजराती और मराठी के स्वच्छन्दतावादी कवियों के साथ-साधर्म्य है। इसी बात को आचार्य शुक्ल ने अपने ढंग से कहा है कि 'संस्कृत की कोमल, कांत पदावली का जैसा सुन्दर चयन बंग भाषा के काव्यों में हुआ है वैसा अन्य देशी भाषाओं के साहित्य में नहीं दिखाई पड़ता। उनके परिशीलन से पद-लालित्य की जो गूँज प्रसाद के मन में समाई वह बराबर बनी रही।'

किंतु यह साम्य एक हद तक ही है। प्रसाद की भाषा-शैली की अपनी विशेषताएँ हैं जो उसे निराला, पंत और महादेवी की भाषा से अलग करती हैं। भाव-वैशिष्ट्य से भाषा-वैशिष्ट्य स्वाभाविक है। प्रसाद के पद-चयन के पीछे विशेष मनोवृत्ति झलकती है। यदि हिन्दी के इन चार प्रमुख कवियों की पदावली में मोटे तौर से एक बात को ले कर भेदक-रेखा खींची जाय तो पंत में 'वायवी' निराला में 'विराट' महादेवी में 'चटकीली' और प्रसाद में 'मधुर' पदावली का बाहुल्य मिलेगा। ये चारों विशेषतायें एक हद तक थोड़ी-बहुत सभी में हैं। जैसे, प्रसाद में 'वायवीपन' और 'विराटता' काफी है; पंत-महादेवी में भी कहीं-कहीं 'विराटता' की झलक मिल जाती है; निराला में भी 'माधुर्य' और 'वायवीपन' कम नहीं है।

✓'मधु' या 'मधुर' प्रसाद का तकियाकलाम-सा है। आचार्य शुक्ल ने भी इसे लक्षित किया है। उन्होंने प्रसाद की प्रतिभा को 'मधुमयी' यों ही नहीं साकांक्ष भाव से कहा है और आगे चल कर उनकी सारी रहस्य-

भावना को 'मधुचर्या' तक कह डाला है। जो हो प्रसाद भी बहुत-कुछ उस 'मधुमती-भूमिका' वाले मंडल के अंग थे जिसने कुछ दिनों तक 'रस-सिद्धान्त' को नई दिशा में मोड़ने का प्रयत्न किया। प्रसाद ने 'मधु' को अपने अर्थ में व्यापकता के साथ स्वीकार किया था। उनके सभी कल्पना-लोकों और आदर्श चित्रों के मूल में 'मधु' की मिठास है। प्रकृति का मनोरम रूप तो 'माधव' या मधुमास में ही उन्हें दिखाई पड़ता है, उनकी 'चाँदनी' पंत की तरह 'लघु परिमल के घन' या 'स्वप्निल शयन मुकुल'-सी 'अनुभूतिमान' नहीं बल्कि मधु से पूर्ण है। जब पहले-पहले प्रिय को उन्होंने देखा तो 'मधुराका मुस्क्याती थी'। 'कामायनी' में तो पुटके-पुटके मधु' की छटा है। उनके राष्ट्र की कल्पना भी 'मधुमय देश' की है।

✓यह आकस्मिक नहीं है और न एक शब्द को पकड़ कर रामायणी कथावाचकों का-सा चमत्कार-प्रदर्शन है। 'मधु' प्रसाद के आनन्दवादी जीवनदर्शन का अविच्छिन्न कल्पना करना अंग है। जीवन की कटुता और छलना से बिंधे हुए भावुक हृदय के लिए 'मधु' ही स्वाभाविक है। प्रतारणा और छलना का जैसा यथार्थ चित्र और उससे उत्पन्न होने वाली जैसी व्यथा प्रसाद के साहित्य में मिलती है, वैसी किसी छायावादी कवि में नहीं। निराला में खुले संघर्षों और रूढ़ियों के प्रहारों का दर्द है, प्रसाद की तरह आत्मीयों की प्रतारणा का नहीं। यही कटुता मधुमय कल्पना और 'मधुर पदावली' की जननी है।

✓प्रसाद की पदावली की दूसरी विशेषता है 'इन्द्रजाल'। प्रसाद प्रायः 'इन्द्रजाल', 'जादू', 'टोना', *'कुहक' आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं।* कविता में ही नहीं, कहानियों में भी इन शब्दों का वे निधड़क व्यवहार करते हैं। सृजनशील कल्पना के अनेक व्यापारों में से ऐन्द्रजालिक रचना भी एक है। यह कौशल छायावादी कवियों में प्रसाद के अतिरिक्त पंत में सब से अधिक है। अंतर इतना ही है कि जादू की दुनिया और ऐन्द्रजालिक वातावरण खड़ा करने में प्रसाद अतीत के चित्रों का भी सहारा लेते हैं जब कि पंत केवल बाल-कल्पना की तरह वर्तमान पर

ी ऊँची से-ऊँची उड़ान भरते हैं। 'आकाशदीप' कहानी-संग्रह की अधिकांश कहानियों में यह जादूगरी देखी जा सकती है। 'कामायनी' में प्रलय के बाद देव-सृष्टि की मीठी याद तथा त्रिपुर-मिलन और कैलास की अति-मानवीय चित्रकारी इसी इन्द्रजाल का नमूना है। सामंतयुगीन वैभव की पुनः सृष्टि कर के मायावी प्रभाव पैदा कर देना प्रसाद की पदावली की विशेषता है। कभी-कभी कञ्जर आदि जरायमपेशा जातियों की रूमानी जिन्दगी में भी प्रसाद यह असर पैदा कर जाते हैं।

प्रसाद का यह 'इन्द्रजाल' पंत से इस मामले में भिन्न है कि पंत का इन्द्रजाल जहाँ अधिक वायवी, सूक्ष्म, धुंधला और अस्पष्ट है, वहाँ प्रसाद का इन्द्रजाल अधिक मांसल, स्पष्ट, इन्द्रिय ग्राह्य और ठोस है। कारण साफ है। प्रसाद की अनुभूतियाँ पंत के विपरीत प्रौढ़ मन की हैं और उनका सम्बन्ध ऐसे पुरुष से है जिसने खुल कर यौवन के उपादानों का उपभोग किया है। इसलिए प्रसाद के ऐन्द्रजालिक चित्रों में भी स्पष्टता, मांसलता और ठोसपन है। फलतः इसकी सूचक पदावली भी आई है। यदि प्रसाद में अस्पष्टता भी आई है तो चित्रों में नहीं, बल्कि यौवन की अस्पष्ट अनुभूतियों का प्रतिबिम्ब बनकर। वयःसंधि की श्रद्धा में लज्जा सम्बन्धी अनुभूतियों तथा काम-पीड़ित मनु की आत्म-विस्मृति की पदावली ऐसी ही अस्पष्टता का सुन्दर उदाहरण है। एक नमूना—

"उन नृत्य-शिथिल निश्वासों की कितनी है मोहमयी माया,
जिनसे समीर छनता छनता बनता है प्राणों की छाया।
आकाश-रन्ध्र हैं पूरित से यह सृष्टि गहन-सी होती है;
आलोक सभी मूर्छित सोते, यह आँख थकी सी रोती है।

× × ×

श्रुतियों में चुपके चुपके से कोई मधु धारा घोल रहा;
इस नीरवता के परदे में जैसे कोई कुछ बोल रहा।"

शब्द वही हैं जो और लोग भी इस्तेमाल करते हैं लेकिन उनका संघटन मन पर जादू-सा कर जाता है। अनुभूति की पकड़ में पड़ते-पड़ते

ही सब आ जाता है किन्तु अर्थ बहुतों के लिए कुछ अस्पष्ट हो सकता है। प्रसाद की यह अस्पष्टता ऐसी है जिसे 'कहते न बने सहते ही बने, मन ही मन पीर पिरौबो करै।'

प्रसाद के शब्दकोश में सभी छायावादी कवियों की अपेक्षा आंगिक चेष्टाओं और प्रणय-लीलाओं सम्बन्धी पदावली अधिक मिलती है। विभ्रम, सम्भार, व्रीड़ा, अधरदंशन, नर्ममय उपचार आदि न जाने कितने क्रिया-व्यापार उनके यहाँ शब्दों में चित्रित हो उठे हैं। नारी की विविध चेष्टाओं का सूक्ष्म अंकन करने में प्रसाद ने अद्भुत पर्यवेक्षण शक्ति का परिचय दिया है। इसी तरह नाट्य और संगीत सम्बन्धी उपादानों और पारिभाषिक शब्दों को उपमा की तरह व्यवहृत करने में भी प्रसाद की रुचि अधिक देखी जाती है। इस क्षेत्र में निराला ही प्रसाद के निकट खड़े हो सकते हैं। मीड, मूर्च्छना, विपञ्ची आदि तो उनके यहाँ आम बात है; वहाँ पलकें भी झुकती हैं तो 'जवनिका' की तरह और मनु अपने को 'अधम पात्र-मय-सा विष्कंभ' अनुभव करते हैं।

प्रसंगगर्भत्व प्रसाद की पदावली का विशेष तत्त्व है। वैसे तो प्राचीन आर्षकाव्यों में प्रयुक्त शब्दों का जीर्णोद्धार निराला, पंत और महादेवी ने भी किया, लेकिन प्रसाद ने संभवतः सबसे अधिक किया। उनके नाटकों ने तो प्राचीन सामंतयुगीन सामाजिक जीवन के उपादानों का जीर्णोद्धार किया ही, उनकी कविताओं और कहानियों ने भी अनेक प्रसंगगर्भी शब्दों के द्वारा 'स्मृत्याभास कल्पना' को जाग्रत करने में योग दिया। उद्गीथ, सविता, क्रतु, पुष्पलावी, मंगलखील, भूमा, अर्चि, चषक, स्वर्णशालियों की कलमें, सौदामिनि संधि, कादम्बिनी, दिग्दाह, शिर्षा संधि, वात्या, वज्या, वन्या, कुल्या, शैलेय, अगरु, प्रालेय, अलक कबरी, रथनाभि, चमर, अलम्बुषा आदि अनेक शब्द विविध अनुषंगों से अनुस्यूत हैं। यदि कहीं अकेले प्रसाद के ही शब्दों का एक कोश बनाया जाय तो हिन्दी शब्दकोश में उनकी अमूल्य देन का ठीक-ठीक-

मूल्यांकन हो सके। निराला की तरह प्रसाद ने नये-नये शब्द नहीं गढ़े बल्कि उन्होंने पुराने प्रचलन-रुद्ध शब्दों को गतिशीलता प्रदान की।

कुल मिला कर प्रसाद की पदावली के विषय में यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि उससे हिन्दी भाषा समृद्ध हुई है। कुछ लोगों का यह अनुमान है कि वे मोहवश यों ही कुछ श्रुतिरंजक और नादानुकृत मधुर शब्दों को एकत्र कर देते थे जिससे कोई न कोई अर्थ निकल ही आता था। यह नितान्त भ्रम है। प्रसाद की आरम्भिक रचनाओं में यह प्रवृत्ति थोड़ी-बहुत हो सकती है किन्तु सतर्क कवि और लेखक प्रसाद में यह अंधमोह कहीं नहीं मिलता। उनके पद-चयन में क्रमिक विकास स्पष्ट रूप से लक्षित किया जा सकता है। 'बभ्रुवाहन' और 'उर्वशी' आदि गद्य खंडों से 'आकाशदीप' तक का विकास चंडीप्रसाद 'हृदयेश' से ठेठ छायावादी प्रसाद तक का विकास है। इसके बाद 'सालवती' तक जाते-जाते भाषा की अलंकृति वास्तविकता के अधिक निकट तथा यथार्थ से धुल उठती है। विकास की यह सोपान-पंक्ति नाटक और कविता में भी देखी जा सकती है।

अलंकृति-विधान भी पदावली से ही जुड़ा हुआ है। मोटे तौर से इस विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि 'आँसू' तक प्रसाद पुराने ढङ्ग के ही अलङ्कारों से लदे दिखाई पड़ते हैं और आगे भी वे सभी छायावादी कवियों से अधिक परिपाटी-विहित पाये जाते हैं।

लेकिन पदावली तो वाक्य की एकावली का एक मनका है। इसीलिए वाक्य-विन्यास को ही भाषा की इकाई माना जाता है। शैली की विशेषता वाक्यों की भंगिमा में ही देखी जा सकती है। जैसा कि प्रसाद ने स्वयं कहा है, समीप के शब्द भी उस शब्द-विशेष का नवीन अर्थ द्योतन करने में सहायक होते हैं। शब्द का वास्तविक अर्थ वाक्य की गति में ध्वनित होता है।

जब प्रसाद के वाक्य-गठन पर विचार करने चलते हैं तो छायावादी कवियों के बारे में कहा हुआ यह कथन याद आता है कि वे वाक्य

नहीं, शब्द लिखते थे। निःसन्देह छायावादी कवियों ने खड़ीबोली को कोमल काव्य के अनुकूल बनाने के लिए क्रियापदों का बहिष्कार किया। पंत ने तो 'है' को दो सींगो वाला कनक-मृग घोषित करके अपनी पचवटी के पास फटकने तक न दिया। संयुक्त क्रियाओं की रोकथाम तो और भी हुई। क्रिया-पदों का काम कृदन्तज विशेषणों से लिया जाने लगा। 'है' और 'था' को वाक्य में अन्तर्भुक्त मान लेने की प्रथा-सी चला दी गई। यह कार्य सभी छायावादियों ने किया। प्रसाद लिखते हैं—

"मधुर विश्रान्त और एकान्त
जगत का सुलझा हुआ रहस्य
एक करुणामय सुन्दर मौन
और चंचल मन का आलस्य!"

इससे खड़ीबोली की खरखराहट तो जरूर दूर हुई लेकिन उसके साथ उसकी जीवंतता भी चली गई। क्रिया-पदों के साथ उसकी क्रियाशीलता भी जाती रही। वह बोलचाल से दूर हो गई। वह गद्य से ही नहीं जीवन से भी दूर जा पड़ी। इस पर वैयाकरणों की कुढ़न उचित थी। कहना न होगा कि इस रोमैंटिक दौर मे भी वाक्य-गठन की दृष्टि से उर्दू कविता ने बोल चाल के गद्य का दामन न छोड़ा। सच कहे तो खड़ीबोली की कविता का भाषा की दृष्टि से स्वाभाविक विकास उर्दू शायरी मे ही मिलता है।

इस निष्क्रिय वाक्य-रचना की बीमारी छूआछूत से गद्य के दायरे में भी पहुँची। वहाँ क्रिया के अभाव में कृदन्तो ने 'कादम्बरी' के वाक्य-विन्यास का छोटा-मोटा उपनिवेश बसा दिया। निराला का 'वर्तमान धर्म' निबन्ध ऐसी ही भाषा के कारण 'साहित्यिक सन्निपात' कहा गया। पन्त के 'पल्लव' के 'प्रवेश' में भी इस शैली के नमूने काफी मिल सकते हैं। प्रसाद के 'उर्वशी', 'बभ्रु वाहन' आदि गद्य खण्डों में इनकी बहार है—

"यों ही पद-संचालन करते तथा चन्द्रिका में चमत्कृत चंचरीक मंजु गुंजित प्रफुल्ल पुष्पावली पर दृष्टिपात करते हुए युवक पथिक मालाकार के बताये स्थान पर सब वस्त्र और शस्त्र उतार कर संध्यावन्दन के लिए सरोवर के मुख्य तीर पर गया।"

ऐसे महावाक्य उन उदाहरणों की याद दिलाते हैं जिनमें एक ही वाक्य में आठों कारकों का प्रयोग दिखाया जाता है; लेकिन यहाँ तो पूर्वकालिक, वर्तमान कृदन्त आदि न जाने कितने प्रयोगों को एक ही वाक्य में जोत दिया गया है; भले ही उसे पढ़ते-पढ़ते पाठक का दम टूट जाय। लेकिन धीरे-धीरे प्रसाद में संस्कृत वाक्य-रचना की यह प्रवृत्ति कम हो गई। समासों में भी आरम्भ की 'कोकिल-कण्ठ-विनिर्गत-काकली' क्षिप्र और छिन्न हुई। फिर भी संस्कृत वाक्य-रचना का जितना प्रभाव प्रसाद पर है उतना निराला के आलोचनात्मक निबन्धों को छोड़ कर और किसी छायावादी कवि-लेखक में नहीं मिलता। महादेवी की चक्करदार तथा द्राविड़ प्राणायाम वाली वाक्य रचना कुछ इससे भिन्न है। उसमें नैय्यायिकों की उस सतर्कता की झलक है जो वाक्य को जगह-जगह मोड़ कर स्वरक्षात्मक गुमटी बना देती है।

फिर भी अपूर्ण वाक्य लिखने की जैसी कुटेव प्रसाद ने दिखाई वैसी अन्यत्र दुर्लभ है, विशेषतः कविता में। उनकी प्रौढ़तम कृति 'कामायनी' में भी इसके नमूने भरे पड़े हैं। जैसे—

१. मनन करावेगी तू कितना? उस निश्चित जाति का जीव।

२. कर रहा वंचित कहीं न त्याग तुम्हें, मन में धर सुन्दर वेश।

पहले उदाहरण में कर्त्ता-क्रिया दोनों गायब और दूसरे में सहायक-क्रिया ही नदारद। या तो कहीं 'हो' छूट गया है या 'तो'। त्याग तुम्हें कहीं वंचित न कर रहा हो' अथवा 'त्याग तुम्हें कहीं वंचित तो नहीं कर रहा है।'

अक्सर प्रसाद लम्बे वाक्य लिख जाते हैं लेकिन दो वाक्यों को जोड़ते समय पूर्वापर में काल-सम्बन्ध बैठाना भूल जाते हैं। जैसे—

१. *था* व्यक्ति सोचता आलस में, चेतना सजग *रहती* दुहरी।

२. करका क्रन्दन करती *गिरती* और कुचलना *था* उसका।

इसी तरह जहाँ 'हो सकता था' लिखने की ज़रूरत है वहाँ केवल 'हो सकता' से ही वे काम चलता करते हैं। 'था' के अर्थ में 'रहा' प्रयोग भी कामायनी में बहुत है। साधारण बोल चाल मे 'हम आए रहे', 'हम गए रहे' आदि प्रयोगों की तरह वे प्रयोग भी अशुद्ध माने जायँगे। 'चल' और 'जा' दो धातुओं से संयुक्त क्रिया बनाते समय प्रसाद प्रायः 'चल जा', 'चल जाती,' 'चल गई' आदि का निधड़क प्रयोग करते हैं जब कि वहाँ 'चली जा,' 'चली जाती' और 'चली गई' होना चाहिए।

ऐसे ही लुंज-पुंज वाक्यो के कारण प्रसाद के काव्य में अस्पष्टता की शिकायत प्रायः सुनने में आती है। कामायनी से ही उदाहरण लें—

१. उलझन प्राणो के धागो की सुलझन का समझूँ मान तुम्हें।

२. अवगुंठन होता आँखो का आलोक रूप बनता जितना।

३. हो चकित निकल आई सहसा जो अपने प्राची के घर से।
उस नवल चन्द्रिका से पिछले जो मानस की लहरो पर से॥

अन्वय की यह कठिनाई कभी-कभी 'दूरान्वय' के कारण भी होती है—

"उद्बुद्ध क्षितिज की श्याम *छटा* इस उदित शुक्र की छाया में,
ऊषा सा कौन रहस्य लिये *सोती* किरनों की काया में।"

'छटा' कर्त्ता की क्रिया 'सोती' कितने चक्कर के बाद मिलती है। ऐसी गड़बड़ी बहुत कुछ विराम-चिह्नों के भ्रान्त-प्रयोग के कारण भी हुई है।

'परिव्राजक की प्रजा' में अपने संस्मरणो के बीच श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी ने प्रसाद की भाषा के विषय में जो यह तथ्य लक्षित किया है, वह बहुत-कुछ ठीक है कि 'प्रसाद का गद्य विशृंखल और ऊबड़-खाबड़ था। उन्होने भाषा का अभ्यास नहीं किया था, भाव के आवेग

में उनके वाक्य प्रायः लुण्ड-मुण्ड शिलाखंडों की तरह लुढ़कते रहते थे।'

इतना होते हुए भी प्रसाद रुचिर गद्य के शिल्पी थे। भूसाभरी उनके यहाँ कहीं न मिलेगी। सर्वत्र उनकी शैली में एक प्रकार की अभिजात गरिमा मिलती है। तनिक भी ओछापन वहाँ नहीं है। उनकी स्थापना में तुंगता और वैभव है, तो विरोध और खंडन में भी भव्यता और ऊर्जस्विता। स्वच्छता उतनी नहीं जितनी उज्ज्वलता है। प्रायः लोगों ने उनके प्रसाद नाम का लाभ उठा कर उनकी शैली में प्रसाद-गुण बतलाया है, लेकिन यह कथावाचकी चमत्कार की अपेक्षा और कुछ नहीं है। प्रसाद की भाषा उतनी प्रसन्न और विशद नहीं है जितनी प्रसाद गुण के लिए होनी चाहिए। लालित्य उनके यहाँ अवश्य है; वर्णों की भास्वरता भी है; पदों के अनुरणन में हलकी मिठास से भरी मंजुल गूँज भी सुनाई पड़ती है। लेकिन सर्वत्र एकरस मध्ययुगीन मंथरता-सी है; क्षिप्रता बहुत कम है। उनमें निराला की भाषा-शैली की तरह विविधता नहीं है; नाटक, कहानी और उपन्यास सर्वत्र पात्रों की भाषा एक-सी है। हर जगह एक ही ज़बान चलती है और वह प्रसाद की है। लेकिन भाषा के इस किस्से पर प्रसाद के अपने व्यक्तित्व की इतनी गहरी छाप है कि उसे कोई अपने नाम से चलाते हुए तुरन्त पकड़ा जायगा। कुल मिला कर प्रसाद की भाषा-शैली में रचनात्मक संभावनायें न्यूनतम हैं। इसीलिए वह निर्वंश गई। 'रचनात्मक संभावना' तो उस युग के एक ही साहित्यकार की भाषा में थी और वे थे प्रेमचन्द!

MAHARANA BHUPAL COLLEGE LIBRARY No. 17507 UDAIPUR